शिव पुराण एक समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
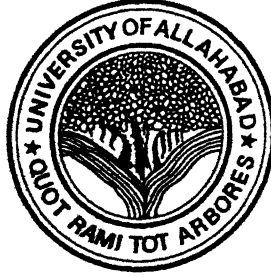
शोध-निर्देशक
डॉ० उमाकान्त यादव
रीडर, संस्कृत-विभाग

शोध-कर्ता
राजेश कुमार
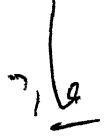
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

फरवरी 2003

प्रमाण-पत्र

*प्रमाणित किया जाता है कि राजेश कुमार ने मेरे निर्देशन में ''**शिव पुराण एक समीक्षात्मक अध्ययन**'' विषय पर शोध कार्य सम्पन्न किया है। यह शोध-प्रबन्ध शोध-छात्र के मौलिक परिश्रम का परिणाम है एवं संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ० प्र०) की डी० फिल्० की शोध-उपाधि हेतु मूल्याङ्कन योग्य है।*

स्थान : इलाहाबाद
दिनाङ्क : 5 मार्च, 03

(डॉ० उमाकान्त यादव)
शोध-निर्देशक
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध ''शिव पुराण एक समीक्षात्मक अध्ययन'' को विद्वत्-समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आज अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है। पुराणों पर अनुसंधान करने की मेरी बलवती इच्छा विद्यार्थी जीवन में ही जागृत हुई थी। यह एक संयोग की बात है कि समय आने पर मुझे शिव पुराण पर अनुसंधान करने का अवसर मिला।

धार्मिक साहित्य में लोक-प्रियता की दृष्टि से विशिष्टता को प्राप्त पुराणों का मुख्य उद्देश्य प्राचीन युगों की घटनाओं और परम्परागत ऐतिहासिक कथाओं को सरल तथा मनोरंजक शैली में वर्णन करना रहा है, जिससे साधारण जन उसे सुनकर, अपनी बुद्धि तथा स्थिति के अनुकूल लाभ उठा सकें। पुराणों के लक्षण, सर्ग-प्रतिसर्ग आदि जटिल एवं विवादग्रस्त विषयों के साथ, देवासुर-संग्राम आदि अनेक मनोरंजक कहानियों को जोड़कर तथा पुराण में मानव जीवन के उच्चादर्शों को प्रस्तुत करने का अथक प्रयास किया गया है। मानव-मस्तिष्क की ऐसी कोई भी कल्पना अथवा योजना नहीं है, जिसका निरूपण पुराणों में न हुआ हो।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में रीडर पद पर अभिषिक्त सम्मान्य गुरुवर्य डॉ० उमाकान्त यादव जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस विषय पर शोध-कार्य करने के लिए मूलतः प्रेरित किया है और जिनके चरणों में बैठकर मुझे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संस्कृत-विभाग के अन्य गुरुजनों में प्रो० चन्द्र भूषण मिश्र, प्रो० मृदुला त्रिपाठी, प्रो० राजलक्ष्मी वर्मा, डॉ० राम किशोर शास्त्री, डॉ० मंजुला जायसवाल का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे शोध सम्बन्धित अनेक सुझाव प्रदान किये हैं। मैं आभारी हूँ श्रद्धेय प्रो० हरीलाल वर्मा, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या, फैजाबाद का जिनके चरणों की शीतल स्नेहिल छाया में बैठकर ज्ञानार्जन का अवसर मिला।

मैं उन सभी भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों एवं मनीषियों के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, जिनके गौरवशाली, विपुलज्ञानसम्पदापूर्ण ग्रन्थों तथा विचारों का अनुशीलन करने का मुझे सौभाग्य एवं शुभावसर प्राप्त हुआ। उन वैदुष्यपूर्ण विद्वान् मनीषियों के चरणकमलों में श्रद्धासुमन अर्पित करता हूँ।

अपने पूज्य पिताजी श्री सती प्रसाद वर्मा एवं पूजनीया माताजी श्रीमती सुभद्रा वर्मा के सतत् संरक्षण, कृपा एवं अशीर्वाद से ही मैं यह ज्ञानयज्ञ पूर्ण कर सका हूँ। उनके प्रभूत आशीर्वाद की कामना निरन्तर करता हूँ। अपने अनुज विनय कुमार वर्मा के महत्त्वपूर्ण सहयोग के लिए मैं उन्हें अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

अपने सहयोगियों एवं शुभेच्छकों में स्वर्गीय आदित्य कुमार, श्री देव कुमार यादव, श्री दिनेश सिंह यादव, श्री राम अचल पाल, श्री राजेश यादव, श्री महेन्द्र कुमार, श्री आलोक श्रीवास्तव, श्री हरिशंकर, श्री विजयपाल वर्मा के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने यथावसर पुस्तकों एवं विचार विनमय द्वारा मेरे शोध-प्रबन्ध को सम्पुटित करने में सहयोग प्रदान किया है।

श्री ओम प्रकाश वर्मा, पत्राचार विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके कहने पर 'चन्द्रा प्रिंटिंग वर्क्स' के श्री अजय साहू ने अत्यन्त सावधानी पूर्वक मेरे शोध-प्रबन्ध का टंकण कार्य सम्पन्न किया है।

अन्त में पुन: अपने पूज्य गुरुवर डॉ० उमाकान्त यादव जी के प्रति नतमस्तक होकर अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की मूल प्रेरणा प्रदान की।

Rajesh Kumar
(राजेश कुमार)
शोध-कर्ता

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
20 फरवरी, 2003

अनुक्रमणिका

प्रथम : अध्याय

द्वितीय : अध्याय

तृतीय : अध्याय

चतुर्थ : अध्याय

पंचम : अध्याय

षष्ठ : अध्याय

सप्तम : अध्याय

अष्टम : अध्याय

नवम : अध्याय

दशम : अध्याय

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

1. 'पुराण' शब्द की निष्पत्ति
2. पुराणों का आविर्भाव
3. पुराणों का रचना-काल
4. पुराण-लक्षण
5. पुराणों का प्रतिपाद्य विषय
6. पुराणों की संख्या
7. शिव पुराण का महत्त्व
8. शिव पुराण का काल

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय साहित्य में पुराणों का एक विशेष स्थान है। इनमें भारतीय संस्कृति और धर्म के मूल तत्त्वों का लोकोपयोगी रूप में संकलन किया गया है। वास्तव में पुराणों की रचना का मूल उद्देश्य धर्म और अध्यात्म के गूढ़ तत्त्वों को सामान्य जनता के लिए सरल भाषा और सुगम शैली में उपस्थित करना था। वेद और उपनिषदों का ज्ञान मेधा-सम्पन्न विद्वानों तक सीमित रहा है और उसे प्राप्त करने के लिए वर्षों तक सुयोग्य आचार्यों के चरणों में बैठकर परिश्रमपूर्वक अध्ययन करना अनिवार्य था। फिर भी सभी इस गूढ़ धर्म और अध्यात्म को समझने में समर्थ नहीं होते थे। इस कठिन समस्या को हल करने के लिए पुराणों का प्रणयन हुआ, जिनमें एक नवीन साहित्यिक शैली का अवलम्बन करके रोचक कथाओं, प्रभावशाली दृष्टान्तों और कवित्वमय वर्णनों के रूप में वेदों और उपनिषदों के गहन सिद्धान्तों को उपस्थित करके उनको सर्व साधारण के लिए बोधगम्य बना दिया गया। इसी का यह परिणाम हुआ कि सामान्य बुद्धि और प्रतिभा के व्यक्ति भी धर्म के उच्च सिद्धान्तों को हृदयङ्गम करके अपने जीवन में नीति, सदाचार, परोपकार, उदारता आदि देव-दुर्लभ गुणों को चरितार्थ कर सके। जन-समूह में सामान्य बुद्धि के लोगों की अधिकता सदा से रही है और उनको समझाने के लिए अति-प्राचीन काल से कथा, कहानी, दृष्टान्त, रूपक, अलंकार आदि का प्रयोग होता आया है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए 'पद्म पुराण' में कहा गया है कि ब्रह्मा ने समस्त शास्त्रों से पहले पुराणों का स्मरण किया। ये संसार में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के उत्पादक एवं प्रचारक हैं —

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
उत्तमं सर्वलोकानां सर्वज्ञानोप देशकम्॥'

अथर्ववेद में कहा गया है कि ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद के साथ ब्रह्मा ने पुराणों

का भी आविर्भाव किया।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में पुराणों को पंचम वेद कहा गया है।[2] भागवत पुराण में भी इसे पंचम वेद की संज्ञा प्रदान करते हुए ईश्वर के सहस्त्रमुखों से रचित बताया गया है —

'इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एवं वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥'

पुराण भारतीय संस्कृति के भण्डागार हैं। इनमें भारत की सत्य और शाश्वत् आत्मा निहित है। ये भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के मेरूदण्ड हैं। इनके गम्भीर अध्ययन के बिना भारत के अतीत का ज्ञान अपूर्ण ही रह जाता है; साथ ही भारतीय जीवन का दृष्टिकोण भी पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो सकता। मनुष्य के गन्तव्य और पाथेय का ज्ञान नहीं हो सकता। इनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधिभौतिक सभी विद्याओं का विशद वर्णन है। लोक जीवन के सभी पक्ष इनमें भली-भाँति प्रतिपादित हैं। संसार में ऐसा कोई ज्ञान-विज्ञान नहीं, मानव मस्तिष्क की कोई ऐसी कल्पना एवं योजना नहीं, मनुष्य-जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं, जिसका निरूपण पुराणों में न हुआ हो, जिन विषयों को अन्य माध्यमों से समझने में बहुत कठिनाई होती है, वे बड़े रोचक ढंग से, सरल भाषा द्वारा आख्यान आदि के रूप में इनमें वर्णित हुए हैं।

धार्मिक दृष्टि से पुराणों का अत्यधिक महत्त्व है। ये सनातन धर्म के प्राण हैं। सनातन धर्म इनको वेदों के तुल्य आप्त और प्रामाणिक मानता है। 'वायु पुराण' के अनुसार पुराणों में बहुत से धर्मों का निरूपण हुआ है। यहाँ रागी, विरागी, यती, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा अन्यान्य संकर जातियों द्वारा विधेय धर्मों का वर्णन है।

---

1. अथर्ववेद - 11 : 7 : 24
2. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम् - छान्दोग्योपनिषद्

गङ्गा आदि महान् नदियां एवं विविध प्रकार के यज्ञों, तपों एवं व्रतों के नियम इनमें वर्णित हैं। अनेक प्रकार के दान एवं नियम, योग-धर्म, सांख्य-धर्म, भागवत-धर्म, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, वैराग्यमार्ग विविध उपासना, चित्त की संशुद्धि आदि का विधि-सहित वर्णन किया गया है। ब्राह्मण, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, आर्हत, षड्दर्शन आदि विविध विषयों का विवेचन भी पुराणों में किया गया है।[1] इसी से मिलती-जुलती सूची भागवत महापुराण, विष्णु महापुराण आदि में भी दी गयी है। दया, क्षमा, उदारता, परोपकार, सज्जनता, आपत्तियों का सहन, वीरता, धैर्य, धर्मनिष्ठा, सत्य का पालन आदि का जैसा सजीव और सहज वर्णन पौराणिक उपाख्यानों में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। स्वार्थ को त्यागकर पारमार्थिक जीवन व्यतीत करने की, गृहस्थी और परिवार के उत्तरदायित्वों का पालन करते हुए भी उच्च से उच्च त्यागमय जीवन व्यतीत करने की, नीच से नीच अवस्था में पहुँच जाने पर भी आन्तरिक निष्ठा और साधन के बल पर पुनः सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होने की जैसी प्रेरणायें पुराणों में मिलती हैं वे निःसन्देह अनुपम हैं। सामान्य बुद्धि के पुरुष भी, जो वेद, उपनिषद् एवं स्मृतियों के गूढ़ तत्त्वों के रहस्य को समझ सकने में असमर्थ हैं, पुराणों के द्वारा धर्म के मूल सिद्धान्तों और तदनुसार आचरण के नियमों को जानने में समर्थ हो सकते हैं। विन्टरनित्ज ने धार्मिक इतिहास की दृष्टि से पुराणों को अगणित मूल्य का बताया है — "धार्मिक इतिहास की दृष्टि से पुराण अगणित मूल्य के हैं और केवल इसी विषय के लिए ही इनका अध्ययन अब अपेक्षाकृत अधिक ध्यानपूर्वक होना चाहिए। हिन्दू धर्म के सभी अङ्गों और रूपों में अन्तर्दृष्टि के लिए अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इनके द्वारा कहीं अधिक सहायता मिलती है।"[2]

दार्शनिक दृष्टि से भी पुराणों की उपादेयता स्वयं सिद्ध है। पुराणों में विभिन्न भारतीय दार्शनिक विधाओं का परिचय मिलता है। उनमें अन्तर्निहित तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय

---

1. वायु पुराण - 104 : 1-17
2. विन्टरनित्ज, ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग 10, पृष्ठ 529

तत्त्वों का विवेचन सहज ढंग के किया गया है। विभिन्न पुराणों में ही पुराण के पाँच लक्षण - सृष्टि, प्रलय, राजवंश, मन्वन्तर, और वंशानुचरित प्रतिपादित किये गये हैं।[1] उनमें सृष्टि और प्रलय दार्शनिक विवेचन के विषय हैं। इसके साथ ही भौतिक सृष्टि, चेतन सृष्टि, स्थिति, पालन, कर्म और वासना का वर्णन, प्रलय और मोक्ष का निरूपण आदि भी पुराणों में वर्ण्य विषय के रूप में निहित है —

'सृष्टिचापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषां च पालनम्।
कर्मणां वासना वार्ता चामूनां च क्रमेण च।।
वर्णनं प्रलयानां च मोक्षस्य च निरूपणम्।
उत्कीर्तनं हरेरेव देवानां च पृथक् पृथक्॥'

यद्यपि भक्ति के दर्शन का विस्तृत विवेचन पुराणों में अन्तर्निहित है, फिर भी उसमें सांख्य दर्शन, योग दर्शन, शैव दर्शन, शाक्त दर्शन, वैष्णव दर्शन, तन्त्र एवं वेदान्त आदि दर्शनों का भी सम्यक् विवेचन है।

पुराणों का ऐतिहासिक महत्त्व धार्मिक महत्त्व की अपेक्षा कम नहीं है। पुराणों की दृष्टि ही भारतवर्ष के मनीषियों के विचार से सत्य इतिहास की पोषिका है। कलिवंशीय राजाओं का सच्चा वर्णन हमें पुराणों में ही उपलब्ध होता है, जिसकी पुष्टि आधुनिक ऐतिहासिक उपकरणों-शिलालेख, ताम्रलेख, मुद्रा आदि से भी भली-भाँति हो रही है। राजा परीक्षित् से लेकर पद्मनन्द तक का अज्ञात इतिहास पुराणों में ही मिलता है। पाश्चात्त्य विद्वान् पार्टिजर के 'एनसिएन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन' के अनन्तर भारतीय तथा विदेशी विद्वानों का ध्यान पुराणों की ऐतिहासिक सामग्री की ओर आकृष्ट हुआ है, जिससे इधर प्रकाशित ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्धकारपूर्ण काल को उज्ज्वल रूप से प्रकाशित करने में समर्थ

---

1. विष्णु पुराण - 3 : 6 : 24

हुए हैं। मौर्य-वंशावली के लिए विष्णु-पुराण, आन्ध्र-वंशावली के लिए मत्स्य-पुराण और गुप्त-वंशावली के लिए वायु पुराण अत्यन्त प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त पुराण तमाम ऐतिहासिक दस्तावेजों को प्रस्तुत करते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से भी पुराणों का विशेष महत्त्व है। इनमें प्राचीन भूगोल का एक वृहत् अंश उपस्थित होता है, जिसे 'भुवन-कोष' की संज्ञा दी जाती है। पुराणों में चतुर्दीपा, वसुमती, सप्तद्वीपा वसुमती, 18 द्वीप, 14 भुवन, क्षीर सागर आदि का भू-विभाजन तीर्थों, समुद्रों, नदियों, पर्वतों एवं भौगोलिक महत्त्व के स्थानों का यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। भारतवर्ष जम्बू द्वीप के नाम से जाना जाता था। इससे पहिले इसका नाम 'अजनाभ' था, जिसका शाब्दिक अर्थ है — अज (ब्रह्मा) की नाभि से उत्पन्न होने वाला और यह नाम आर्यों के मूल निवास को भारतवर्ष में प्रतिष्ठित होने का स्पष्ट संकेत करता है। शकद्वीप में शक लोगों का निवास था यह जिस क्षीर सागर के द्वारा चारों ओर से वेष्ठित है वही आज-कल का कैस्पियन सागर है। कुशद्वीप के निवासी 'कुसाइट्स' के नाम से महान् सम्राट डेरियस (दारा) के शिलालेखों में अनेकत्र उल्लिखित हैं। तात्पर्य यह है कि पुराणों का भूगोल कोई काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत वह ठोस भूतल पर अवस्थित है। इसी प्रकार पुराणों में वर्णित पाताल भी आज-कल का मेक्सिको तथा दक्षिणी अमेरिका है। आज भी मेक्सिको तथा पेरू में प्राचीन सभ्यता के जो चिह्न अवशिष्ट हैं वे भारतीय भौगोलिक तथ्यों से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। पुराण विशालकाय प्रासादों तथा महलों का निर्माण करने वाले पातालवासी 'मय' नामक असुर के संकेतों से भरे हुये हैं। फलत: यह 'मय' कोई काल्पनिक व्यक्ति न होकर जीते-जागते प्राणी थे, जो शिल्पकला के महनीय प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। साथ ही पुराण अन्य भौगोलिक तथ्यों की जानकारी के लिए महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

प्राचीन भारत का ज्ञान और विज्ञान, पशु तथा पक्षि-विज्ञान, वनस्पति तथा आयुर्वेद-सब एकत्र कर पुराणों में भर दिया गया है, जिसका परिणाम यह है कि पुराण विश्वविद्या के

कोष हैं। जिस प्रकार आज-कल विश्वकोष (इनसाइक्लोपीडिया) लिखने का प्रचलन है, जिससे विस्तृत विज्ञान संक्षेप में, शिक्षित जनता के ज्ञानवर्धन के लिए प्रस्तुत किया जाता है, उसी प्रकार अग्नि, नारद, गरुड आदि पुराणों की रचना ज्ञान-विज्ञान को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से की गयी है। पुराण जनता का ग्रन्थ है, विद्वानों का नहीं; व्यावहारिक सरल भाषा में रचित ग्रन्थ है, शास्त्रीय भाषा में नहीं। उसका उद्देश्य ही है ज्ञान को सुगम बनाना। आज-कल के 'पापुलर-एजुकेशन' की दृष्टि से इस विषय में पौराणिक दृष्टि का अनुगमन करती है।

'पुराण' शब्द की निष्पत्ति

आचार्य यास्क के निरूक्त (3, 19) के अनुसार पुराण की व्युत्पत्ति है, 'पुरा नवं भवति' (अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नवीन होता है)। नवीन इस अर्थ में कि पुराण में समय की गति के साथ नवीन बातों का भी समावेश होता चलता था। वह अत्यन्त पुरातन काल से अपने समय तक का सारा इतिहास अपने भीतर सँजोये रहता था। वह एक लम्बी अवधि का विश्वकोष होता था।

पुराण शब्द 'पुरा' पूर्वक 'अन्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के योग से बना है। 'पुरा' का अर्थ है-पूर्वकालिक अथवा प्राचीन। 'अन्' धातु का अर्थ है-श्वास लेना या जीवन धारण करना। अर्थात् प्राचीन काल से आज तक अपनी परम्परा की रक्षा करने वाला वाङ्मय पुराण है। दूसरे रूप में विस्तार से इसकी सिद्धि इस प्रकार से होगी - 'पुरा' अव्यय पूर्वक 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'ड' प्रत्यय करने के पश्चात् 'टि' का लोप तथा नकार के स्थान पर णत्व करने पर 'पुराण' शब्द सिद्ध होता है। 'पुरा + नी + ड'- ये तीनों अवयव मिलकर व्याकरण-शास्त्र के नियमानुसार 'पुराण' शब्द के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, अथवा 'पुराभवः' इस विग्रह में पुरा अव्यय से 'सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगे-ऽव्ययेभ्य-ष्ट्यु-ट्युलौ तुट् च'[1] इस सूत्र में 'ट्यु' प्रत्यय होने के बाद टकार की इत्संज्ञा और लोप हो जाने के बाद 'युवोरनाकौ'[2] से 'अन' और 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि'[3] से णत्व करके 'पुराण' शब्द बनता है। पाणिनीय व्याकरण की इस व्युत्पत्ति से पुराण साहित्य की ऐतिहासिकता सूचित होती है।

पुराण-साहित्य भारत की ऐतिहासिक धरोहर है। भारतीय जीवन के आदर्श, भारत की

---

1. अष्टाध्यायी - 4/3/23
2. अष्टाध्यायी - 7/1/1
3. अष्टाध्यायी - 8/4/2

सभ्यता एवं संस्कृति तथा भारत के विद्या-वैभव के उत्कर्ष का वास्तविक ज्ञान पुराणों से ही हो सकता है। पुराणों में ऐतिहासिक विवेचन मात्र न होकर उनमें विश्व-कल्याणकारी उन्नति का मार्ग भी प्रदर्शित किया गया है। प्राचीन कथानक, वंशावली एवं इतिहास के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान का उल्लेख भी पुराणों में प्राप्त होता है। पुराण शब्द की अनेक निरुक्तियाँ पुराणों में ही की गई हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार 'पुरा एतद् अभूत्' अर्थात् प्राचीन काल में ऐसा हुआ है।[1] यही पुराण शब्द का अर्थ है। वायु-पुराण के अनुसार 'जो प्राचीन समय में सजीव था, उसे पुराण कहते हैं।'[2] तथा 'प्राचीन परम्परा के प्रतिपादक ग्रन्थों को पुराण कहते हैं।'[3] पद्म पुराण में इसकी व्युत्पत्ति कुछ भिन्न है - ''पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो परम्परा की कामना करता है, वह पुराण कहा जाता है।[4]

इसके अतिरिक्त अन्य. विद्वानों ने भी पुराण शब्द की व्याख्या की है। मधुसूदन सरस्वती विश्व-रचना के इतिहास को पुराण की संज्ञा प्रदान करते हैं।[5] सायण संसार की उत्पत्ति और विकास-क्रम के बोधक को पुराण स्वीकार करते हैं।[6]

इन सभी व्युत्पत्तियों से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि पुराण भारत की ऐतिहाासिक धरोहर के साथ-साथ भारतीय जीवन के आदर्श, भारत की सभ्यता एवं संस्कृति तथा भारत के विद्या-वैभव के उत्कर्ष का प्रकाश-पुंज है जो विश्व-कल्याणकारी उन्नत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

---

1. यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
   निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ — ब्रह्माण्ड पुराण 1 : 1 : 173
2. यस्मात् पुरा हि अनति इदं पुराणम्। — वायु पुराण 1/203
3. पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्। — वायु पुराण 1/253
4. पद्म पुराण — 5 : 2 : 53
5. विश्वसृष्टेरितिहासः पुराणम्। -मधुसूदन सरस्वती, पुराणोत्पत्तिप्रसंग
6. जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्। - सायण, ऐ०बा० की भूमिका

पुराणों का आविर्भाव

पुराणों के आविर्भाव के सन्दर्भ में पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में अनेक सूत्र इतस्तत: प्रकीर्ण रूप में प्राप्त होते हैं। पुराणों के विकास में दो प्रकार की विचारधारायें परिलक्षित होती हैं —

1- व्यासपूर्व विचारधारा

2- व्यासोत्तर विचारधारा

वेदव्यास का मुख्य कार्य 'पुराण संहिता' का निर्माण करना था। फलत: उन्होंने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि के आधार पर 'पुराण संहिता' की रचना की।[1] इसके विपरीत कतिपय विद्वानों का कथन है कि पुराण प्राचीन समय में प्राकृत भाषा में थे; बाद में इनका संस्कृत में अनुवाद हुआ। यह विचार पार्जीटर, स्मिथ, रैप्सन, विण्टरनिट्ज तथा कुछ अन्य पाश्चात्यों के साथ उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों का भी है। इस विचारधारा का मूल कारण जैन पुराणों का प्राकृत भाषा में प्राप्त होना है, जबकि वास्तविकता यह है कि 'जैन पुराण' बहुत बाद में प्राकृत काल में लिखे गये। सनातन धर्म के परम्परागत पुराणों की ऐसी एक भी प्रति हस्तलिखित या प्रकाशित रूप में किसी पुस्तकालय में नहीं प्राप्त होती, जिससे पुराणों को सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में रचित माना जा सके। इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा संस्कृत से ही नि:सृत स्वीकार की जाती है — 'संस्कृत के ही विकृत रूप का नाम प्राकृत भाषा है। प्रकृति का अर्थ है - मूलभाषा अर्थात् संस्कृत। उससे निकली हुई भाषा को प्राकृत भाषा कहते हैं।'[2] इस सम्बन्ध में डा० राम जी तिवारी ने अपने शोध-प्रबन्ध में यह स्पष्ट किया है -

---

1. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि: कल्पजोक्तिभि:।
   पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारद:॥ — ब्रह्माण्ड पुराण 2 : 3 : 3
2. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास — डा० कपिलदेव द्विवेदी

'कदाचित् यह मान भी लिया जाए कि पहले भी कोई प्राकृत ग्राम्य भाषा रही होगी, तो भी आरम्भ में वह लिखने-पढ़ने की भाषा नहीं थी। यही कारण है कि पुराने नाटकों में प्राकृत का कोई स्थान नहीं दिखाई पड़ता। महानाटक, हनुमन्नाटक आदि इसके प्रमाण हैं। भविष्य पुराण के अनुसार भी गौडी, पाञ्चाली, मागधी, अर्धमागधी शौरसेनी आदि सभी प्राकृत-भेद कलियुग में ही प्रसृत हुए। अत: यह विचार सर्वथा भ्रामक एवं आधारविहीन है कि पुराण पहले प्राकृत भाषा में थे।'[1]

प्राचीन काल में 'पुराण' शब्द 'विद्या-विशेष' का वाचक था, क्योंकि प्राचीन काल के ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का ही प्रयोग मिलता है, 'पुराण-संहिता' का नहीं; फलत: यह शब्द किसी ग्रन्थ विशेष को न बतलाकर विद्या-विशेष को ही द्योतित करता है। पुराण के आविर्भाव को मत्स्य पुराण में वेद के आविर्भाव से पूर्ववर्ती बताया गया है। ब्रह्मा ने सब शास्त्रों में पुराण को ही प्रथम स्मरण किया और उसके पश्चात् उनके मुखों से वेद नि:सृत हुए-

''पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता:॥''[2]

यहाँ पर 'शतकोटिप्रविस्तम्' शब्द को किसी निश्चित् रूप का संकेत न मानकर पुराण के अनिश्चित या विप्रकीर्ण रूप का द्योतक माना जा सकता है। अत: पुराण शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में 'विद्या-विशेष' के लिए हुआ है। इसी लोक-प्रचलित, किन्तु अव्यवस्थित 'विद्या-विशेष' पुराण को एकत्र कर वेदव्यास ने 'पुराण-संहिता' का निर्माण किया। उसे पुराण-संहिता इसलिए कहते हैं; क्योंकि उसमें पुराण पद से अभिहित तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित सृष्टि-विद्या का एक स्थान पर संग्रह किया गया है। निर्माण के पश्चात् वेदव्यास

---

1. भविष्यपुराण एक अनुशीलन - डा० राम जी तिवारी
2. मत्स्य पुराण - 3 : 3-4

ने अपने शिष्य लोमहर्षण को वह संहिता पढ़ायी। लोमहर्षण ने सम्पूर्ण संहिता को पढ़कर उसे अपने छह शिष्यों 1-सुमति, 2-अनिग्नवर्चा, 3-मित्रायु, 4-शांशपायन, 5-अकृतव्रण, तथा 6-सावर्णि को पढ़ाया। इनमें से अन्तिम तीन ने अपनी-अपनी संहिताएं बनायी। इन तीनों में लोमहर्षण की संहिता को जोड़ देने पर चार पुराण-संहितायें निष्पन्न होती हैं।[1] आगे चलकर उन चारों संहिताओं में उल्लिखित कथाओं में भिन्नता आ गई। इसका कारण यह है कि समय-समय पर मुनियों की गोष्ठियों में उन पर चर्चा होती रही, जिसमें सात्त्विक, राजस तथा तामस उपासना के भेद से उसको भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित किया गया। फलत: मुख्य उद्देश्य में भिन्नता आ जाने से इतिहास और प्रबन्ध में भी भेद हो गया।[2] कालान्तर में आराध्य देव की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न नामों से पुराणों का प्रणयन हुआ।

---

1. विष्णु पुराण - 3/6/17-19 तथा
   अग्नि पुराण - 271/11-12
2. ब्रह्म पुराण की भूमिका - तारिणीश झा

पुराणों का रचना-काल

पुराण का उल्लेख अथर्ववेद, बृहदारण्यक, उपनिषद्, यास्क के निरुक्त, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, गौतम के धर्मसूत्र, महाभारत, मनुस्मृति, वाल्मीकीय रामायण, पतंजलि के महाभाष्य, आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में हुआ है। इससे सिद्ध है कि ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी से पहले कुछ पुराण अवश्य थे; क्योंकि आपस्तम्ब और गौतम के धर्मसूत्र ईसापूर्व पाँचवी शताब्दी के हैं। किन्तु सभी पुराण उस समय के नहीं हैं। सभी पुराणों की गणना भागवत पुराण में है। भागवत का रचनाकाल शंकराचार्य की तीसरी पीढ़ी में हुए चित्सुखाचार्य से पहले है; क्योंकि चित्सुखाचार्य ने भागवत पर एक टीका लिखी है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में वायु पुराण का नामोल्लेख किया है और कहा है कि उन्होंने वायु पुराण को अपने जन्मस्थान में सुना था। इससे सिद्ध है कि सभी पुराणों की रचना बाणभट्ट के पूर्व समाप्त हो गयी थी। अत: छठी शती ई० पू० से छठी शती ईसवी तक पुराणों का रचनाकाल माना जा सकता है।

पुराण-लक्षण

पुराणों में ही 'पुराण' के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। वहाँ स्वल्प शब्दान्तर से पुराण का निम्नलिखित पञ्चात्मक लक्षण प्राप्त होता है —

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।"[1]

अर्थात् 1-सर्ग, 2-प्रतिसर्ग, 3-वंश, 4-मन्वन्तर तथा 5-वंशानुचरित-पुराणों के ये पाँच लक्षण हैं। जगत् तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि को 'सर्ग' कहा जाता है। सृष्टि के विपरीत अर्थात् प्रलय तथा पुनः सृष्टिकरण को 'प्रतिसर्ग' कहा जाता है। देव, ऋषि तथा मनुष्यों की संतान-परम्परा का उल्लेख करना 'वंश' कहलाता है तथा सृष्टिक्रम की काल-गणना 'मन्वन्तर' में मानी जाती है। राजाओं के चरित्र-वर्णन को 'वंशानुचरित' कहते हैं।

---

1. यह श्लोक विष्णु पुराण (3/6/24), मत्स्य पुराण (53/64), मार्कण्डेय पुराण (137/13), देवी भागवत पुराण (1/2/18), शिव पुराण, वायवीय संहिता (1/14), अग्नि पुराण (1/14), ब्रह्मवैवर्त पुराण (131/6), स्कन्द पुराण, प्रभास खण्ड (2/84), ब्रह्माण्ड पुराण (1/38), भविष्य पुराण (1/2/5-6), इत्यादि अनेक स्थलों में प्राप्त होता है।

पुराणों का प्रतिपाद्य विषय

पुराणों में पुराण के सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुरचित-जो ये पाँच लक्षण प्राप्त होते हैं, उनके द्वारा पुराणों के प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश पड़ता है। विष्णु पुराण में पुराणों के प्रतिपाद्य विषय की सूची इस प्रकार दी गयी है—'भौतिक सृष्टि, चेतन सृष्टि, स्थिति, पालन, कर्म और वासना का वर्णन, प्रलय एवं मोक्ष का निरूपण, भगवान् और देवताओं का पृथक्-प्रथक् कीर्तन - ये ही पुराणों के वर्ण्य विषय हैं।'[1]

यदि पुराणों पर एक विहंगम-दृष्टि डाली जाय तो हमें प्रथमत: यह दृष्टिगोचर होता है कि प्रत्येक पुराण में किसी देव या देवी की उपासना का विवेचन है। जिस पुराण का जो इष्ट है उसी को सबसे बड़ी शक्ति के रूप में दर्शाया गया है तथा अन्य देवों से उसे श्रेष्ठ बतलाया गया है। सामान्यतया ब्रह्मा, विष्णु, महेश में से किसी एक को इष्टदेव के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही इष्ट की प्राप्ति के लिए व्रत, जप, उपवास, प्रार्थना, उपासना आदि के अतिरिक्त विविध अनुष्ठानों का विवेचन पुराणों में प्रदर्शित होता है। पुराणों में भक्तिमार्ग का प्रमुखता के साथ विवेचन है। इसमें सगुणोपासना पर विशेष बल दिया गया है। अवतारवाद, मूर्तिपूजा एवं देवी-देवताओं में अतिशय श्रद्धा की स्थापना पुराणों में प्रमुखता के साथ परिलक्षित होती है।

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का विवेचन भी लगभग सभी पुराणों में परिलक्षित होता है। इसके साथ ही देवों, ऋषियों और महर्षियों की वंशावली तथा उनका जीवनवृत भी

---

1. सृष्टिचापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषां च पालनम्।
   कर्मणा वासना वार्ता चामूनां च क्रमेण च।।
   वर्णनं प्रलयानां च मोक्षस्य च निरूपणम्।
   उत्कीर्तनं हरेरेव देवानां च पृथक् पृथक्॥ - विष्णु पुराण

वहाँ दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक मनु का नाम, उनका समय एवं तत्कालीन प्रमुख घटनाओं का विवेचन पुराणों को ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। वहाँ नन्द, मौर्य, शुंग, आन्ध्र और गुप्त आदि सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन भी उल्लिखित है। तीर्थों, भौगोलिक स्थानों एवं तीर्थयात्राओं आदि का वर्णन पुराणों के भौगोलिक पक्ष को इंगित करता है।

इसके अतिरिक्त दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आचार-शास्त्रीय महत्त्वपूर्ण विषयों का विश्लेषण बहुत ही सहज ढंग से पुराणों में प्रतिपादित है; साथ ही व्याकरण, काव्यशास्त्र, ज्योतिष, शरीर-विज्ञान, आयुर्वेद आदि शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विषयों से सम्बद्ध तथ्यों का संकलन भी पुराणों में प्राप्त होता है।

पुराणों की संख्या

सामान्यतया पुराणों की संख्या अठारह (अष्टादश) विद्वानों द्वारा मान्य है। शिव पुराण में भी पुराणों की संख्या अष्टादश ही स्वीकृत है।[1] इनके नाम इस प्रकार हैं —

1-ब्रह्म पुराण, 2-पद्म पुराण, 3-विष्णु पुराण, 4-शिव पुराण, 5-भागवत पुराण, 6-भविष्य पुराण, 7-नारद पुराण, 8-मार्कण्डेय पुराण, 9-अग्नि पुराण, 10-ब्रह्मवैवर्त पुराण, 11- लिङ्ग पुराण, 12-वाराह पुराण, 13-स्कन्द पुराण, 14-वामन पुराण, 15-कूर्म पुराण, 16-मत्स्य पुराण, 17-गरुड पुराण, 18-ब्रह्माण्ड पुराण।

अधिकांश पुराणों में पुराणों की यही नामावली दी गई है।[2] इन्हें महापुराण भी कहा जाता है। इन महापुराणों से 18 उपपुराण निकले हैं और उनसे 18 औपपुराण निकले हैं।[3]

उपपुराण

पुराणों के बाद उपपुराणों की रचना हुई। पुराणों की भाँति उपपुराणों की संख्या भी 18 मानी गई है। उपपुराणों में स्थानीय सम्प्रदाय एवं पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों की धार्मिक आश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। गरुड़ पुराणानुसार 18 उपपुराणों के नाम और क्रम इस प्रकार हैं—

---

1. दशधा चाष्टधा चैतत्पुराणमुपदिश्यते। शि०पु०, वा०सं०,पू०खं० 1-42
2. ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा।
   भविष्यं नारदीयं च मार्कण्डेयमतः परम्॥
   आग्नेयं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गं वाराहमेव च।
   स्कान्दं च वामनं चैव कौर्मं मात्स्यं च गारुडम्॥
   ब्रह्माण्डं चेति पुण्योऽयं पुराणानामनुक्रमः।
   शि०पु०, वा०सं०, पू०खं० 1 : 43-45 तथा शि०पु०, उ०सं०, 44 : 19-122
3. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास - डा० कपिलदेव द्विवेदी

(1) सनत्, (2) कुमार, (3) स्कान्द, (4) शिवधर्म, (5) आश्चर्य, (6) नारदीय, (7) कपिल, (8) वामन, (9) औशनस, (10) ब्रह्माण्ड, (11) वारूण, (12) कालिका, (13) माहेश्वर, (14) साम्ब, (15) सौर, (16) पाराशर, (17) मारीच, (18) भार्गव।

औपपुराण

उपपुराणों की भाँति औपपुराणों की संख्या भी अठारह ही है। औपपुराणों के नाम एवं क्रम इस प्रकार हैं—

(1) सनत्कुमार, (2) बृहन्नारदीय, (3) आदित्य, (4) मानव, (5) नन्दिकेश्वर, (6) कौर्म्म, (7) भागवत, (8) वशिष्ठ, (9) भार्गव, (10) मुद्‌गल, (11) कल्कि, (12) देवी, (13) महाभागवत, (14) बृहद्धर्म्म, (15) परानन्द, (16) पशुपति, (17) वह्नि, (18) हरिवंश।

इस प्रकार पुराण, उपपुराण एवं औपपुराण को मिलाकर कुल 54 ग्रन्थ 'पुराण' नाम से विख्यात है, इनमें लगभग 32 ग्रन्थ यत्र-तत्र प्रकाशित हो चुके हैं।

सम्प्रदायों के अनुसार पुराणों का विभाजन इस प्रकार है—

(क) शैव पुराण—(1) शिव, (2) भविष्य, (3) मार्कण्डेय, (4) लिंग, (5) वाराह, (6) स्कन्द, (7) मत्स्य, (8) कूर्म, (9) वामन, (10) ब्रह्माण्ड।

(ख) ब्राह्म पुराण—(1) ब्रह्मवैर्वत, (2) ब्रह्म, (3) ब्रह्माण्ड, (4) पद्म।

(ग) शक्ति पुराण—(1) देवीभागवत।

(घ) वैष्णव पुराण—(1) विष्णु, (2) भागवत।

शिव पुराण का महत्त्व

पुराणों में शिव पुराण का विशेष स्थान है। 24000 श्लोकों एवं 7 संहिताओं में निबद्ध इस महाग्रन्थ को परम श्रेष्ठ शास्त्र की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[1] यद्यपि 18 पुराणों में 10 पुराण शिव परक कहे गये हैं।[2], किन्तु शिव के नाम से अभिहित शिव पुराण तो अन्यतम ही है; क्योंकि भगवान् शिव त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश में श्रेष्ठ हैं। उनकी 'सर्वेश्वर' संज्ञा पुराणों में बहुतायत परिलक्षित होती है।[3] शिव पुराण—माहात्म्य खण्ड के प्रथम अध्याय में इसे भगवान् शिव के श्री मुख से निःसृत कहा गया है। कालान्तर में सनत्कुमार से उपदिष्ट होकर व्यास जी ने जनकल्याणार्थ इसका प्रणयन किया।[4] इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य—कलियुग में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों का परम हित—साधन प्रतिपादित है। व्यास जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि कलि-काल में मुक्ति का साधन शिव पुराण के अतिरिक्त कोई अन्य धर्म नहीं है—

''विशेषतः कलौशैवपुराणश्रवणादृते।
परो धर्मो न पुंसां हि मुक्तिसाधनकंमुने॥'[5]

कालरूपी महासर्प के विध्वंसक परमश्रेष्ठ इस ग्रन्थ में उसी व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, जिसने जन्म-जन्मान्तर में अत्यन्त श्रेष्ठ और पुण्य कर्मों को सम्पादित किया हो।[6] जो मनुष्य इस पुराण का श्रवण करते हैं वे मनुष्य नहीं, अपितु साक्षात् रूद्र रूप हो जाते हैं और उनका चरण-रज भी तीर्थ स्वरूप है—ऐसा मुनि-जनों का कथन है। इसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन

---

1. एतच्छिपुराणं हि परमं शास्त्रमुत्तमम्। शि० पु०, मा० 1 : 12
2. अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः। स्कन्द पुराण, केदारखण्ड।
3. शि० पु०, रु० सं०, स० ख० - 35 : 7
4. शि० पु०, मा० - 1 : 9
5. वही - 1 : 25
6. शि० पु०, मा० - 1 : 8-9

कर भक्त सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर अन्त में शिवलोक को प्राप्त कर लेता है।[1] अन्यत्र कहा गया है कि जो इस कथा का श्रवण करते हैं उन्हीं का जन्म लेना सार्थक है और वे इस कथा के माध्यम से निश्चित रूपसे संसार-सागर से पार हो जाते हैं।[2] यह कथा परम पवित्र करने वाली कही गयी है[3], जो चतुर्वर्गप्रदात्री[4] त्रितापनाशिका[5] सुखदात्री[6] अत्मज्ञान प्रदान करने वाली तथा भवरोग-निवारण करने वाली है।

शिव पुराण का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए, महर्षि शौनक के प्रति, सूत जी का कथन है कि राजसूय यज्ञ या सौ अग्निष्टोम से जो पुण्य प्राप्त होता हैवह शिव जी की इस कथा को सुनने मात्र से ही मिल जाता है। इसका श्रवण मनुष्यों के लिए कल्प वृक्ष के समान फलदायी होने के साथ-साथ उसे कुल सहित अजर-अमर कर देता है।[7] यह ग्रन्थ अपनी श्रेष्ठता के कारण ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवताओं के लिए प्राणों के समान प्रिय है। इसी कारण इसे समस्त पुराणों के भाल का तिलक स्वीकार किया गया है।

शिव पुराण की विषय-वस्तु पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि यह ग्रन्थ शिव की भक्ति का प्रचार करके लोगों में परमार्थ की भावनायें जागृत करने के निमित्त रचा गया है, जिसमें भारतीय संस्कृति और धर्म के मूल तत्त्वों का लोकोपयोगी रूप में संकलन है। इसकी सरल भाषा और सुगम शैली में शिव का चरित्र परम त्याग, तपस्या, परोपकार, दीनवत्सलता आदि गुणों से युक्त चित्रित है; साथ ही दया, क्षमा, उदारता, सज्जनता,

---

1. शि० पु०, मा० - 1 : 13-15
2. वही - 7: 48, 49
3. एतच्छिवपुराणस्य कथा परमपावनी। शि० पु०, मा० - 1 : 29
4. चतुर्वर्गप्रदं शैवं पुराणममलं परम्। वही - 1 : 48
5. तापत्रयाभिशमनंसुखदंसदैव प्राणप्रियं विधिहरीशमुखामराणाम्। वही - 1 : 50
6. सेवनीयं प्रयत्ने परत्रेह सुखेप्सुना। वही - 1 : 47
7. शि० पु०, मा० - 1 : 16, 24, 26

धर्मनिष्ठा, सत्य, व्रत आदि नैतिक गुणों का सहज रूप में चित्रण है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट पात्रों के माध्यम से स्वार्थ को त्यागकर पारमार्थिक जीवन व्यतीत करने, गृहस्थ एवं परिवार के उत्तरदायित्वों का पालन करते हुए भी उच्च से उच्च त्यागमय जीवन व्यतीत करने, नीच से नीच अवस्था में, पहुँच जाने पर भी आन्तरिक निष्ठा और साधन के बल पर पुनः उत्कृष्ठ पद पर प्रतिष्ठित होने जैसी प्रेरणायें शिव पुराण में परिलक्षित होती हैं।

सात संहिताओं में निबद्ध शिव पुराण की प्रथम संहिता 'विद्येश्वर' में सर्वप्रथम कलियुग में पापों की घोर वृद्धि तथा आचार-विचार के नष्ट होने का वर्णन करके परित्राण पाने के लिए शिव-भक्ति का उपदेश किया गया है। शिव पुराण की कथा को प्रकट करने वाली द्वितीय रूद्र-संहिता है। उसके प्रथम 'सृष्टि-खण्ड' में जगत् के आदि कारण निर्गुण ब्रह्म का, तदनन्तर उसके साकार शिव तथा आद्य शक्ति (माया) के आविर्भाव का, तत्पश्चात् शिव के द्वारा विष्णु तथा विष्णु से ब्रह्मा की उत्पत्ति का वर्णन है। रूद्र-संहिता का दूसरा भाग 'सती-खण्ड' है। इसमें सती के जन्म, शिव जी के साथ विवाह और अन्त में दक्ष के यज्ञ में देह-त्याग करने की कथा विस्तार पूर्वक कही गई है। रूद्र-संहिता के तीसरे भाग 'पार्वती-खण्ड' में पार्वती द्वारा शिव के साथ विवाह करने के दृढ़ निश्चय और उनके अभूतपूर्व तप की कथा का विशद वर्णन है। चौथे 'कुमार-खण्ड' में स्कन्द के जन्म तथा पालन-पोषण एवं पाँचवें 'युद्ध-खण्ड' में शिव जी द्वारा अनेक दैत्यों के वध का वर्णन किया गया है। तृतीय 'शतरुद्र-संहिता' में शिव जी द्वारा जगत् में किये गये अनेक चरित्रों का वर्णन है जिनको पुराणकार ने शिव का अवतार कहा है। इसमें हनुमान् जी को शिव का अवतार स्वीकार किया गया है। समुद्र-मन्थन के समय देवताओं का अहंकार दूर करने वाले यक्षेश्वर को यहाँ शिव ही माना गया है। चतुर्थ 'कोटि रुद्र-संहिता' में शिव के द्वादश लिंगों का वर्णन है जो देश के विभिन्न भागों में स्थापित हैं और जिनकी अर्चना कर भक्त अपने को धन्य मानते हैं। पंचम 'उमा-संहिता' में विभिन्न पापों तथा उनके दण्ड-स्वरूप मिलने वाले नरकों की यातनाओं का विस्तार से वर्णन किया

गया है। षष्ठ 'कैलास-संहिता' में योगशास्त्र के आसन, प्राणायाम, जप, ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाने का मार्ग-दर्शन है। सप्तम 'वायु-संहिता' में विस्तार के साथ निर्गुण और सगुण ब्रह्म का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि शिव द्वारा साकार रूप में मनुष्यवत् किये गये कार्यों से उनके 'परब्रह्म' होने में कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

शिव पुराण का काल

शिव पुराण की कैलास-संहिता के सोलहवें तथा सत्रहवें अध्याय में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के विशद विवेचन के अवसर पर 'शिवसूत्र' के दो सूत्रों—चैतन्यमात्मा' एवं 'ज्ञानं बन्धः' का तथा तत्सम्बद्ध 'वार्तिक' का स्पष्ट निर्देश किया गया है।[1] 'शिव सूत्र' एवं उस पर लिखित 'वार्तिक' का काल क्रमशः नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध तथा दशवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।[2] शिव पुराण में शिव सूत्र का उल्लेख एकाधिक स्थलों पर हुआ है।[3] अलबरूनी (1030 ई०) भी पुराणों के उद्धरण के प्रसंग में शिव पुराण का उल्लेख करता है।

इसके अतिरिक्त शिव पुराण की कोटिरूद्र-संहिता में महर्षि गौतम,जो एक ऋषि थे की कथा वर्णित है।[4] उनका कुछ ऋषियों से कलह चल रहा था। कुछ समय के अनन्तर उन ऋषियों के षड्यंत्र के कारण गौतम को अपना आश्रम छोड़ना पड़ा। उनका यह आश्रम दक्षिण दिशा में 'ब्रह्मगिरि' पर्वत पर था। बाद में गौतम को जब इस षड्यन्त्र का पता चला तो उन्होंने उन लोगों को शाप देते हुये कहा—"मुझ शिव भक्त को दुःख देने वाले तुम सब दुरात्मा हो। तुम सब वेद विमुख होओगे। आज से तुम लोगों के मस्तक मृत्तिका से लिप्त हुआ करेंगे और इसी कारण तुम लोगों को नरक यातना भी भोगनी पड़ेगी। उसके बाद तुम सब दुःख-दारिद्रय से पीड़ित, दूसरे की निन्दा करने वाले, शठ, चाण्डाल होओगे। तुम्हारा शरीर तप्त मुद्रा से अंकित होगा।"[5] महर्षि के इस शाप को सुनकर शैव धर्म-बहिष्कृत, खिन्न हृदय वे सम्पूर्ण ऋषि

---

1. शि० पु०, कै० सं०- 16 : 44-46।
2. 'पुराण विमर्श' का 105वाँ पृष्ट।
3. मूलविद्या शिवं शैवं सूत्रं पंचाक्षरं तथा शि० पु०, वा० सं०, उ० ख० - 13 : 5।
4. शि० पु०, को० रु० सं० - 27 : 35।
5. वही- 27 : 35, 38, 43।

'कांची' नगरी में जाकर निवास करने लगे।[1]

निश्चय ही यह कथा वैष्णव ऋषि रामानुज एवं उनके अनुयायियों की ओर स्पष्ट संकेत करती है। रामानुज के जीवन का उत्तरार्द्ध 'कांची' में ही व्यतीत हुआ था। अत: उनके मत के अनुयायियों का वह नगरी केन्द्र मानी जाती है। बाल में मृतिकालेपन, तप्त मुद्रा से शरीर को अंकति करना आदि बातें रामानुज सम्प्रदाय की विशेषता है।

दक्षिण भारत में शैवों एवं वैष्णवों (विशेषत: रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायियों) में एक लम्बी अवधि तक संघर्ष चलता रहा। रामानुज का कालबारहवीं शताब्दी माना जाता है। अत: शिव पुराण का उत्तर काल तेरहवीं शताब्दी मानना ही उपयुक्त होगा।

1. शि० पु०, को०रु०सं० - 27 : 45।

द्वितीय अध्याय

शिव पुराण की कथावस्तु

1. विद्येश्वर-संहिता
2. रुद्र-संहिता
3. शतरुद्र-संहिता
4. कोटिरुद्र-संहिता
5. उमा-संहिता
6. कैलास-संहिता
7. वायवीय-संहिता

शिव पुराण की कथावस्तु

शिव पुराण के जो संस्करण आज उपलब्ध हैं वे सात संहिताओं में विभक्त हैं। प्रारम्भ में शिव पुराण के माहात्म्य का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात्-विद्येश्वर-संहिता, रुद्र-संहिता, शतरुद्र-संहिता, कोटिरुद्र-संहिता, उमा-संहिता, कैलास-संहिता एवं वायवीय-संहिता—इन सात संहिताओं में सुव्यवस्थित ढंग से शिव पुराण की कथावस्तु का संयोजन किया गया है। इस पुराण की विद्येश्वर-संहिता में उल्लेख है कि प्रारम्भ में विद्येश्वर, रुद्र, विनायक, उमा, मातृ, एकादशरुद्र, कैलास, शतरुद्र, कोटिरुद्र, सहस्रकोटिरुद्र, वायवीय और धर्म—ये बारह संहितायें थी।[1] ये संहितायें एक लाख श्लोकों में निबद्ध थीं।[2] कालान्तर में व्यास जी ने इनका संक्षेप करके शिव पुराण को सात संहिताओं में निबद्ध किया। यह सारगर्भित संस्करण चौबीस हजार श्लोकों से युक्त है।[3]

ग्रन्थ के आरम्भ में शिव पुराण-माहात्म्य का विवेचन सात अध्यायों में किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम शौनक जी के साधन-विषयक प्रश्न करने पर सूत जी द्वारा उन्हें शिव पुराण की उत्कृष्ट महिमा का श्रमण कराने का वर्णन है।[4] इसके पश्चात् प्रतिष्ठानपुर (झूँसी-प्रयाग) के शिवालय में शिव पुराण की कथा के श्रवण से किरात-नगर-वासी पथभ्रष्ट ब्राह्मण देवराज को शिवलोक की प्राप्ति[5], वाष्कल-ग्राम-निवासी अधम ब्राह्मण बिन्दुग एवं उसकी पत्नी चञ्चुला द्वारा गन्धर्वराज तुम्बुरू से विन्ध्य पर्वत पर शिव पुराण की कथा सुनकर शिवधाम की प्राप्ति[6]

---

1. शि० पु०, वि०, सं० - 2 : 49-51
2. वही - 2 : 55
3. वही - 2 : 59
4. शि० पु०, मा० अध्याय 1
5. शि० पु०, मा०
6. वही

तथा अन्त में शिव पुराण के श्रवण की विधि एवं श्रोताओं के पालन करने योग्य नियमों का विवेचन है।[1]

शिव पुराण–माहात्म्य के विवेचन के पश्चात् व्यास जी ने 456 अध्यायों में वर्ण्य–विषय के अनुसार सप्त संहिताओं के माध्यम से इस ग्रन्थ की कथावस्तु को बहुत ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है, जिसमें परात्पर परब्रह्म परमेश्वर के शिव–स्वरूप का तात्त्विक विवेचन, रहस्य, महिमा एवं उपासना का सुविस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक मान्यताओं का बहुत ही सहज ढंग से विवेचन किया गया है। संहिताओं के क्रम में शिव पुराण की कथावस्तु का विवेचन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

---

1. शि० पु०, मा०

विद्येश्वर-संहिता

आद्यन्तमङ्गलमजातसमानभाव-
मार्यं तमीशमजरामरमात्मदेवम्।
पञ्चाननं प्रबलपञ्चविनोदशीलं
सम्भावये मनसि शंकरमम्बिकेशम्॥[1]

विद्येश्वर-संहिता के प्रथम अध्याय के मंगल श्लोक में अम्बिकापति भगवान् शंकर की स्तुति के उपरान्त ब्रह्मलोक के मार्ग परम पुण्य प्रयाग में महातेजस्वी महाभाग महात्मा मुनियों द्वारा ज्ञानयज्ञ के आयोजन में पौराणिक-शिरोमणि व्यास-शिष्य रोमहर्षण सूत जी के आगमन पर महामुनियों द्वारा चारों वर्णों के, स्वधर्म त्यागकरअनेक-कुकर्मरत, पथभ्रष्ट, कलियुगी स्त्री-पुरुषों के उद्धार-हेतु संक्षिप्त उपाय के विषय में प्रश्न एवं पुराण-विद्या-श्रवण की अभिलाषा का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय में समस्त पाप राशियों के नाशक के रूप में शिव पुराण को इंगित किया गया है, साथ ही शिव पुराण का परिचय एवं उसकी विशिष्टता का चित्रण है। वहाँ इसे वेद के तुल्य प्रामाणिक एवं सबसे उत्कृष्ट गति प्रदान करने वाला, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का प्रदाता, त्रिविध पापों का नाशक एवं समस्त जीव-समुदाय का उपकारक आदि कहा गया है।

तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में साध्य-साधन आदि का विचार तथा श्रवण, कीर्तन एवं मनन इन तीन साधनों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ शिवपद की प्राप्ति ही साध्य है और श्रवण, कीर्तन और मनन साध्य के ये तीन महान् साधन हैं। पाँचवें और छठें अध्यायों में श्रवण, कीर्तन और मनन—इन तीनों साधनों के अनुष्ठान में असमर्थ लोगों के लिए

---

1. शि० पु०, वि० सं० - 1 : 1

शिव के लिङ्ग एवं मूर्ति की पूजा का विधान है। सातवें अध्याय में ब्रह्मा और विष्णु के विवाद एवं युद्ध का वर्णन है, जिसमें दोनों स्वयं को एक दूसरे से श्रेष्ठ बतलाते हैं। देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् शिव ने भैरव को भेजकर युद्ध को नियन्त्रित किया तथा महा अग्नि-स्तम्भ के समान, महा भयंकर आकृति के समान, उन दोनों के बीच में निर्गुण ब्रह्म के रूप में स्थित हुए।

आठवें और नौवें अध्यायों में शिवजी ने ब्रह्मा-विष्णु से महाशिवरात्रि के व्रत के महाफल का निरूपण किया है। भगवान् शिव ने स्वयं कहा है कि जो फल निरन्तर एक वर्ष पूजन करने से मिलता है, वह एक शिवरात्रि के दिन मेरा पूजन करने से प्राप्त होता है। दसवें अध्याय में पञ्च कृत्यों तथा ओंकार का उपदेश किया गया है। यहाँ सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह—ये पाँच जगत् के कृत्य वर्णित हैं, जिन्हें नित्य स्वीकार किया गया है। इन्हीं पञ्च कृत्यों को धारण करने के कारण शिव के पाँच मुख हैं।

ग्यारहवें अध्याय में शिवलिङ्ग की स्थापना, पूजन एवं दान आदि के विषय में विस्तृत वर्णन है। शिवलिङ्ग का प्रमाण बारह अंगुल उत्तम माना गया है, जिसके पूजन, अर्चन एवं दर्शन से विभिन्न प्रकार के मुक्तिदायक फलों का वर्णन है। बारहवें अध्याय में शिव-क्षेत्र का विवेचन है, जिसमें पृथ्वी का प्रमाण 50 करोड़ योजन शैल, वन, कानन सहित बताया गया है। इस शिव-क्षेत्र में व्याप्त गंगा, शोणभद्र, नर्मदा, रेवा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि पवित्र नदियों में स्नान दान, दर्शन से पुण्य, ऐश्वर्य की प्राप्ति एवं कायिक, वाचिक एवं मानसिक पापों के नाश की चर्चा की गयी है।

विद्येश्वर संहिता के तेरहवें अध्याय में सदाचार, शौचाचार, स्नान, भस्म धारण, संध्यावन्दन, प्रणव-जप, गायत्री-जप, दान, न्यायतः धनोपार्जन के अतिरिक्त अग्निहोत्र आदि की विधि एवं महिमा का विवेचन किया गया है। चौदहवें अध्याय में अग्नियज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ आदि का वर्णन है तथा भगवान् शिव के द्वारा सातों वारों (दिनों) का निर्माण एवं

उनमें देवाराधन से विभिन्न प्रकार के फलों की प्राप्ति का कथन है। पन्द्रहवें अध्याय में देश, काल, पात्र और दान आदि का विचार किया गया है। सोलहवें अध्याय में पृथ्वी आदि से निर्मित देव-प्रतिमाओं के पूजन की विधि उनके लिए नैवेद्य का विचार, पूजन के विभिन्न उपचारों का फल, विशेष मास, वार, तिथि एवं नक्षत्रों के योग में पूजन का विशेष फल तथा लिङ्ग के वैज्ञानिक स्वरूप का विवेचन किया गया है। सत्रहवें अध्याय में षड्लिङ्ग स्वरूप प्रणव का महात्म्य तथा उसके सूक्ष्म रूप (ॐकार) और स्थूल रूप (पञ्चाक्षर मन्त्र) का वर्णन, साथ ही इनके जप की विधि एवं महिमा का भी दिग्दर्शन यहाँ प्राप्त होता है। इसी अध्याय में शिवलोक के अनिर्वचनीय वैभव का निरूपण तथा शिवभक्तों के सत्कार की महत्ता का भी कथन है।

अठारहवें अध्याय में बन्धन और मोक्ष के स्वरूप का विवेचन है। लिङ्ग आदि में शिव पूजन का क्या विधान है इसे स्पष्ट करते हुए भस्म के स्वरूप का निरूपण और उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। उन्नीसवें एवं बीसवें अध्यायों में पार्थिवलिङ्ग के निर्माण की रीति तथा वेद-मन्त्रों द्वारा उसकी पूजन—विधि का वर्णन किया गया है। इक्कीसवें तथा बाईसवें अध्यायों में पार्थिव पूजा की महिमा, शिव-नैवेद्य-भक्षण के विषय में निर्णय तथा बिल्व का माहात्म्य, चौबीसवें अध्याय में भस्म-माहात्म्य तथा पचीसवें अध्याय में रुद्राक्ष-माहात्म्य तथा उसके विविध भेदों का विवेचन है। अन्त में विद्येश्वर-संहिता को सम्पूर्ण सिद्धियों को प्रदान करने वाली तथा भगवान् शिव की आज्ञा से नित्य मोक्ष प्रदान करने वाली कहा गया है।[1] इस तरह साध्य-साधन खण्ड नामवाली विद्येश्वर-संहिता की विषय-वस्तु वर्णित की गयी है।

---

1. शि० पु०, वि० सं० - 25 : 95

रुद्र-संहिता

शिव पुराण की सबसे बड़ी और शिव-परिवार की कथा को प्रकट करने वाली रूद्र-संहिता है। 197 अध्यायों में निबद्ध इस संहिता के सृष्टि, सती, पार्वती, कुमार और युद्ध ये पाँच खण्ड हैं। इस संहिता में शिव के परम स्वरूप, शिव और पार्वती के दिव्य चरित्र, निर्गुण महेश्वर लोक में सगुण रूप कैसे धारण करते हैं? सृष्टि के पूर्व भगवान् शिव किस प्रकार अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं? सृष्टि के मध्यकाल में किस प्रकार व्यवहार करते हैं? सृष्टि के अन्त में वे किस रूप में स्थित रहते हैं? ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्राकट्य की कथा तथा उनके विशेष चरित्रों के वर्णन के अतिरिक्त उमा के आविर्भाव, उनके विवाह की कथा एवं गार्हस्थ्य धर्म आदि का विवेचन है।

सृष्टि-खण्ड के प्रथम पाँच अध्यायों में नारद-मोह-प्रसंग, माया निर्मित नगर में शीलनिधि की कन्या पर मोहित हुए नारद जी का भगवान् विष्णु से उनका रूप माँगने, भगवान् विष्णु का अपने रूप के साथ उन्हें वनार का सा मुँह प्रदान करने, फलस्वरूप कन्या द्वारा नारद का वरण न कर भगवान् विष्णु का वरण करने तथा कुपित नारद का भगवान् विष्णु सहित शिवगणों को शाप देने और माया के दूर हो जाने पर नारद के पश्चाताप पूर्वक भगवान् के चरणों में गिरने और शुद्धि का उपाय पूछे जाने पर भगवान् विष्णु द्वारा शिव-माहात्म्य के ज्ञान-हेतु ब्रह्म जी के पास भेजने, नारद जी द्वारा शिव तीर्थों में भ्रमण तथा ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा जी से शिव तत्त्व के विषय में जिज्ञासा करने आदि का विवेचन है।

छठें अध्याय में महाप्रलय काल में सद्ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन, उस सद्ब्रह्म से ईश्वर-मूर्ति (सदाशिव) के प्राकट्य, सदाशिव द्वारा स्वरूपभूता शक्ति (अम्बिका) के प्रकटीकरण, सदाशिव एवं अम्बिका के द्वारा शिवलोक के निर्माण, शिव के वामाङ्ग से परम पुरुष (विष्णु) के आविर्भाव तथा उनके सकाश से प्राकृत तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन है।

सातवें अध्याय में भगवान् विष्णु की नाभि से कमलके प्रादुर्भाव, शिवजी की इच्छा से ब्रह्मा जी के प्रकट होने, कमलनाल के उद्गम का पता लगाने में असमर्थ ब्रह्मा के तप करने तथा हरि का उन्हें दर्शन देने आदि का विवेचन है। आठवें अध्याय में ब्रह्मा और विष्णु को भगवान् शिव के शब्दमय शरीर के दर्शन का वर्णन है। नौवें अध्याय में उमा सहित भगवान् शिव के प्रकट होने एवं अपने स्वरूप का विवेचन करने तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीनों देवताओं की एकता का प्रतिपादन किया गया है। दसवें अध्याय में भगवान् शिव द्वारा श्री हरि को सृष्टि की रक्षा का भार एवं भोग-मोक्ष-दान का अधिकार प्रदान कर उनके अन्तर्हित होने का कथन है।

ग्यारहवें अध्याय में शिव पूजन की विधि तथा फल का विवेचन करके बारहवें अध्याय में भगवान् शिव की श्रेष्ठता तथा उनके पूजन की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। तेरहवें अध्याय में शिव पूजन की सर्वोत्तम विधि का वर्णन है, जिसमें आवाहन, अर्ध्यमन्त्र, पुष्पाञ्जलि-मन्त्र, विसर्जन आदि का विशेष उल्लेख किया गया है। चौदहवें अध्याय में विभिन्न पुष्पों, अन्नों तथा जलादि की धाराओं से शिव जी की पूजा का माहात्म्य दर्शाया गया है।

पन्द्रहवें अध्याय में सृष्टि का वर्णन तथा सोलहवें अध्याय में मनु, शतरूपा, ऋषियों और दक्ष-कन्याओं की सन्तानों का वर्णन तथा सती एवं शिव की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। सत्रहवें से उन्नीसवें अध्यायों में यज्ञदत्त-कुमार को भगवान् शिव की कृपा से कुबेर पद की प्राप्ति तथा उनकी भगवान् शिव के साथ मैत्री का वर्णन है। अन्तिम बीसवें अध्याय में भगवान् शिव का कैलास पर्वत पर गमन तथा सृष्टि-खण्ड के उपसंहार का कथन है।

सती-खण्ड

रुद्र-संहिता का दूसरा भाग सती-खण्ड है। सती-खण्ड में कुल 43 अध्याय हैं। प्रथम और द्वितीय अध्यायों में नारद जी के प्रश्न और ब्रह्मा जी के द्वारा उनका उत्तर, सदाशिव से

त्रिदेवों की उत्पत्ति तथा ब्रह्माजी से देवता आदि की सृष्टि के पश्चात् एक नारी और एक पुरुष के प्राकट्य की कथा का वर्णन है। तृतीय से पंचम अध्यायों में कामदेव के विभिन्न नामों का निर्देश, उसका रति के साथ विवाह तथा कुमारी संध्या का चरित्र और वशिष्ठ मुनि द्वारा चन्द्रभाग पर्वत पर संध्या को तपस्या की विधि बताने का कथन है। छठें अध्याय में संध्या की तपस्या, उसके द्वारा भगवान् शिव की स्तुति तथा उससे सन्तुष्ट हुए भगवान् शिव का उसे अभीष्ट वर देकर मेधातिथि के यज्ञ में भेजने का विवेचन किया गया है। सातवें से दसवें अध्याय में संध्या की आत्माहुति, उसका अरुन्धती के रूप में अवतीर्ण होकर मुनिवर वशिष्ठ के साथ विवाह करना, ब्रह्मा जी का रुद्र के विवाह के लिए प्रयत्न और चिन्ता तथा भगवान् विष्णु का उन्हें 'शिवा' की आराधना के लिये उपदेश देकर चिन्तामुक्त करने का वर्णन है।

सती-खण्ड के ग्यारहवें से चौदहवें अध्यायों के बीच दक्ष की तपस्या और देवी शिवा का उन्हें वरदान देने, ब्रह्माजी की आज्ञा से दक्ष द्वारा मैथुनी सृष्टि के आरम्भ, अपने पुत्र हर्यश्वों और शवलाश्वों को निवृत्ति मार्ग में भेजने के कारण दक्ष का नारद को शाप देने, दक्ष की साठ कन्याओं के विवाह, दक्ष और वारिणी के यहाँ देवी शिवा के अवतार, दक्ष द्वारा उनकी स्तुति तथा सती के सद्‌गुणों एवं चेष्टाओं से माता-पिता की प्रसन्नता का चित्रण किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में सती की तपस्या से सन्तुष्ट सभी देवता कैलास पर्वत पर जाकर भगवान् शिव का स्तवन करते हैं। सोलहवें अध्याय में ब्रह्मा जी का रुद्रदेव से सती के साथ विवाह करने के अनुरोध, श्री विष्णु द्वारा उसके अनुमोदन और श्री रुद्र की इसके लिये स्वीकृति का कथन है। सत्रहवें अध्याय में सती को शिव से वर की प्राप्ति तथा भगवान् शिव का ब्रह्मा जी को दक्ष के पास भेजकर सती का वरण करने आदि का विवेचन किया गया है। अठारहवें अध्याय में ब्रह्मा जी के माध्यम से दक्ष की अनुमति पाकर देवताओं और मुनियों सहित भगवान् शिव का दक्ष के घर जाने, दक्ष द्वारा सबका सत्कार करने तथा सती और शिव के विवाह का वर्णन है।

उन्नीसवें और बीसवें अध्यायों में सती और शिव के द्वारा अग्नि की परिक्रमा, श्री हरि द्वारा शिवतत्त्व के वर्णन, ब्रह्मा जी को दिये हुए वर के अनुसार वेदी पर सदा के लिए शिव के अवस्थान तथा शिव और सती का विदा होकर कैलास पर्वत पर जाने का उल्लेख किया गया है। इक्कीसवें से तेईसवें अध्यायों में सती के प्रश्न तथा उसके उत्तर में भगवान् शिव द्वारा ज्ञान तथा नवधा भक्ति के स्वरूप का विवेचन है। चौबीसवें अध्याय में शिव को श्रीराम के प्रति मस्तक झुकाते देकर उत्पन्न सती के मोह तथा शिवकी आज्ञा से सती द्वारा श्रीराम की परीक्षा का वर्णन है। पच्चीसवें अध्याय में शिव के द्वारा गोलोकधाम में विष्णु का गोपेश के पद पर अभिषेक तथा उनके प्रति प्रणाम का प्रसङ्ग सुनाकर श्रीराम का सती के मन का संदेह दूर करने और सती के शिव के द्वारा मानसिक त्याग का प्रतिपादन है।

छब्बीसवें अध्याय में प्रयाग में समस्त महात्मा मुनियों द्वारा किये गये यज्ञ में दक्ष का भगवान् शिव को तिस्कार पूर्वक शाप देने तथा नन्दी द्वारा ब्राह्मण कुल को शाप प्रदान करने पर भगवान् शिव द्वारा नन्दी को शान्त करने का उल्लेख है। सत्ताईसवें अध्याय में दक्ष के द्वारा महान् यज्ञ के आयोजन, उसमें ब्रह्मा, विष्णु, देवताओं और ऋषियों के आगमन, दक्ष द्वारा सबके सत्कार, दधीच द्वारा भगवान् शिव को बुलाने के अनुरोध और दक्ष के विरोध करने पर शिव-भक्तों के वहाँ से निकल जाने का वर्णन है। दक्ष-यज्ञ का समाचार पाकर सती के शिव से वहाँ चलने के लिए अनुरोध तथा दक्ष के शिव-द्रोह को जानकर भगवान् शिव की आज्ञा से देवी सती के, पिता के यज्ञ-मण्डप की ओर शिवगणों के साथ प्रस्थान का वर्णन अट्ठाईसवें अध्याय में किया गया है। उन्तीसवें अध्याय में यज्ञशाला में शिव का भाग न देखकर तथा दक्ष द्वारा शिव की निन्दा सुनकर सती द्वारा दक्ष और देवताओं को धिक्कार-फटकार कर अपने प्राण-त्याग का निश्चय किया गया है। तीसवें अध्याय में सती का योगाग्नि से अपने शरीर को भस्म कर देना और इकत्तीसवें अध्याय में आकाशवाणी द्वारा दक्ष की भर्त्सना और उनके विनाश की सूचना वर्णित है।

बत्तीसवें अध्याय में गणों के मुख से और नारद से भी सती के दग्ध होने की बात सुनकर दक्ष पर कुपित हुए भगवान् शिव अपनी जटा से वीरभद्र और महाकाली को प्रकट करके, उन्हें यज्ञ-विध्वंस करने और विरोधियों को जला डालने की आज्ञा देते हैं। तैंतीसवें और चौंतीसवें अध्यायों में वीरभद्र और महाकाली का दक्ष-यज्ञ-विध्वंस के लिए प्रस्थान, दक्ष तथा देवताओं को अपशकुन एवं उत्पात सूचक लक्षणों का दर्शन एवं भय वर्णित है। पैंतीसवें अध्याय में दक्ष की, यज्ञ की रक्षा के लिए भगवान् विष्णु से प्रार्थना, भगवान् का शिवद्रोहजनित संकट को टालने में अपनी असमर्थता बताते हुए दक्ष को समझाने तथा सेना सहित वीरभद्र के आगमन का वर्णन है। छत्तीसवें और सैंतीसवें अध्यायों में वीरभद्र का देवताओं को युद्ध के लिए ललकारना, विष्णु और वीरभद्र की बातचीत तथा विष्णु आदि का अपने लोकों में जाना एवं दक्ष और यज्ञ का विनाश करके वीरभद्र का कैलास पर्वत पर जाना निरूपित है।

अड़तीसवें अध्याय में विष्णु की पराजय में दधीच मुनि के शाप को कारण बताते हुए दधीच और क्षुव के विवाद का इतिहास, मृत्युञ्जय-मन्त्र के अनुष्ठान से दधीच की अवध्यता तथा श्रीहरि का क्षुव को दधीच की पराजय के लिए यत्न करने का आश्वासन निरूपित है। उन्तालीसवें अध्याय में विष्णु और देवताओं से अपराजित दधीच के उनके लिए शाप और क्षुव पर अनुग्रह का वर्णन है। चालीसवें अध्याय में, देवताओं सहित ब्रह्मा और विष्णु, भगवान् शिव से क्षमा माँगने के लिए कैलास पर्वत पर जाते हैं। इक्तालीसवें और बयालीसवें अध्यायों में देवताओं द्वारा भगवान् शिव की स्तुति तथा भगवान् शिव का दक्ष के जीवित होने का वरदान देने का कथन है। तिरालीसवें अध्याय में भगवान् शिव का दक्ष को अपनी भक्तवत्सलता, ज्ञानी भक्त की श्रेष्ठता तथा तीनों देवताओं की एकता बताने और दक्ष द्वारा अपने यज्ञ को पूर्ण करने का प्रतिपादन किया गया है।

पार्वती-खण्ड

रुद्र-संहिता के पार्वती-खण्ड के 55 अध्यायों में जगज्जननी पार्वती की कथा लोक में प्रसिद्ध है। पार्वती-खण्ड के प्रथम दो अध्यायों में हिमालय के मेना के साथ विवाह तथा मेना आदि को पुनर्जन्म में प्राप्त हुए सनकादि के शाप एवं वरदान का कथन किया गया है। तृतीय अध्याय में देवताओं और हिमालय द्वारा उमा देवी की स्तुति की जाती है। चतुर्थ अध्याय में उमा देवी दिव्य रूप से देवताओं को दर्शन देती हैं तथा देवताओं के निवेदन पर अवतार लेने का आश्वासन देती हैं। पंचम अध्याय में मेना को प्रत्यक्ष दर्शन देकर शिवा देवी के, उन्हें अभीष्ट वरदान से सन्तुष्ट करने तथा मेना से मैना के जन्म की कथा का वर्णन है।

छठें से आठवें अध्यायों में पार्वती का नामकरण और विद्याध्ययन, नारद का हिमवान् के यहाँ जाना, पार्वती का हाथ देखकर भावी फल बताना और हिमवान् से पार्वती का विवाह शिवजी के साथ करने का कथन वर्णित है। नौवें तथा दसवें अध्यायों में पार्वती तथा हिमवान् के स्वप्न और भगवान् शिव से 'मंगल' ग्रह की उत्पत्ति का प्रसंग है। ग्यारहवें अध्याय में भगवान् शिव का गङ्गावतरण तीर्थ में तपस्या के लिए आना और हिमवान् द्वारा उनका स्वागत, पूजन तथा स्तवन उल्लिखित है। बारहवें अध्याय में हिमवान् के, पार्वती को शिव की सेवा में रखने के लिए उनसे आज्ञा माँगने पर, शिव के कारण बताते हुए इस प्रस्ताव को अस्वीकार करने का कथन है। तेरहवें अध्याय में पार्वती और शिव के बीच दार्शनिक संवाद तथा शिव का पार्वती को अपनी सेवा में रखने का वर्णन है।

चौदहवें से सोलहवें अध्यायों में तारकासुर द्वारा सताये हुए देवताओं का ब्रह्मा जी को अपनी कष्ट कथा सुनाने, ब्रह्मा जी का उन्हें पार्वती के साथ शिव के विवाह के लिए उद्योग करने का आदेश देने, ब्रह्मा जी के समझाने से तारकासुर के स्वर्ग को छोड़ने और देवताओं के वहाँ रहकर लक्ष्य-सिद्धि के लिए यत्नशील होने का विवेचन है। सत्रहवें अध्याय में इन्द्र के कहने से काम के, शिव को मोहने के लिए, प्रस्थान का वर्णन है। अठारहवें और उन्नीसवें अध्यायों में रुद्र की नेत्राग्नि से काम के भस्म होने, रति के विलाप, देवताओं की प्रार्थना से

शिव के काम को द्वापर में प्रद्युम्न-रूप से नूतन शरीर की प्राप्ति के लिए वर देने का कथन है। बीसवें और इक्कीसवें अध्यायों में ब्रह्मा जी द्वारा शिव की क्रोधाग्नि को 'वड़वानल' की संज्ञा देकर, समुद्र में स्थापित करके, संसार के भय को दूर करना, शिव के विरह से पार्वती का शोक तथा नारद जी के द्वारा उन्हें तपस्या के लिए उपदेशपूर्वक पञ्चाक्षर-मन्त्र की प्राप्ति प्रतिपादित है।

बाईसवें अध्याय में शिव की आराधना के लिए पार्वती जी की दुष्कर तपस्या और तेईसवें अध्याय में पार्वती की उग्र तपस्या को देखकर समस्त देवताओं के साथ ब्रह्मा और विष्णु का भगवान् शिव के स्थान पर जाने का विवेचन किया गया है। चौबीसवें अध्याय में देवताओं का भगवान् शिव से पार्वती के साथ विवाह करने का अनुरोध, भगवान् का विवाह के दोष बताकर उसे अस्वीकार करना तथा उनके पुनः प्रार्थना करने पर उसे स्वीकार कर लेना वर्णित है। पच्चीसवें अध्याय में भगवान् शिव की आज्ञा से सप्तर्षियों के, पार्वती के आश्रम पर जाकर उनके शिव-विषयक अनुराग की परीक्षा करने और भगवान् शिव को सब वृतान्त बताकर पुनः स्वर्ग जाने का उल्लेख है।

छब्बीसवें अध्याय में भगवान् शंकर जटिल तपस्वी ब्राह्मण के रूप में पार्वती के आश्रम पर जाकर उनसे उनकी तपस्या का कारण पूछते हैं। सत्ताईसवें अध्याय में पार्वती की बात सुनकर जटाधारी ब्राह्मण-रूप शिव, शिव की निन्दा करते हुए पार्वती को उनकी ओर से मन को हटा लेने का आदेश देते हैं। अट्ठाइसवें अध्याय में पार्वती जी के, जटिल ब्राह्मण के प्रति परमेश्वर शिव की महत्ता का प्रतिपादन करने, रोषपूर्वक जटिल ब्राह्मण को फटकारने तथा भगवान् शिव के, उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपने साथ चलने को कहने का वर्णन किया गया है। उन्तीसवें अध्याय में शिव और पार्वती की बातचीत तथा शिव के, पार्वती के अनुरोध को स्वीकार करने का कथन है। तीसवें अध्याय में पिता के घर में पार्वती के सत्कार, महादेव जी की नटलीला के चमत्कार, उनके मेना आदि से पार्वती को माँगने और माता-पिता के इन्कार

करने पर अन्तर्हित हो जाने का विवेचन है।

इकतीसवें से तैंतीसवें अध्यायों में भगवान् शिव के, हिमवान् के पास सप्तर्षियों को भेजने, हिमवान् द्वारा उनके सत्कार एवं सप्तर्षियों, अरुन्धती और महर्षि वशिष्ठ के, मेना और हिमवान् को समझाकर पार्वती का विवाह भगवान् शिव के साथ करने के लिये कहने का उल्लेख है। चौतीसवें से छत्तीसवें अध्यायों में सप्तर्षियों के समझाने तथा मेरु आदि के कहने से हिमवान् का शिव के साथ अपनी पुत्री के विवाह का निश्चय वर्णित है। सैंतीसवें और अड़तीसवें अध्यायों में हिमवान् का भगवान् शिव के पास लग्नपत्रिका भेजना, विवाह के लिए आवश्यक सामान जुटाना, मङ्गलाचार का आरम्भ करना, उनका निमन्त्रण पाकर पर्वतों और नदियों का दिव्य रूप में आना तथा विश्वकर्मा द्वारा दिव्य मण्डप एवं देवताओं के निवास के लिए दिव्यलोकों का निर्माण प्रतिपादित है।

उन्तालीसवें अध्याय में भगवान् शिव के नारद जी के द्वारा सब देवताओं को निमन्त्रण भेजने तथा सबके आगमन का विवेचन है। चालीसवें अध्याय में भगवान् शिव के. बारात लेकर हिमालय पुरी की ओर प्रस्थान करने का चित्रण है। इक्तालीसवें से तिरालीसवें अध्यायों में हिमवान् द्वारा शिव की बारात की अगवानी, सबके अभिनन्दन एवं वन्दन तथा मेना के, शिव और उनके गणों को देखकर भय से मूर्च्छित होने का कथन है। चौवालीसवें अध्याय में मेना का विलाप, शिव के साथ कन्या का विवाह न करने का हठ तथा भगवान् शिव द्वारा सुन्दर रूप धारण करने पर ही उनको कन्या देने का विचार वर्णित है। पैंतालीसवें और छियालीसवें अध्यायों में मेना द्वारा द्वार पर भगवान् शिव का परिछन, पार्वती का अम्बिका-पूजन के लिये बाहर निकलना तथा देवताओं और भगवान् शिव का, उनके सुन्दर रूप को देखकर प्रसन्न होना निरूपित है।

सैंतालीसवें अध्याय में वर-वधू द्वारा एक-दूसरे के पूजन और अड़तालीसवें अध्याय में शिव-पार्वती के विवाह के आरम्भ, हिमालय द्वारा शिव के गोत्र के विषय में प्रश्न होने पर

नारद जी द्वारा उत्तर, हिमालय के, कन्यादान करके शिव को दहेज देने तथा शिवा के अभिषेक का वर्णन किया गया है। उन्चासवें से इक्यावनवें अध्यायों के बीच वर-वधू का कोहबर और वास-भवन में जाना, वहाँ स्त्रियों का उनसे लोकाचार का पालन कराना, रति की प्रार्थना से शिव द्वारा काम को जीवनदान एवं वर-प्रदान करना वर्णित है। बावनवें अध्याय में रात को परम सुन्दर सजे हुए वासगृह में शयन करके प्रातःकाल भगवान् शिव के, जनवास में आगमन का वर्णन है। तिरपनवें और चौवनवें अध्यायों में मेना के, शिव को अपनी कन्या सौंपने तथा मेना की इच्छा के अनुसार एक ब्राह्मण-पत्नी के पार्वती को पतिव्रत-धर्म के उपदेश का कथन है। पार्वती-खण्ड के अन्तिम अध्याय में शिव-पार्वती तथा उनकी बारात की बिदाई, भगवान् शिव के, समस्त देवताओं को बिदा करके, कैलास पर रहने और पार्वती-खण्ड के श्रवण की महिमा का विवेचन किया गया है।

कुमार-खण्ड

रुद्र-संहिता का चौथा खण्ड 'कुमार-खण्ड' है। कुमार स्कन्द भगवान् शंकर के ज्येष्ठ पुत्र हैं। इस खण्ड में कुल 20 अध्याय हैं। प्रथम आठ अध्यायों में देवताओं द्वारा स्कन्द का शिव-पार्वती के पास लाया जाना, देवों के माँगने पर शिव जी का उन्हें तारक-वध के लिए स्वामी कार्तिकेय को देना, कुमार की अध्यक्षता में देव-सेना का प्रस्थान, मही-सागर-संगम पर तारकासुर का आना और दोनों सेनाओं में मुठभेड़, वीरभद्र का तारक के साथ घोर संग्राम, पुनः श्रीहरि और तारक में भयानक युद्ध वर्णित है। नौवें से बारहवें अध्यायों में ब्रह्मा जी की आज्ञा से कुमार का युद्ध के लिये जाना, तारक के साथ भीषण संग्राम और उनके द्वारा तारक का वध, तत्पश्चात् देवों द्वारा कुमार का अभिनन्दन और स्तवन और कुमार का उन्हें वरदान देकर कैलास पर जाकर शिव-पार्वती के पास निवास करना उल्लिखित है।

इसी खण्ड के तेरहवें से अठारहवें अध्यायों में शिवा का अपनी मैल से गणेश को उत्पन्न करके द्वारपाल-पद पर नियुक्त करना, गणेश द्वारा शिव जी को रोके जाने पर उनका

शिवगणों के साथ भयंकर संग्राम, शिवजी द्वारा गणेश का शिरश्छेदन, कुपित हुई शिवा का शक्तियों को उत्पन्न करना और उनके द्वारा प्रलय मचाया जाना, देवताओं और ऋषियों का स्तवन द्वारा पार्वती को प्रसन्न करना, उनके द्वारा पुत्र को जिलाये जाने की बात कही जाने पर शिवजी की आज्ञानुसार हाथी का सिर लाया जाना और उसे गणेश के धड़ से जोड़कर उन्हें पुनः जीवित करना प्रतिपादित है।

उन्नीसवें अध्याय में पार्वती द्वारा गणेश जी को वरदान, देवों द्वारा उन्हें अग्रपूज्य माने जाने, शिवजी द्वारा गणेश की सर्वाध्यक्ष पद प्रदान करने और गणेश-चतुर्थी व्रत का वर्णन है। अन्तिम अध्याय में स्वामिकार्तिक और गणेश की बाल-लीला, दोनों का परस्पर विवाह के विषय में विवाद, शिवजी द्वरा पृथ्वी-परिक्रमा का आदेश, कार्तिकेय का प्रस्थान, गणेश का माता-पिता की परिक्रमा करके उनसे पृथ्वी-परिक्रमा स्वीकृत कराना, विश्वरूप की सिद्धि और बुद्धि नामक दोनों कन्याओं के साथ गणेश का विवाह और उनसे क्षेम तथा लाभ नामक दो पुत्रों की उत्पत्ति तथा कुमार का पृथ्वी परिक्रमा करके लौटना और क्षुब्ध होकर क्रौंच पर्वत पर चले जाना वर्णित है। इस खण्ड को पढ़ने या सुनने से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है और उसकी सभी शुभ कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

युद्ध-खण्ड

रुद्र-संहिता के युद्ध-खण्ड में शिव जी द्वारा अनेक दैत्यों के वध का वर्णन किया गया है। युद्ध-खण्ड कुल 59 अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में तारक-पुत्र तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमलाक्ष की तपस्या, ब्रह्मा द्वारा उन्हें वर प्रदान करना तथा मायावी मय द्वारा उनके लिए तीन पुरों का निर्माण वर्णित है। द्वितीय से पंचम अध्यायों में तारक-पुत्रों के प्रभाव से संतप्त हुए देवों की ब्रह्मा के पास करुण पुकार, ब्रह्मा के उन्हें शिव के पास भेजने, शिव की आज्ञा से देवों के विष्णु की शरण में जाने और विष्णु के उन दैत्यों को मोहित करके उन्हें आचार-भ्रष्ट करने का विवेचन है।

छठें से आठवें अध्यायों में देवों का शिव जी के पास जाकर उनका स्तवन करना, शिव जी की प्रसन्नता और उनके लिए विश्वकर्मा द्वारा सर्वदेवमय रथ का निर्माण प्रतिपादित है। नौवें और दसवें अध्यायों में सर्वदेवमय रथ का वर्णन, शिवजी का उस रथ पर चढ़कर युद्ध के लिए प्रस्थान, शिव जी द्वारा गणेश का पूजन और त्रिपुर-दाह तथा मय दानव का त्रिपुर से जीवित बच निकलना निरूपित है। ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में मय दानव का शिव जी के समीप आना और उनसे वर-याचना करना तथा शिव जी से वर पाकर मय का वितल लोक में जाना वर्णित है।

इस खण्ड के तेरहवें से उन्तीसवें अध्यायों के बीच दम्भ की तपस्या और विष्णु द्वारा उसे पुत्र-प्राप्ति का वरदान, शङ्खचूड का जन्म, तप और उसे वर-प्राप्ति, ब्रह्मा जी की आज्ञा से उसका पुष्कर में तुलसी के पास आना और उसके साथ वार्तालाप, ब्रह्मा जी का पुनः वहाँ प्रकट होकर दोनों को आशीर्वाद देना और शङ्खचूड का गान्धर्व विवाह की विधि से तुलसी का पारिग्रहण प्रतिपादित है।

तीसवें अध्याय में शङ्खचूड के असुर-राज्य पर अभिषेक और उसके द्वारा देवों के अधिकार छीने जाने का वर्णन है। इकतीसवें से पैंतीसवें अध्यायों के बीच देवताओं का रुद्र के पास जाकर अपना दुःख निवेदन करना, रुद्र द्वारा उन्हें आश्वासन और चित्ररथ को शङ्खचूड के पास भेजना, चित्ररथ के लौटने पर रुद्र का गणों, पुत्रों और भद्रकाली-सहित युद्ध के लिए प्रस्थान तथा शङ्खचूड का सेना-सहित पुष्पभद्रा के तट पर पड़ाव डालना प्रतिपादित है। छत्तीसवें से चालीसवें अध्यायों में देवताओं और दानवों का युद्ध, शिव जी का शङ्खचूड के साथ युद्ध और आकाशवाणी सुनकर युद्ध से निवृत्त हो विष्णु को प्रेरित करना, विष्णु द्वारा शङ्खचूड के कवच और तुलसी के शील का अपहरण और फिर रुद्र के हाथों त्रिशूल द्वारा शङ्खचूड का वध निरूपित है। इक्तालीसवें अध्याय में विष्णु द्वारा तुलसी के शील-हरण का वर्णन, कुपित हुई तुलसी द्वारा विष्णु को शाप और शम्भु द्वारा तुलसी तथा शालग्राम-शिला का माहात्म्य दर्शाया गया है।

बयालीसवें अध्याय में शम्भु के नेत्र मूँद लेने पर अन्धकार में शम्भु के पसीने से अन्धकासुर की उत्पत्ति, हिरण्याक्ष की पुत्रार्थ तपस्या और शिव का उसे पुत्र रूप में अन्धक को देना, हिरण्याक्ष का त्रिलोकी को जीतकर पृथ्वी को रसातल में ले जाना और वाराह रूपधारी विष्णु द्वारा उसका वध वर्णित है।

तिरालीसवें अध्याय में हिरण्यकशिपु की तपस्या और ब्रह्मा से वरदान पाकर उसके अत्याचार, नृसिंह द्वारा उसके वध और प्रहलाद को राज्य-प्राप्ति का उल्लेख है।

चौवालीसवें से छियालीसवें अध्यायों में अन्धक का घोर तप और वर पाकर त्रिलोकी को जीतकर स्वेच्छाचार में प्रवृत्त होना, उसके मन्त्रियों द्वारा शिव-परिवार का वर्णन, पार्वती के सौन्दर्य पर मोहित होकर अन्धक का वहाँ जाना और पार्वती के आवाहन से देवियों का प्रकट होकर युद्ध करना, शिव का आगमन और युद्ध तथा शिव का अन्धक को अपने त्रिशूल में पिरोने की कथा वर्णित है।

सैंतालीसवें से उन्चासवें अध्यायों में नन्दीश्वर द्वारा शुक्राचार्य के अपहरण और शिव द्वारा उनके निगल जाना, सौ वर्षों के बाद शुक्र के शिवलिङ्ग के रास्ते बाहर निकलने, शिव द्वारा उनका 'शुक्र' नाम रखे जाने तथा शुक्र द्वारा जपे गये मृत्युञ्जय-मन्त्र और शिवाष्टोत्तरशतनामस्त्रोत का वर्णन है। पचासवें अध्याय में शुक्राचार्य की घोर तपस्या और शिव जी का प्रसन्न होकर उन्हें मृतसञ्जीवनी विद्या प्रदान करने का उल्लेख है।

इसी खण्ड के इक्यावनवें से चौवनवें अध्यायों में बाणासुर की तपस्या और शिव द्वारा वर-प्राप्ति, बाण-पुत्री ऊषा का रात के समय स्वप्न में अनिरुद्ध के साथ मिलन, बाण का अनिरुद्ध को नागपाश में बाँधने, दुर्गा के स्तवन से अनिरुद्ध के बन्धन-मुक्त होने और शिव की आज्ञा से श्रीकृष्ण का उन्हें जृम्भणास्त्र से मोहित करके बाण की सेना का संहार करने का कथन किया गया है। पचपनवें और छप्पनवें अध्यायों में श्री कृष्ण द्वारा बाण की भुजाओं के

काटे जाने, बाण का ताण्डव नृत्य द्वारा शिव को प्रसन्न करने और शिव द्वारा उसे अन्यान्य वरदानों के साथ महाकालत्व की प्राप्ति का प्रतिपादन है।

सत्तावनवें अध्याय में गजासुर की तपस्या, वर-प्राप्ति और उसका अत्याचार, शिव द्वारा उसका वध, उसकी प्रार्थना से शिव का उसका चर्म धारण करना और 'कृत्तिवासा' नाम से विख्यात होना दर्शाया गया है। अट्ठावनवें अध्याय में दुन्दुभिनिर्ह्राद नामक दैत्य के व्याघ्र-रूप से शिव भक्त पर आक्रमण करने के विचार और शिव द्वारा उसके वध का वर्णन है। उन्सठवें अध्याय में विदल और उत्पल नामक दैत्यों के पार्वती पर मोहित होने और पार्वती के कन्दुक-प्रहार द्वारा उनका काम तमाम करने तथा कन्दुकेश्वर की स्थापना और उसकी महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

शतरुद्र-संहिता

शतुरुद्र-संहिता में कुल 42 अध्याय हैं। इसमें शिव जी द्वारा जगत् में किये गये अनेक चरित्रों का वर्णन है, जिनको पुराणकर्त्ता ने शिव का अवतार कहा है। शिव शीघ्र प्रसन्न होने वाले दया के अवतार हैं। जहाँ भी किसी भक्त पर कष्ट पड़ा उन्होंने किसी न किसी रूप में प्रकट होकर कष्ट निवारण किया है। सृष्टि प्रक्रिया में मैथुनी सृष्टि की आवश्यकता होने पर ब्रह्मा की प्रार्थना पर अर्धनारीश्वर के रूप में, शिलाद मुनि की तपस्या पर नन्दी रूप में, ब्रह्मा के गर्वनाश हेतु काल भैरव के रूप में प्रकट हुए। इसी प्रकार शिव जी ने अनेक लोगों की तपस्या से प्रसन्न हो पुत्रादि देकर मनोकामना पूर्ण की है।

इस संहिता के प्रथम अध्याय में शिवजी के सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर और ईशान नामक पाँच अवतारों का वर्णन है। द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में शिव जी की अष्टमूर्तियों का तथा अर्धनारीनर रूप का सविस्तार प्रतिपादन है। चतुर्थ अध्याय में वाराहकल्प में होने वाले शिवजी के प्रथम अवतार से लेकर नवम ऋषभ अवतार तक का वर्णन है। पंचम अध्याय में शिवजी द्वारा दसवें से लेकर अट्ठाईसवें योगेश्वरावतारों का विवेचन है। छठें और सातवें अध्यायों में नन्दीश्वरावतार का वर्णन है।

आठवें से तेरहवें अध्याय में कालभैरव के माहात्म्य, विश्वानर की तपस्या और शिवजी के प्रसन्न होकर उनकी पत्नी शुचिष्मती के गर्भ से उनके पुत्र रूप में प्रकट होने का उन्हें वरदान देने का उल्लेख है। चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों में शिवजी का शुचिष्मती के गर्भ से प्राकट्य, ब्रह्मा द्वारा बालक का संस्कार करके 'गृहपति' नाम रखा जाना, पिता की आज्ञा से गृहपति का काशी में जाकर तप करना, शिवजी का प्रकट होकर उन्हें वरदान देकर दिक्पाल पद प्रदान करना तथा अग्नीश्वर-लिङ्ग और अग्नि का माहात्म्य दर्शाया गया है।

शतरुद्र-संहिता के सोलहवें से बीसवें अध्यायों में शिवजी के महाकाल आदि दस

अवतारों, ग्यारह रुद्र अवतारों, दुर्वासावतार तथा हनुमदवतार का वर्णन किया गया है। इक्कीसवें से पच्चीसवें अध्यायों में शिव जी के पिप्पलाद-अवतार के प्रसङ्ग में देवताओं की दधीचि मुनि से अस्थि-याचना, दधीचि का शरीर-त्याग, वज्र-निर्माण तथा उसके द्वारा वृत्रासुर का वध, सुवर्चा का देवताओं को शाप तथा पिप्पलाद के जन्म की कथा का विवेचन है। छब्बीसवें और सत्ताइसवें अध्यायों में भगवान् शिव के द्विजेश्वरावतार की कथा तथा अट्ठाईसवें अध्याय में यतिनाथ एवं हंस नामक अवतार की कथा का वर्णन है। उन्तीसवें अध्याय में भगवान् शिव के कृष्ण-दर्शन नामक अवतार, तीसवें अध्याय में अवधूतेश्वरावतार, इक्तीसवें अध्याय में भिक्षुवर्यावतार, बत्तीसवें अध्याय में सुरेश्वरावतार, तैतीसवें से इक्तालीसवें अध्यायों में किरातावतार तथा बयालीसवें अध्याय में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गावतारों की कथा का सविस्तार वर्णन किया गया है।

कोटिरुद्र-संहिता

कटिरुद्र संहिता के 43 अध्यायों में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों का वर्णन है, जो देश के विभिन्न भागों में स्थापित हैं और जिनकी अर्चना से सदैव अगणित व्यक्ति सन्तुष्ट होते हैं। सौराष्ट्र में सोमनाथ, श्री-शैल में मल्लिकार्जुन, उज्जैन में महाकाल, ओंकार में अमरेश्वर (परमेश्वर), हिमालय में केदार, डाकिना में भीमशंकर, काशी में विश्वनाथ, गोमती के तट पर त्यंबक, चिताभूमि में वैद्यनाथ, दारुक वन में नागेश, सेतुबन्ध में रामेश्वर तथा शिवालय में घुश्मेश—ये द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग प्रसिद्ध हैं। ये ज्योतिर्लिङ्ग शिव जी के बारह अवतार माने जाते हैं। इन ज्योतिर्लिङ्गों का इतना प्रभाव बतलाया गया है—"जो मनुष्य हृदय में जिस-जिस मनोरथ के उद्देश्य से इन द्वादश शम्भु के शुभ नामों का पाठ एवं स्मरण करेंगे, वे उन मनोरथों को इस लोक और परलोक में अवश्य प्राप्त कर लेंगे।"

इस संहिता के प्रथम अध्याय में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों तथा उनके उपलिङ्गों का वर्णन एवं उनके दर्शन-पूजन की महिमा का निरूपण किया गया है। द्वितीय से चतुर्थ अध्यायों में काशी आदि के विभिन्न लिङ्गों का वर्णन तथा अत्रीश्वर की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में गङ्गा और शिव के अत्रि के तोपवन में नित्य निवास करने की कथा वर्णित है। पाँचवें से सातवें अध्यायों में ऋषिका पर भगवान् शिव की कृपा और एक असुर से उसके धर्म की रक्षा करके उसके आश्रम में 'नन्दिकेश' नाम से निवास करने की कथा का विवेचन है।

आठवें से चौदहवें अध्यायों में प्रथम ज्योतिर्लिङ्ग सोमनाथ के प्रादुर्भाव की कथा तथा पन्द्रहवें और सोलहवें अध्यायों में मल्लिकार्जुन एवं महाकाल नामक ज्योतिर्लिङ्गों के आविर्भाव की कथा तथा उसकी महिमा का प्रतिपादन है। सत्रहवें अध्याय में महाकाल के माहात्म्य के प्रसङ्ग में शिव भक्त राजा चन्द्रसेन तथा गोप-बालक श्रीकर की कथा का उल्लेख है। अठारहवें अध्याय में विन्ध्य की तपस्या तथा ओंकार में परमेश्वर के प्रादुर्भाव एवं उसकी

महिमा का कथन है। उन्नीसवें से इक्कीसवें अध्यायों में केदारेश्वर तथा भीमशंकर नामक ज्योतिर्लिङ्गों के आविर्भाव की कथा तथा उनका माहात्म्य दर्शाया गया है। बाईसवें और तेईसवें अध्यायों में विश्वेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग और उसकी महिमा के प्रसङ्ग में पञ्चकोशी की महत्ता का प्रतिपादन है।

इस संहिता के चौबीसवें से छब्बीसवें अध्यायों में त्र्यम्बक ज्योतिर्लिङ्ग के प्रसङ्ग में महर्षि गौतम के द्वारा किये गये परोपकार, उनका तप के प्रभाव से अक्षय जल प्राप्त करके ऋषियों की अनावृष्टि के कष्ट से रक्षा करना, पत्नी-सहित गौतम की आराधना से सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव का उन्हें दर्शन देना, गङ्गा को वहाँ स्थापित करके स्वयं भी स्थिर होना और गङ्गा का गौतमी (गोदावरी) नाम से और शिव का त्यम्बक ज्योतिर्लिङ्ग के नाम से विख्यात होने का कथन है। सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें अध्यायों में वैद्यनाथेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग के प्राकट्य की कथा एवं उसकी महिमा तथा उन्तीसवें और तीसवें अध्यायों में नागेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग के प्रादुर्भाव एवं उसकी महिमा का वर्णन है। इकत्तीसवें से तैंतीसवें अध्यायों में रामेश्वर एवं घुश्मेश्वर नामक ज्योतिर्लिङ्ग का आविर्भाव एवं माहात्म्य दर्शाया गया है।

चौंतीसवें अध्याय में शंकर जी की आराधना से भगवान् विष्णु को सुदर्शन चक्र की प्राप्ति तथा उसके द्वारा दैत्यों के संहार और पैंतीसवें एवं छत्तीसवें अध्यायों में भगवान् विष्णु द्वारा पठित शिवसहस्रनामस्त्रोत का विवेचन है। सैंतीसवें से चालीसवें अध्यायों में भगवान् शिव को सन्तुष्ट करने वाले व्रतों का वर्णन, शिवरात्रि-व्रत की विधि एवं महिमा का कथन है। इक्तालीसवें अध्याय में मुक्ति और भक्ति के स्वरूप का तथा बयालीसवें अध्याय में शिव, विष्णु, रुद्र और ब्रह्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है। अन्तिम अध्याय में शिव-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान का वर्णन तथा उसकी महिमा का प्रतिपादन है।

उमा-संहिता

शिव पुराण की उमा-संहिता में विभिन्न पापों तथा दण्ड-स्वरूप मिलने वाले नरकों की यातनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। पापों का प्रतिकार कुछ अंशों में दान द्वारा कहा गया है, पर उसका मुख्य उपाय 'तप' ही है। तप का अर्थ यह होता है कि मनुष्य से परिस्थिति-वश जो पाप-कर्म हो जाते हैं, उनका दण्ड उसने स्वेच्छा-पूर्वक सहन कर लिया।

इस संहिता के प्रथम तीन अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्ण के तप से सन्तुष्ट हुए शिव और पार्वती का उन्हें अभीष्ट वर देने तथा शिव की महिमा का उल्लेख है। चौथे से छठें अध्यायों में नरक में गिराने वाले पापों का संक्षिप्त परिचय है। सातवें अध्याय में पापियों और पुण्यात्माओं की यमलोक-यात्रा का वर्णन है। आठवें अध्याय में नरकों की अट्ठाईस कोटियों तथा प्रत्येक के पाँच-पाँच नायक के क्रम से एक सौ चालीस रौरवादि नरकों की नामावली दी गयी है। नौवें एवं दसवें अध्यायों में विभिन्न पापों के कारण मिलने वाली नरक-यातना का वर्णन तथा कुक्कुरबलि, काकबलि एवं देवता आदि के लिए दी हुई बलि की आवश्यकता एवं महत्ता का प्रतिपादन है।

ग्यारहवें अध्याय में यमलोक के मार्ग में सुविधा प्रदान करने वाले विविध दानों का वर्णन है तथा बारहवें अध्याय में जलदान, जलाशय-निर्माण, वृक्षारोपण, सत्य भाषण और तप की महिमा का विवेचन है। तेरहवें से सोलहवें अध्यायों में वेद और पुराणों के स्वाध्याय तथा विविध प्रकार के दान की महिमा, नरकों का वर्णन तथा उनमें गिराने वाले पापों का दिग्दर्शन, पापों के लिए सर्वोत्तम प्रायश्चित्त शिव स्मरण तथा ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन है।

इसी संहिता के सत्रहवें से पच्चीसवें अध्यायों में मृत्युकाल निकट आने के कौन-कौन से लक्षण हैं, इसका वर्णन किया गया है। छब्बीसवें अध्याय में काल को जीतने का उपाय, नवधा शब्द ब्रह्म एवं तुंकार के अनुसंधान और उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का विवेचन है।

सत्ताइसवें अध्याय में काल या मृत्यु को जीतकर अमरत्व प्राप्त करने की चार यौगिक साधनाओं—प्राणायाम, भ्रूमध्य में अग्नि का ध्यान, मुख से वायुपान तथा मुड़ी हुई जिह्वा द्वारा गले की घाँटी का स्पर्श का उल्लेख किया गया है।

अट्ठाईसवें से पैंतालीसवें अध्यायों में भगवती उमा के कालिका-अवतार की कथा का वर्णन है। छियालीसवें अध्याय में सम्पूर्ण देवताओं के तेज से देवी का महालक्ष्मी रूप में अवतार और उनके द्वारा महिषासुर के वध का विवेचन है। सैंतालीसवें अध्याय में देवी उमा के शरीर से सरस्वती का आविर्भाव, उनके रूप की प्रशंसा सुनकर शुम्भ का उनके पास दूत भेजना, दूत के निराश लौटने पर शुम्भ का क्रमशः धूम्रलोचन, चण्ड, मुण्ड तथा रक्तबीज को भेजना तथा देवी द्वारा उन सबके मारे जाने का उल्लेख है। अड़तालीसवें अध्याय में देवी के द्वारा सेना और सेनापतियों सहित निशुम्भ एवं शुम्भ के संहार का कथन है। उन्चासवें अध्याय में देवताओं का गर्व दूर करने के लिये तेजः पुञ्जरूपिणी उमा के प्रादुर्भाव का चित्रण है। पचासवें अध्याय में उमा देवी के द्वारा दुर्गमासुर का वध तथा उनके दुर्गा, शताक्षी, शाकम्भरी और भ्रामरी आदि नाम पड़ने का कारण दिया गया है तथा इक्यावनवें अध्याय में देवी के क्रिया योग का वर्णन है।

कैलास-संहिता

कैलास-संहिता में योगशास्त्र के आसन, प्राणायाम, जप, ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाने का मार्ग-दर्शन है। इस संहिता के प्रथम ग्यारह अध्यायों में ऋषियों द्वारा सूत जी से प्रणवार्थ-निरूपण के लिए अनुरोध करने पर सूत जी प्रणव का अर्थ बतलाते हैं। बारहवें अध्याय में प्रणव के वाच्यार्थ रूप सदाशिव के ध्यान, वर्णाश्रम-धर्म के पालन का महत्त्व, ज्ञानमयी पूजा, संन्यास के पूर्वाङ्गभूत नान्दीश्राद्ध एवं ब्रह्म यज्ञ आदि का वर्णन किया गया है। तेरहवें अध्याय में संन्यास-ग्रहण की शास्त्रीय विधि—गणपति-पूजन, होम, तत्त्व-शुद्धि, सावित्री-प्रवेश, सर्वसंन्यास और दण्ड-धारण आदि का प्रकार बतलाया गया है। चौदहवें अध्याय में वामदेव द्वारा प्रणव के छः प्रकार के अर्थ पूछने पर स्कन्द जी ने उसका छः प्रकार से विवेचन किया है।

कैलास-संहिता के पन्द्रहवें और सोलहवें अध्यायों में शैव दर्शन के अनुसार शिव तत्त्व, जगत्-प्रपञ्च और जीव तत्त्व के विषय में विशद विवेचन तथा शिव से जीव और जगत् की अभिन्नता का प्रतिपादन है। सत्रहवें से उन्नीसवें अध्यायों में महावाक्यों के अर्थ पर विचार तथा संन्यासियों के योगपट्ट का प्रकार बतलाया गया है। बीसवें और बाईसवें अध्यायों में यति के अन्त्येष्टि-कर्म की दशाहपर्यन्त विधि का वर्णन है। तेईसवें अध्याय में यति के द्वादशाह-कृत्य का वर्णन, स्कन्द और वामदेव का कैलास पर्वत पर जाना और सूत जी के द्वारा इस संहिता के उपसंहार का विवेचन किया गया है।

वायवीय-संहिता

यह संहिता दो खण्डों में विभक्त है—पूर्व खण्ड और उत्तर खण्ड। पूर्व खण्ड में कुल 35 अध्याय हैं। पूर्व खण्ड के प्रथम अध्याय में ऋषियों द्वारा प्रश्न पूछने पर लोमहर्षण सूत जी ने 14 विद्याओं का वर्णन किया। 14 विद्याएँ हैं—6 वेदाङ्ग, 4 वेद, मीमांसा, न्यायशास्त्र, पुराण और धर्मशास्त्र। इनके साथ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र को भी गिन लिया जाय तो ये विद्याएँ 18 हो जाती हैं। द्वितीय अध्याय में ऋषियों का ब्रह्मा जी के पास जाकर उनकी स्तुति करके उनसे परम पुरुष के विषय में प्रश्न करना और ब्रह्मा जी का आनन्दमग्न होकर 'रुद्र' कहकर उत्तर देने का कथन है। तृतीय अध्याय में ब्रह्मा जी के द्वारा परमतत्त्व के रूप में भगवान् शिव की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

चौथे और पाँचवें अध्यायों में नैमिषारण्य में दीर्घसत्र के अन्त में मुनियों के पास वायु देवता का आगमन, उनका सत्कार तथा ऋषियों के पूछने पर वायु के द्वारा पशु, पास एवं पशुपति का तात्त्विक विवेचन किया गया है। छठें अध्याय में महेश्वर की महत्ता का प्रतिपादन है। सातवें से बारहवें अध्यायों में ब्रह्मा जी की मूर्च्छा, उनके मुख से रुद्रदेव का प्राकट्य, सप्राण हुए ब्रह्मा जी के द्वारा आठ नामों से महेश्वर की स्तुति तथा रुद्र की आज्ञा से ब्रह्मा द्वारा सृष्टि-रचना का कथन है। तेरहवें और चौदहवें अध्यायों में भगवान् रुद्र के ब्रह्मा जी के मुख से प्रकट होने का रहस्य तथा रुद्र के महामहिम स्वरूप का वर्णन किया गया है।

पन्द्रहवें अध्याय में ब्रह्मा जी के द्वारा अर्द्धनारीश्वर की स्तुति तथा उस स्त्रोत की महिमा का उल्लेख है। सोलहवें अध्याय में महादेव के शरीर से देवी का प्राकट्य और देवी के भ्रूमध्य भाग से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सत्रहवें से चौबीसवें अध्यायों में भगवान् शिव का पार्वती तथा पार्षदों के साथ मन्दराचल पर जाकर रहना, शुम्भ-निशुम्भ के बध के लिए ब्रह्मा जी की प्रार्थना से शिव का पार्वती को 'काली' कहकर कुपित करना और काली का 'गौरी' होने के लिए तपस्या के निमित्त जाने की आज्ञा माँगने का प्रतिपादन है। पच्चीसवें अध्याय में

पार्वती की तपस्या, एक व्याघ्र पर उनकी कृपा, ब्रह्मा जी का उनके साथ वार्तालाप, देवी द्वारा काली त्वचा का त्याग और उससे कृष्णवर्णा कुमारी कन्या के रूप में उत्पन्न हुई कौशिकी के द्वारा शुम्भ-निशुम्भ के वध की कथा का विवेचन है। छब्बीसवें अध्याय में गौरी देवी का व्याघ्र को अपने साथ ले जाने के लिए ब्रह्मा जी से आज्ञा माँगना, ब्रह्मा जी का उसे दुष्कर्मी बताकर रोकना, देवी का शरणागत को त्यागने से इनकार करना, ब्रह्मा जी का देवी की महत्ता बताकर अनुमति देना और देवी का माता-पिता से मिलकर मन्दराचल को जाने का कथन है।

सत्ताईसवें अध्याय में मन्दराचल पर गौरी देवी का स्वागत, महादेव जी के द्वारा उनके और अपने उत्कृष्ट स्वरूप एवं अविच्छेद्य सम्बन्ध पर प्रकाश तथा देवी के साथ आये हुए व्याघ्र को उनका गणाध्यक्ष बनाकर अन्तःपुर के द्वार पर सोमनन्दी नाम से प्रतिष्ठित करने का वर्णन है। अट्ठाईसवें और उन्तीसवें अध्यायों में अग्नि और सोम के स्वरूप का विवेचन तथा जगत् की अग्नीषोमात्मकता का प्रतिपादन है। तीसवें से तैंतीसवें अध्यायों में ऋषियों के पूछने पर वायुदेव के द्वारा शिव के स्वतन्त्र एवं सर्वानुग्राहक स्वरूप का विवेचन, परम धर्म का प्रतिपादन, शैवागम के अनुसार पाशुपत ज्ञान तथा उसके साधनों का वर्णन किया गया है।

इसी खण्ड के चौंतीसवें और पैंतीसवें अध्यायों में वायुदेव ने ऋषियों को बतलाया कि उपमन्यु ने अपनी माता की आज्ञा से भगवान् शिव की कठोर तपस्या की और भगवान् शिव ने इन्द्र-रूप धारण करके उपमन्यु के भक्ति-भाव की परीक्षा लेकर उन्हें क्षीर-सागर आदि बहुत से वर प्रदान किये।

वायवीय संहिता (उत्तर खण्ड)

वायवीय संहिता के उत्तर खण्ड में कुल 41 अध्याय हैं, जिनमें ऋषियों के पूछने पर वायुदेव द्वारा श्रीकृष्ण और उपमन्यु के मिलने के प्रसङ्ग का विवेचन किया गया है। प्रथम दो अध्यायों में श्रीकृष्ण को उपमन्यु से ज्ञान का और भगवान् शंकर से पुत्र-लाभ का वर्णन है। तृतीय अध्याय में भगवान् शिव की ब्रह्मा आदि पञ्च-मूर्तियों, ईशानादि ब्रह्म-मूर्तियों तथा पृथ्वी एवं शर्व आदि अष्ट मूर्तियों का परिचय और उनकी सर्वव्यापकता का उल्लेख है। चतुर्थ और

पंचम अध्यायों में परमेश्वर शिव के यथार्थ स्वरूप का विवेचन तथा उनकी शरण में जाने से जीव के कल्याण का कथन है। छठें अध्याय में शिव के शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वमय, सर्वव्यापक एवं सर्वातीत स्वरूप का तथा उनकी प्रणवरूपता का प्रतिपादन किया गया है।

सातवें और आठवें अध्यायों में परमेश्वर की शक्ति का ऋषियों द्वारा साक्षात्कार, शिव के प्रसाद से प्राणियों की मुक्ति, शिव की सेवा-भक्ति तथा पाँच प्रकार के शिव-धर्म का वर्णन है। नौवें अध्याय में शिव-अवतार, योगाचार्यों तथा उनके शिष्यों की नामावली दी गयी है। दसवें अध्याय में भगवान् शिव के प्रति श्रद्धा-भक्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन, शिव-धर्म के चार पादों का वर्णन एवं ज्ञानयोग के साधनों तथा शिव-धर्म के अधिकारियों का निरूपण किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में वर्णाश्रम-धर्म तथा नारी-धर्म का वर्णन, शिव के भजन, चिन्तन एवं ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन है। बारहवें और तेरहवें अध्यायों में पञ्चाक्षर-मन्त्र की महिमा, उसमें समस्त वाङ्मय की स्थिति, उसकी उपदेश-परम्परा, देवी-रूपा पञ्चाक्षर-विद्या का ध्यान, उसके समस्त और व्यस्त अक्षरों के ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति तथा अङ्गन्यास आदि का विचार व्यक्त किया गया है। चौदहवें अध्याय में गुरु से मन्त्र लेने तथा उसके जप करने की विधि, पाँच प्रकार के जप तथा उसकी महिमा, मन्त्र-गणना के लिये विभिन्न प्रकार की मालाओं का महत्त्व तथा अंगुलियों के उपयोग का वर्णन, जप के लिये उपयोगी स्थान तथा दिशा, जप में वर्जनीय बातें, सदाचार का महत्त्व, आस्तिकता की प्रशंसा तथा पञ्चाक्षर-मन्त्र की विशेषता का वर्णन किया गया है।

इस खण्ड के पन्द्रहवें अध्याय में त्रिविध दीक्षा का निरूपण, शक्तिपात की आवश्यकता तथा उसके लक्षणों का वर्णन, गुरु का महत्त्व, ज्ञानी गुरु से ही मोक्ष की प्राप्ति तथा गुरु के द्वारा शिष्य की परीक्षा का विवेचन किया गया है। सोलहवें से उन्नीसवें अध्यायों में समय-संस्कार या समयाचार की दीक्षा की विधि एवं षडध्वशोधन की विधि का प्रतिपादन है। बीसवें

से तेईसवें अध्यायों में अन्तर्याग अथवा मानसिक पूजा विधि का वर्णन है। पच्चीसवें से सत्ताइसवें अध्यायों में शिव-पूजा की विशेष विधि तथा शिव-भक्ति की महिमा का उल्लेख है। अट्ठाइसवें और उन्तीसवें अध्यायों में काम्य कर्म के प्रसङ्ग में शक्ति-सहित पञ्चमुख महादेव की पूजा का विधान दर्शाया गया है। तीसवें अध्याय में आवरण-पूजा की विस्तृत विधि तथा उक्त विधि से पूजन की महिमा का वर्णन है।

इक्तीसवें अध्याय में शिव के पाँच आवरणों में स्थित सभी देवताओं की स्तुति तथा उनसे अभीष्टपूर्ति एवं मंङ्गल की कामना का विधान दर्शाया गया है। बत्तीसवें अध्याय में ऐहिक फल देने वाले कर्मों और उनकी विधि का वर्णन, शिव-पूजन की विधि, शान्ति-पुष्टि आदि विविध काम्य कर्मों में विभिन्न हवनीय पदार्थों के उपयोग का वर्णन है। तैंतीसवें से छत्तीसवें अध्यायों में पारलौकिक फल देने वाले कर्म-शिवलिङ्ग-महाव्रत की विधि और महिमा का विवेचन है। सैंतीसवें अध्याय में योग के अनेक भेद, उसके आठ और छ: अङ्गों का विवेचन-यम नियम, आसन, प्राणायाम, दशविधि प्राणों को जीतने की महिमा, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का निरूपण किया गया है। अड़तीसवें अध्याय में योगमार्ग के विघ्न, सिद्धि-सूचक उपसर्ग तथा पृथ्वी से लेकर बुद्धि तत्त्वपर्यन्त ऐश्वर्य गुणों का वर्णन है।

उन्तालीसवें अध्याय में ध्यान और उसकी महिमा, योगधर्म तथा शिवयोगी का महत्त्व, शिवभक्त या शिव के लिये प्राण देने अथवा शिव क्षेत्र में मरण से तत्काल मोक्ष-लाभ का कथन है। चालीसवें अध्याय में वायुदेव का अन्तर्धान, ऋषियों का सरस्वती में अवभृथ-स्नान और काशी में दिव्य तेज का दर्शन करके ब्रह्मा जी के पास जाना, ब्रह्माजी की उन्हें सिद्धि-प्राप्ति की सूचना देकर मेरु के कुमारशिखर पर भेजने का उल्लेख है। इस संहिता के अन्तिम अध्याय में मेरुगिरि के स्कन्द-सरोवर के तट पर मुनियों का सनत्कुमार जी से मिलना, भगवान् नन्दी का वहाँ आना और दृष्टिपात मात्र से पाशच्छेदन एवं ज्ञानयोग का उपदेश करके चला जाना, शिवपुराण की महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

तृतीय अध्याय

शिव पुराण के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

1. भगवान् शिव
2. सती
3. पार्वती
4. कुमार कार्तिकेय
5. गणेश
6. ब्रह्मा
7. भगवान् विष्णु
8. शंखचूड
9. तारकासुर

चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत अध्याय में शिव पुराण के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण विवेचित है। शिव पुराण में भगवान् शंकर, सती, पार्वती, ब्रह्मा, विष्णु आदि देव-पक्ष तथा तारकासुर, शंखचूड आदि दैत्य-पक्ष के प्रमुख पात्र वर्णित हैं।

जिनका विवेचन अधोलिखित है—

भगवान् शिव

भगवान् शिव सृष्टि के आदि काल से ही समस्त प्राणी-समूह के दुःख-विनाशक एवं मंगलदायक आशुतोष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यह आदि और अन्त में मंगल रूप, समदर्शी एवं भक्तों का कल्याण करने वाले हैं। आद्यन्त में भी सम्पूर्ण विश्व कारणात्मा से इनमें स्थित है। ये जरा-मरण रहित, स्वप्रकाश-स्वरूप पंचमुख एवं पञ्चमहापातक दूर करने वाले हैं।[1] शिव-पुराण के प्रमुख नायक, परमशक्ति-सम्पन्न, देवाधिदेव भगवान् शंकर हैं। शिव पुराण का अध्ययन करने से भगवान् शिव के चरित्र में निम्नलिखित विशेषतायें परिलक्षित होती हैं।

शिव पुराण में भगवान् शिव निर्गुण और सगुण, निराकार एवं साकार, दोनों रूपों में वर्णित हैं। कोटिरुद्र-संहिता के 42वें अध्याय में सूत जी ने ऋषियों को बताया है किआदि सृष्टि में जो निर्गुण परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं, वेद और वेदान्त के ज्ञाताओं ने उनको ही शिव नाम वाला कहा है।[2] भगवान् शिव ने स्वयं कहा है—"मेरे सकल और निष्कल भेद से दो स्वरूप हैं। इसमें ब्रह्म रूप निष्कल है और ईश-रूप सगुण है।[3] मैं ही परब्रह्म हूँ और मेरा ही

---

1. शि० पु०, वि० सं०—1 : 1
2. शि० पु०, को० रु० सं०—42 : 2
3. शि० पु०, वि० सं०—9 : 30, 31

'सकल', 'अकल' रूप है। ब्रह्म होने से मैं ईश्वर हूँ, अनुग्रहादि मेरा कृत्य है।[1] प्रथम तो ब्रह्म ज्ञान के निमित्त निष्कल ब्रह्म का प्रादुर्भाव हुआ।[2]

शिव ही एक ब्रह्म होने से निष्कल कहलाते हैं। रूपी होने से वह सगुण हो जाते हैं। इस कारण वह सगुण-निर्गुण कहलाते हैं। निष्कल होने से वह निराकार हैं।[3] लिंग, बेर आदि से सदा प्राणी इनकी पूजा करते हैं।[4] भगवान् शिव भक्तों एवं देवताओं की प्रार्थना पर निर्गुण से सगुण हो जाते हैं। शिव ब्रह्म-रूप और कला-रहित होने से निर्गुण कहलाते हैं।[5]

रुद्र-संहिता के पार्वती—खण्ड में पार्वती ने ब्रह्मचारी-वेषधारी शिव से कहा है कि यथार्थ में वे निर्गुण ब्रह्म हैं; कारणवश सगुण हो जाते हैं, निर्गुण गुणात्मक की जाति किस प्रकार हो सकती है।[6] भगवान् शिव देवताओं में ब्रह्मा, रुद्रों में नीललोहित, सब भूतों की आत्मा हैं, सांख्य वाले शिव को 'पुरुष' कहते हैं। पर्वतों में सुमेरू, नक्षत्रों में चन्द्रमा हैं, ऋषियों में वशिष्ठ, देवताओं में इन्द्र हैं। वेदों में ओंकार, संसारके रक्षक हैं; लोक के हित के लिए सब प्राणियों की रक्षा करते हैं।[7]

शिव पुराण में शिव के विभिन्न स्वरूप वर्णित हैं। शिर पर गंगा धारण करने वाले, मस्तक पर चन्द्रमा, तीन नेत्र, पाँच मुख, प्रसन्नात्मा, दशभुजा, त्रिशूलधारी, कर्पूरगौरांग, भस्म शरीर में लगाये हुए शिव का बाह्य स्वरूप है।[8] शिव आश्रय-रहित, असंग, कुरूप, गुणहीन, श्मशानवासी, सर्पधारी, योगी, नग्न, मलिन-शरीर, सर्पों के भूषण धारण करने वाले, कुल नाम

---

1. शि० पु०, वि० सं०—9 : 36
2. वही—9 : 39
3. वही—5 : 10, 11
4. वही—5 : 13
5. वही—5 : 20
6. शि० पु०, रु० सं०, पा० सं०—28 : 6
7. शि० पु०, रु० सं०, कु० सं०—12 : 42-44
8. शि० पु०, रु० सं०, सृ० सं०—6 : 25, 26

से अज्ञात, कुशील, विहार-रहित, शरीर में भस्म मलने वाले, क्रोधी, अज्ञानी, अज्ञात आयु वाले, सदा विकट जटाधारी सबको आश्रय देने वाले भ्रमण करने वाले, नागों के हार धारण करने वाले, भिक्षुक, कुमार्ग में निरत, हठ से वेद मार्ग का त्यागने वाला रूप भी वर्णित है।[1]

शिव-पुराण में शिव सामान्य देवता नहीं हैं। वे परमात्मा, सबके ईश्वर हैं। इन्द्रादिक सभी देवता उनकी आज्ञा मानते हैं। प्रजापति, मुनि, सिद्ध, उरग-गण उनके वशवर्ती हैं। उनके भृकुटी फेरने मात्र से प्रलय हो जाता है। वह शिव पूर्ण रूप, लोक का संहार करने वाले हैं। वह सत्पुरुषों गति, दुष्टों को मारने वाले, निर्विकार से परे हैं। वह ब्रह्मा और हरि के भी अधिपति महेश्वर हैं। उनके शासन की कोई अवमानना नहीं कर सकता।[2]

भगवान् शम्भु दीनबन्धु, परात्पर हैं। आप भक्त-वत्सल अपने ही कर्त्तव्य से आप प्रसन्न होते हैं।[3] यद्यपि शिव सबके ईश्वर हैं, तथापि भक्तों के अधीन हैं।[4] भगवान् शिव गुणमयी अपनी माया में प्रवेश करके जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हुए क्रिया के अनुसार नाम धारण करते हैं। वास्तव में वे एक ही हैं।[5] भगवान् शिव, विष्णु आदि देवताओं के निन्दकों को कभी भी स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है—जो हरि-भक्त होकर मेरी निन्दा करे तो हम दोनों देवताओं के शाप से उसको तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी।[6]

भगवान् शिव दुःसाध्य एवं दुर्लभ हैं। गिरिराज हिमालय ने अपनी पुत्री पार्वती से शिव-प्राप्ति को दुर्गम बताते हुए कहा कि जैसे आकाश में स्थित चन्द्रमा को कोई ग्रहण नहीं कर

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० सं०—31 : 44-47
2. शि० पु०, रु० सं०, यु० खण्ड—32 : 24-28
3. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—42 : 41
4. वही—43 : 3
5. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—43 : 13
6. वही—43 : 21

सकता उसी प्रकार हे पापरहित! तुम शिव को दुर्गम जानो।[1] परन्तु वे तपस्या से प्राप्त होने वाले भी हैं। पार्वती कहती हैं कि मैं सत्य-सत्य कहती हूँ कि भगवान् शंकर केवल महान् तपस्या के बल से ही सेवित हो सकते हैं।[2] महर्षि नारद ने भी पार्वती के माता-पिता को समझाते हुए कहा कि शिव जी शीघ्र प्रसन्न होने वाले हैं। वे शिवा को अवश्य ग्रहण करेंगे। वे शंकर तप से सिद्ध हो सकते हैं, यदि तुम्हारी पुत्री तपस्या करे।[3]

भगवान् शिव युवतियों को तपस्या में विघ्न करने वाली मानते हैं। वे पार्वती के पिता हिमालय से पार्वती को दर्शनार्थ अपने निकट लाने के लिए मना करते हैं। वे कहते हैं कि सुन्दर नितम्ब वाली, श्रेष्ठ चन्द्रमा के समान मुख वाली इस कुमारी को तुम मेरे समीप मत लाना। इस विषय में तुमको बार-बार निषेध करता हूँ। वेद-पारगामी ब्राह्मणों ने स्त्री को मायारूपिणी कहा है। विशेषकर युवती, तपस्वियों को विघ्न करने वाली होती है। मैं तपस्वी, योगी, माया से सदा पृथक् हूँ। हे भूधर! युवती, स्त्री से मेरा प्रयोजन ही क्या है? हे पर्वतराज! स्त्रियों से शीघ्र ही विषयोत्पत्ति होती है। उससे वैराग्य और श्रेष्ठ तप नष्ट हो जाताहै। हे शैलराज! इस कारण तपस्वियों को स्त्रियों का संग नहीं करना चाहिए। यह महाविषय का मूल, ज्ञान-वैराग्य का नाश करने वाला है।[4]

पर्वतराज-पुत्री पार्वती के विवाह के लिए सहमत करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं के कहने पर शिव जी कहते हैं कि जहाँ तक बने, मनुष्यों तक को विवाह-बन्धन उचित नहीं है। यह दृढ़ बन्धन विवाह मायानिगड बन्धन है। लोगों को संसार में बहुत से कुसंग हैं। उनमें स्त्री-संग महा हानिकारक है। सब बन्धनों से उद्धार हो सकता है, परन्तु स्त्री-बन्धन

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—23 : 7
2. वही—22 : 15
3. वही—8 : 22
4. वही—12 : 28-33

से छुटकारा नहीं हो सकता। लोहे के तथा दारुमय पाशों से दृढ़ बँधा हुआ भी पुरुष छुटकारा पा सकता है, परन्तु स्त्री-संग के पाश में बँधा हुआ कभी छुटकारा नहीं पा सकता।[1]

भगवान् शिव कामदेव को भस्म करने वाले हैं। रति के विलाप तथा देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर रति को वरदान दिया कि श्रीकृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न तुम्हारा पति होगा।[2]

शिव जी का पत्नी के प्रति अगाध प्रेम है। उमा ने स्वयं विष्णु आदि देवताओं से कहा है—वह (शिव) प्रेम से मेरी अस्थियों की पवित्र माला को प्रेम से गले में धारण किये भी कहीं शान्ति को नहीं प्राप्त होते और निरन्तर जागृत् रहते हैं। अनीश के समान वह प्रभु इधर-उधर ऊँचे स्वर से रोदन करते हैं। योग्य-अयोग्य के ज्ञान से रहित सर्वदा सर्वत्र भ्रमते रहते हैं। इस प्रकार कामियों की गति दिखाते हुए शंकर लीला करते हैं और विरह से व्याकुल हो कामियों के समान वाणी बोलते हैं।[3]

भगवान् शिव लोक-रीति एवं मर्यादा के प्रतिपालक हैं। उन्होंने थोड़े से दोष के कारण सती-जैसी पवित्र नारी का परित्याग कर दिया। उन्होंने कहा—यदि मैं दक्षसुता से पूर्ववत् स्नेह करूँगा तो लोक-लीला का अनुसरण करने वाली मेरी प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी।[4]

शिव ही जगत् के धाता, सब विद्या के प्रति प्रभु हैं। वही आदि विद्या के श्रेष्ठ स्वामी, सब मंगलों के मंगल करने वाले हैं।[5]

भगवान् शिव लीलाधारी हैं। पार्वती-प्राप्ति हेतु नट का रूप धारण किया। उसी समय लीला करने में तत्पर, भक्त-वत्सल, नचाने वाले नट का रूप धारण कर मेनका के समीप गये।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—24 : 60-62
2. वही—19 : 40
3. वही—4 : 37-39
4. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—25 : 50
5. वही—31 : 18

बायें हाथ में शृंगी और दाहिने हाथ में डमरू, पीठ पर गुदडी धारे लाल वस्त्र पहने नृत्य और गान में चतुर, इस प्रकार का रूप धारण कर मेनका के द्वार पर बड़ी प्रसन्नता से अनेक प्रकार का नृत्य और मनोहर गान करने लगे।[1]

पार्वती-विवाह में द्वार-पूजा के अवसर पर शिव तथा उनके अनुचरों का दृश्य दर्शनीय है। कोई वायु का रूप धारे पताका के समान मर-मर शब्द वाले वक्रतुण्ड और विरूपाक्ष थे। किन्हीं की विकराल दाढ़ी, मूछें, कोई गंजे, कोई नेत्रहीन, कोई दण्ड, पाश और कोई मुद्‌गर हाथों में लिये थे। कोई-कोई विरुद्ध वाहनों पर चढ़े शृंगीनाद करने वाले, कोई डमरू बजाते और कोई-कोई मुख से शब्द करते थे। कोई मुख-रहित, कोई विकट-मुख, कोई गण बहुत मुख वाले थे। कोई हाथ-रहित, कोई विकट हाथ वाले और कोई बहुत हाथ वाले थे। ....इस प्रकार शिव जी के साथ नाना वेशधारी गण थे।[2]

इस प्रकर के गणों के मध्य में निर्गुण, सगुण रूप शंकर को वृष पर चढ़े, पाँच-मुख, तीन-नेत्र, विभूति-भूषित मेना ने देखा। जो जटा-जूट, बांधे, माते पर चन्द्रमा धारे, दश हाथ, कपाल धारे, व्याघ्र चर्म ओढ़े, हाथ में पिनाक् धनुष लिए, शूल-युक्त, विरूपाक्ष, विकट-रूप, गजचर्म ओढ़े, शंकर के देख पार्वती की माता बड़ी व्याकुल हुईं।[3]

भगवान् शंकर मेना की व्याकुलता को देखकर पुनः परमानन्द-दायक रूप धारण करते हैं—

कोटिसूर्यप्रतीकाशं सर्वावयवसुन्दरम्।
विचित्रवसनं चात्र नानाभूषणभूषितम्॥
सुप्रसन्नं सुहासं च सुलावण्यं मनोहरम्।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—30 : 26 : 28
2. वही—43 : 51-55
3. वही—43-59-61

गौराभंद्युतिसंयुक्तं चन्द्ररेखाविभूषिताम्

× × × × × ×

अर्थात् कोटि सूर्य के समान कान्तिमान, सम्पूर्ण अवयवों से सुन्दर, विचित्र वस्त्र और अनेक प्रकार के भूषण धारण किये, प्रसन्नता से युक्त, सुन्दर लावण्य से मनोहर, गौर-कांति, चन्द्रशेखर से विभूषित, विष्णु आदि सब देवता प्रेम से जिनकी सेवा कर रहे हैं, शिर के ऊपर सुन्दर छत्र और चन्द्रमा विशेष रूप से शोभायमान हो रहा था।×××[1] वहीं हिमाचल के नगर में शिव का परम रमणीय रूप दर्शनीय है, चम्पे के वर्ण के समान कान्ति वाले, पंच-मुख, तीन-नेत्र, कुछेक हास्य से प्रसन्न-मुख, रत्न और सुवर्णादि से भूषित, मालती की माला पहने, अच्छे रत्नों का उज्ज्वल मुकुट धारण किये, सुन्दर कंठ का भूषण धारण किये, कंगन और बाजूबन्दों से शोभायमान, अति सूक्ष्म मनोहर विभूति लगाये, अमूल्य शोभायमान वस्त्र धारण किये हुए थे।×××[2]

भगवान् शिव ने विवाहोपरान्त अपने स्थान में आकर मुनियों को प्रणाम किया। यद्यपि सब देवता उनको प्रणाम करते हैं, तथापि लौकिक आचार से उन्होंने ब्रह्मा और विष्णु को प्रणाम किया।[3]

शिव जी का एक नाम पशुपति है। चूँकि देवता, असुर सब कोई उन प्रभु के पशु हैं और शिव जी उन पशुओं को पाश-मुक्त करने वाले हैं, इसलिए उन्हें पशुपति भी कहा जाता है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् शिव चराचर के स्वामी, सृष्टि-पालन-संहारकर्ता,

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—45 : 9-18
2. वही - 46 : 5-10
3. वही—51 : 33
4. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—9 : 23-24

आशुतोष, भक्त-वत्सल, क्षमाशील, काम-क्रोधादि-दोष-विवर्जित, कामारि, अद्‌भुत-लीलाधारी, दिगम्बर, श्मशान-सेवी, सर्पादि भूषणों से भूषित, करुणा-सागर, सती-पार्वती के प्रति अगाध-प्रेम वाले, मर्यादा-रक्षक, देवाधिदेव आदि गुणों से सम्पन्न, सुरासुर-दैत्य-दानवादि से सेवित, सर्वशक्ति-सम्पन्न देवता के रूप में भी शिव पुराण में प्रतिष्ठित हैं।

सती

किसी भी काव्य अथवा नाटक में नायिका की भूमिका नायक से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। वह भी नायक के सामान्य गुणों से युक्त होती है।[1] स्वकीया, परकीया एवं सामान्या भेद से नायिका तीन प्रकार की होती है। साहित्य-दर्पण,[2] दशरूपक,[3] काव्यानुशासन[4] एवं रसार्णव-सुधाकर[5] में भीइसी प्रकार नायिका के तीन भेद वर्णित हैं।

नाट्यशास्त्र तथा नाट्यदर्पण में कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया और पण्यस्त्री—इन चार प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख है।[6]

शिव पुराण के नायक भगवान् महादेव की दो पत्नियाँ थीं।

1. दक्ष-सुता सती।

2. हिमाचलतनया पार्वती।

शिवजी का पहले सती के साथ विवाह हुआ था। दक्ष के यज्ञ में देहत्याग के पश्चात् उनका पुनर्विवाह हिमालय की पुत्री पार्वती, जो सती का ही अवतार थीं, के साथ हुआ। सती और पार्वती लोकोत्तर-प्रतिभा-सम्पन्न, दैवी शक्तियों से युक्त सुरासुर-पूजित दिव्य नारी हैं। इनका क्रमशः चरित्र-चित्रण किया जायेगा।

---

1. 'संस्कृत नाटक' ए० बी० कीथ, पृष्ठ 329 (1965)
2. अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणस्त्रीति।
   नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासम्भव युक्ता॥ — साहित्य दर्पण, 3 : 56
3. स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा। — दशरूपक, 2 : 15
4. 'तद्गुणा स्वपरसामान्या नायिका त्रिधा।' — काव्यानुशासन, सप्तम अधिकार
5. नेतृसाधारणगुणैरुपेता नायिका मता।
   स्वकीया परकीया च सामान्या चेति सात्रिधा॥ — रसार्णवसुधाकर, 1 : 94
6. 'नायिका कुलजा दिव्या क्षत्रिया पण्यकामिनी।' — नाट्य दर्पण, 4 : 255

शिव पुराण में सती भगवान् शिव की पार्वती से पूर्व अर्द्धांगनी थीं। ये ब्रह्माके पुत्र दक्ष प्रजापति की कन्या हैं। इनकी माता का नाम असिक्नी वारिणी था।[1] ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों की स्तुति पर देवी ने सती रूप में जन्म लेना स्वीकार किया।[2] उन्होंने कहा कि जैसे पृथ्वी पर सभी जन्तु स्त्री के वश में होते हैं, उसी प्रकार मेरी भक्ति से वह महादेव स्त्री के वश में हो जायेंगे,[3] क्योंकि उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उन्हें दुर्गा-शिव शक्ति को छोड़कर शंकर को मोहित करने वाली दूसरी नहीं है।[4] दक्ष की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर देवी ने कहा—मैं उनकी प्रत्येक जन्म में दासी ही हूँ और नाना रूप धारण करने वाले वे भी मेरे पति हैं। हे पुत्र! घर जाओ, शीघ्र ही मैं तुम्हारी कन्या होकर शिव-पत्नी होऊँगी।[5]

सती नारी-शिरोमणि एवं अनुकरणीय चरित्र वाली हैं। वे शिव के लिए दु:सह तपस्या करती हैं। शिव प्रसन्न होकर उनके सम्मुख प्रकट होते हैं तो सती लज्जित हो जाती हैं।[6] लज्जा को धारण कर सती ने शिव से कहा जो कुछ आप की इच्छा हो वही वर दे दीजिए। शिव ने अपनी वामांगी होने का वरदान दिया।[7] सती ने शिव से विनम्र निवेदन किया कि हे जगत्पति! देवों के देव! पिता के सन्मुख विवाह की विधि से आप मुझे स्वीकार कीजिए।[8] शिवजी के तथास्तु कहने पर उनकी आज्ञा प्राप्त कर सती जी प्रसन्नतापूर्वक अपनी माता के समीप चली गईं।[9] शिव जी ने समय आने पर देवताओं की प्रार्थना पर और स्वयं अपना

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—1 : 17
2. वही—11 : 46
3. वही—11 : 49
4. वही—11 : 42
5. वही—12 : 31
6. वही—17 : 7
7. वही—17 : 15
8. वही—17 : 22
9. वही—17 : 24

अनुराग होने के कारण सती के साथ विवाह किया और ब्रह्मा की आज्ञा से दोनों ने अग्नि की प्रदक्षिणा की।[1] शिवजी संसार के पिता और सती जी संसार की माता और ब्रह्मादि देवता सब उनके दास हैं।[2]

विवाहोपरान्त सती जी शिव जी के साथ कैलास पर्वत पर जाती हैं, जहाँ उनके साथ सुन्दर रमणीय स्थानों पर विहार करती हैं। शिव की चेष्टाओं के अनुकूल उन्हें सुख देती हैं।[3] सती जीशिव को इतना प्रिय थीं कि शिवजी सती जी के चन्द्ररूपी मुख के अमृत के पान से प्रसन्न हुए। शिव अपनी विशिष्ट अवस्था का कुछ ध्यान न करते थे। उनके मुख कमल के आवास से, उसकी सुन्दरता से, उसकी क्रीडा से महादेव जी ऐसे बँधे, जैसे कोई हाथी रस्सियों से बँधी हो। इस प्रकार हिमालय के कुंजो में, सानुओं पर और गुफाओं में शिव जी सती के साथ प्रतिदिन रमण करते थे।[4]

सती के चरित्र की अगली विशेषता है उनका सद्गृहिणी होना। सतीजी केवल रमणी ही नहीं, अपितु उनमें गृहिणी के भी गुण विद्यमान हैं। वैवाहिक (दाम्पत्य) जीवन के नूतन सुख सागर में निमज्जित होते हुए भी उन्हें भावी परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान है। वर्षाकाल के आगमन के पूर्व ही वह शिव जी से वर्षाकाल की भयंकरता एवं आवासीय व्यवस्था के प्रति सजग करती हैं। वे कहती हैं कि विषम काल में काक और मयूर भी अपना घोषला बनाते हैं, भला कहो कि बिना घर के तुम कैसे शान्ति पाओगे? हे पिनाकी! मुझे मेघों से बड़ा डर लगता है।इसलिए मेरे कहने से कहीं घर का प्रबन्ध करो। हे वृषभध्वज! कैलास में अथवा हिमालय में अथवा महाकाशी में अथवा पृथ्वी में, जहाँ उचित हो, प्रबन्ध करो।[5]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—19 : 11
2. वही—19 : 38
3. वही—21 : 27
4. वही—21 : 45-47
5. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—22 : 18-20

सती नारी-शिरोमणि होते हुए भी नारी-सुलभ मोह से वंचितं नहीं हैं। वन में, सीता के विरह में, विचरण करते समय शिव जी ने जब श्री रामचन्द्रजी को प्रणाम किया तो सती ने उनका परिचय और प्रणाम का कारण पुँछा। भगवान् शिव ने बताया कि हे देवी! यह राम-लक्ष्मण नाम वाले सूर्य-वंशोत्पन्न महाप्राज्ञ दशरथ के पुत्र हैं। इनमें राम नाम वाले पूर्णांश निरुपद्रव विष्णु रूप हैं। यह भूमि पर साधुओं की रक्षा के निमित्त अवतरित हुए हैं।[1]

शिव, सती के मन में अविश्वास को जानकर उनसे राम की परीक्षा लेने को कहते हैं। सती पति की बात में अविश्वास करके सीता का रूप धारण कर वनचारी विरही राम के पास जाती हैं।[2]

प्रस्तुत स्थल पर सती के अविवेक का आभास होता है, क्योंकि बिना भावी परिणाम की कल्पना किये वे सीता का रूप धारण कर लेती हैं रामचन्द्रजी द्वारा सती को पहचान लेने पर चकित सती सहज भाव से अपनी शंका कह देती हैं कि शिवजी बिना चुतर्भुज आप का रूप देखकर अत्यन्त आनन्द-मग्न हैं। उन्होंने आप के विषय में मुझसे कहा, पर शिव के वचनों से मेरे मन में भ्रम हो गया, हे राघव! उन्हीं की आज्ञा से मैं आप की परीक्षा लेने आई थी।[3]

वस्तुत: सती के चरित्रमें एक दोषपूर्ण मोड़ पुन: आया जबकि अपने पति सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वभूतात्मा भगवान् शंकर से उन्होंने असत्य-भाषण किया। जब शिव जी ने सती से पूँछा कि परीक्षा किस प्रकार ली तो सती ने मस्तक झुका लिया और कहा—'कुछ भी परीक्षा न ली।[4] सती के जीवन की यह घटना संत-शिरोमणि गोस्वामी जी की निम्नलिखित पंक्तियों का

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—24 : 38-40
2. वही—24 : 41
3. वही—24 : 57, 58
4. वही—25 : 45, 46

ध्यान दिलाती है—

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया।
भय अबिबेक असौच अदाया॥[1]

सती पति के अपमान को न सहन करने वाली स्त्री हैं। यह जानकर कि उनके पिता ने अपने यज्ञ में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, वशिष्ठ आदि को बुलाया है, सिर्फ शिव को न बुलाकर उनका अपमान किया, वह क्रोधित होकर कहती हैं—जो महादेव की निन्दा करते हैं व निन्दा करते हुए को सुनते हैं वे दोनों चन्द्र-सूर्य की स्थिति पर्यन्त नरकगामी होते हैं।[2]

इसलिए हे तात! अग्नि में प्रवेश करके देह-त्याग करती हूँ। स्वामी का अनादर सुनने से फिर मुझे जीने से क्या प्रयोजन है।[3]

सती कहती हैं कि उस जन्म को धिक्कार है, जिस जन्म में महान् पुरुषों की निन्दा हो। बुद्धिमान् को, विशेष कर तुम्हारा सम्बन्ध त्याग देना चाहिए।[4]

सती स्वाभिमानी नारी हैं। वे अपने पिता के नाम से सम्बन्धित अपने नाम दाक्षायणी तथा दक्ष से उत्पन्न शरीर को भीअपने पास नहीं रखना चाहती हैं। वे कहती हैं—तुम्हारे गोत्रसे जो शंकर मुझे दाक्षायणी कहते हैं, मैं अब उससे दुःखी होऊँगी। इस कारण तुम्हारे शरीर से उत्पन्न इस गर्हित देह को मैं अभी त्यागकर सुखी होऊँगी।[5] इस प्रकार सती, अपने पति शंकर

---

1. श्री रामचरित मानस—लंका काण्ड, दोहा—15 से आगे
2. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—29 : 38
3. वही—29 : 39
4. वही—29 : 59
5. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—29 : 60, 61

के चरणों का ध्यान करती हुई, योगाग्नि में अपनी देह को भस्म कर सती-शिरोमणि हो गईं।[1]

सती त्रिलोकी की माता, कल्याणी, सदा शंकर के अर्धांग में निवास करने वाली थीं।[2] वह सती विष्णु-माता, जगन्माता, विलासिनी तथा ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, अग्नि, सूर्यादि की अनादि जननी हैं। वह सती ही तपस्या, दान, धर्म के फल की दात्री हैं। वह शिव की शक्ति, महादेवा, दुष्ट-संहारिणी, परे से परे हैं।

इस प्रकार सार रूप में कहा जा सकता है कि सती शिव की शक्ति-स्वरूपा देवी दुर्गा का अवतार हैं। ये अनेक दिव्य गुणों से सम्पन्न परम तपस्विनी तथा शिव की अनन्य उपासिका हैं। यह सती-शिरोमणि, अनुकरणीय चरित्र वाली, पति में रमणशील, सद्गृहिणी, दूरदृष्टि, न्याय, साहस एवं स्वाभिमान सम्पन्न, त्रिजगत् की अनादि जननी, दुष्ट-दल-संहारिणी एवं भक्त-हृदय-विहारिणी शिव की अर्द्धांगिनी हैं। यद्यपि इनके चरित्र में नारी-सुलभ दुर्बलता की श्यामलता की झलक दिखाई पड़ती है, तथापि वह निशाकरकी धवल ज्योत्सना में उसकी मलिनता की भाँति विलीन होकर दिव्य चरित्र की नैसर्गिक सुषमा में श्री-बुद्धि ही करती हैं। सती का चरित्र वह अलौकिक प्रकाश-पुंज है जो नारी-जगत् में सदैव नवजीवन का संचार करता रहेगा।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—30 : 8
2. वही—31 : 8

पार्वती

पार्वती लोकोत्तर-प्रतिभा-सम्पन्न, अलौकिक शक्तिमती दिव्य नारी हैं। ये पर्वतराज हिमालय और मेना की पुत्री हैं। मेना पूर्वजन्म में पितरों (स्वधा) की कन्या थीं।[1] इनका विवाह विष्णु के अंश-रूप हिमालय से हुआ। इन्हीं मेना और हिमालय से पार्वती का जन्म हुआ।[2]

पार्वती त्रिलोक-जननी, सब शक्तियों की आद्या हैं। यह सदा शिव की प्रिया, सब देवताओं से स्तुति को प्राप्त हैं।[3] इन्होंने मेना और हिमालय से कहा था कि मैं पृथ्वी पर अद्‌भुत लीलाकर देवकार्य करूँगी; शिव-पत्नी होकर सज्जनों को तारूँगी।[4] पार्वती हिमालय के यहाँ महाकान्तिमान कन्या होकर लौकिकी गति को आश्रय कर रोदन करने लगीं।[5] अरिष्ट की शय्या में उनके मुख के तेज से अर्ध रात्रि के दीपक निस्तेज चित्र के समान रह गये।[6]

पार्वती का वर्ण श्याम है, क्योंकि कहा गया है कि नीलोत्पल-दल के समान श्याम-वर्ण श्रेष्ठद्युति से मनोहर ऐसी कन्या को देखकर गिरिराज बड़े प्रसन्न हुए।[7] पार्वती-खण्ड अध्याय 46 के 24वें श्लोक में पार्वती को नील अंजन-पर्वत के समान वर्ण वाली अपने अंगों से विभूषित कहा गया है।[8]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—2 : 7, 8
2. वही—2 : 28
3. वही—6 : 45
4. वही—6 : 53
5. वही—7 : 01
6. वही—7 : 02
7. वही—7 : 07
8. वही—46 : 24

पार्वती के जन्म के पश्चात् शुभ मुहूर्त में हिमालय ने मुनियों के साथ सुता के काली, तारा, महाविद्या, भुवनेश्वरी, भैरवीविद्या, धूमावती, बगलामुखी, सिद्धविद्या, मातंगी, कमलात्मिका इत्यादि सुखदायक नाम किये।[1] इनका कुलोचित नाम पार्वती (पर्वतस्य अपत्यं कन्या पार्वती) लेकर सब उच्चारण करने लगे।

पार्वती अनेक गुणों एवं शुभ लक्षणों से युक्त हैं। महर्षि नारद ने इनके गुणों का वर्णन करते हुए हिमालय से कहा है—यह आप की कन्या चन्द्रकला के समान बढ़ती है। हे मेने! हे शैलराज! यह सब लक्षण-संयुक्त आद्या कला है। अपने पति को अत्यन्त सुखदायिनी और पति की कीर्ति बढ़ाने वाली होगी। महापतिव्रता सब नारियों में होगी। सब को महा आनन्द करने वाली होगी।[2] पार्वती जी का वह प्रभाव है कि भगवती के प्रकट होने से हिमालय के यहाँ सर्वस्व हो गया और उस नगर के सब दु:ख मिट गये।[3]

महर्षि नारद ने बताया कि पार्वती का पति योगी, नंगा, गुण-रहित, अकाम, माता-पिता से रहित, अमंगल-वेशधारी होगा।[4] नारद जी की बात को सुनकर मेना और हिमालय दोनों दु:खी हुए; किन्तु जगदम्बिका शिवा शिव जी में यह लक्षण विचार कर मन में अत्यन्त प्रसन्न हुईं। दु:खी दम्पति से महर्षि नारद ने पुन: कहा-कर-रेखा तथा ब्रह्मा की लिपि कभी मिथ्या नहीं होती।[5] उन्होंने बताया—यह सारे अशुभ लक्षण लीला-रूप-धारी शंकर में पाये जाते हैं। जितने कुलक्षण हैं, शंकर में वह सब सुलक्षण ही हैं। प्रभुओं में दोष भी दु:ख के निमित्त नहीं होते, कारण है कि वह दु:ख को दूर करने में समर्थ हैं। जैसे रवि पावक और गंगा में अशुभ

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—7 : 11
2. वही—8 : 8, 9
3. वही—6 : 36
4. वही—8 : 11
5. वही—8 : 17

वस्तु भी पड़ने से वह दोष नहीं होता।[1]

पार्वती-खण्ड के 12वें अध्याय में प्रथमारूढ़-यौवना पार्वती के स्वरूप का वर्णन भगवान् शंकर ने इस प्रकार किया है। पार्वती यौवन की प्रथमावस्था में विकसित नील कमल के समान कांति वाली तथा पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली थी। सम्पूर्ण लालाओं का स्थान सुन्दर वेश से प्रकाशित शंख के समान गर्दन, विशाल नेत्र, सुन्दर दोनों कानों में कर्ण-भूषणों से उज्ज्वल, मृणाल के समान चिकनी लम्बायमान भुजा, कमल-कली के समान घने दृढ़ दोनों स्तन, क्षीणकटि को धारण लिये, त्रिवलीयुक्त मध्य भाग से शोभायमान, स्थल-पद्म के समान दोनों चरणों में विराजमान थी।[2] पार्वती का सौन्दर्य, ध्यान में निमग्न मन को वशीभूत करने वाले मुनियों के भी मन को दर्शन मात्र से हरण करने में समर्थ था। वह स्त्रियों की शिरोमणि थीं।[3]

पार्वती अति बुद्धिमती एवं विवेकशील तथा साहसी नारी हैं। शिव द्वारा अपने को माया रूपिणी, तपस्या में बाधक एवं ज्ञान-वैराग्य-नाशिनी आदि कह कर समीप आने के लिए निषेध करने पर पार्वती कहतीं है कि हे शिव! तप की शक्ति से युक्त होकर ही आप महातपस्या करते हो, सो आप महात्मा की भी तपस्या करने में बुद्धि लगी।[4] वह सब कर्मों की शक्ति प्रकृति कहलाती है। उसी से सबकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है।[5] जो आप सुनते, खाते देखते और करते हो यह सब प्रकृति का ही कार्य है। यदि आप प्रकृति से परे हो तो तपस्या क्यों करते हो। हे प्रभो शंकर! यदि ऐसा ही है तो यहाँ एकान्त तपस्या की आवश्यकता क्या

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—8 : 19, 20
2. वही—2 : 6-9
3. वही—12 : 12
4. वही—13 : 2
5. वही—13 : 3

है?[1]

आगे पार्वती पुन: कहती हैं कि हे योगीश! बहुत कहने से क्या है, आप मेरे वचन सुनें। वह प्रकृति मैं हूँ। आप पुरुष हैं, यह सत्य है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। मेरे अनुग्रह से ही आप सगुण ब्रह्म रूप वाले हुए हैं। मेरे बिना आप निरीह हैं और कुछ भी करने को समर्थ नहीं हैं। आप वशी होकर भी अनेक कर्म करने वाले हो, आप निर्विकारी कैसे हो, मुझसे कैसे लिप्त नहीं हो। यदि आप प्रकृति से परे हो और यह आप के वचन सत्य हैं तो हे शंकर! मेरे समीप रहने से आप को भय नहीं करना चाहिए।[2]

भगवती पार्वती भगवान् शिव को प्राप्त करने हेतु कठोर तपस्या करती हैं। यद्यपि उनकी माता मेना ने कहा कि हे वत्से! तेरा शरीर बड़ा कोमल है और तप करना बड़ा कठिन है। इससे तुम यहीं तपस्या करो, बाहर मत जाओ। साथ ही यह भी कहती हैं कि स्त्रियों की तपोवन में गति नहीं सुनी जाती। अत: वन में गमन मत करो।[3] माता के निषेध करने पर भी अनेक प्रकार के मत और अनेक प्रकार के वस्त्रों को छोड़कर पार्वती ने सुन्दर मौंजी कमर में बांधकर वल्कल वस्त्र धारण किये। हार को छोड़कर मृगचर्म धारण किया और गंगोत्री के समीप तपस्या करने गईं।[4]

पार्वती की महातपस्या से चर, अचर, तीनों लोक देवता और असुर सब कोई सन्तप्त होने लगे।[5]

पार्वती शिव की प्राप्ति न होने पर अग्नि में प्रवेश करने की चेष्टा करती हैं। वे विप्र-वेषधारी भगवान् शिव से कहती हैं कि मैंने प्राण-वल्लभ की प्राप्ति के लिए कठिन तपस्या की

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—13 : 13, 14
2. वही—13 : 18-21
3. वही—22 : 22-23
4. वही—22 : 29, 30
5. वही—23 : 19

है, परन्तु उनकी प्राप्ति नहीं हुई। इस कारण अग्नि में प्रवेश करती हूँ। तुमको देखकर क्षणमात्र को विलम्ब करती हूँ। आप पधारें। मुझको शिव जी ने अंगीकार नहीं किया, इस कारण अग्नि में प्रवेश करती हूँ, जहाँ कहीं जन्म होगा, पति होंगे तो शंकर ही होंगे। यह कह कर शिवा अग्नि में प्रवेश करती हैं, किन्तु अग्नि चन्दन के समान शीतल हो गईं।[1]

भगवान् शिव ने पार्वती को स्त्रीरत्न बताया है — तुम स्त्रियों में रत्न हो। आप के पिता भी सब पर्वतों के राजा हैं। तब ऐसे पति के लिए ऐसी कठिन तपस्या से कैसे इच्छा करती हो।[2] विप्र-वेषधारी शिव द्वारा शिव की निन्दा करने पर पार्वती ने कहा मैंने इतना जाना था कि यह कोई अन्य है, पर इस समय तुम्हारा सब बात जान ली। क्या करूँ क्रोध तो बहुत है, पर ब्रह्मचारी अवध्य होते हैं। हे देव! जो तुमने कहा वह सब ही मिथ्या है। जो तुमने कहा कि हम उनको जानते हैं, यह सब तुम्हारा कहना मिथ्या है। यदि तुम जानते होते तो ऐसे बचन कभी न कहते।[3] जिसके मुख से शिव ऐसा मंगल नाम निरन्तर निकलता है उसके दर्शन से दूसरे प्राणी भी सदा पवित्र हो जाते हैं—

शिवेति मंगलन्नाम मुखे यस्य निरन्तरम्।
तस्यैव दर्शनादन्ये पवित्रास्सन्ति सर्वदा।।[4]

विप्र-वेष से शिव-वेष में आने पर प्रसन्न हो पार्वती कहती हैं—

यदि प्रसन्नो देवेश करोषि च कृपां यदि।
पतिर्भवममेशान मम वाक्यं कुरु प्रभो।[5]

अर्थात् यदि आप प्रसन्न हो,यदि आप कृपा करते हो तो हे ईशान! मेरे बचन मानकर

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—26 : 22
2. वही—28 : 20
3. वही—28 : 12
4. वही—27 : 20
5. वही—28 : 12

आप मेरे पति होइये। पार्वती शिव-दर्शन के पश्चात् उनके कहने पर पिता जी के घर आ गईं। उनके आने पर हिमालय और मेना बहुत प्रसन्न हुए।[1]

विवाह के पूर्व पार्वती एवं शिव का यज्ञोपवीत संस्कार होता है:

ततः शैलवरः सोऽपि प्रीत्या दुर्गोपवीतकम्।
कारयामास सोत्साहं वेदमन्त्रैश्शिवस्य च॥ [2]

पार्वती की विदाई के समय उन्हें पतिव्रता-धर्म की शिक्षा दी जाती है, क्योंकि—

धन्या पतिव्रता नारी नान्या पूज्या विशेषतः।
पावनी सर्वलोकानां सर्वपापौघनाशिनी॥ [3]

पार्वती पुत्र-वात्सल्य से परिपूर्ण हैं। यद्यपि स्कन्द उनके औरस पुत्र नहीं हैं, फिर भी शरकण्डे के वन में जब शिशु रूप में स्कन्द का जन्म होता है तो वात्सल्य का रस उनके स्तनों से दूध के रूप में टपकने लगता है—

शिवाकुचाभ्यां सुस्राव पय आनन्दसंभवम्। [4]

भगवान् शिव द्वारा गणेश का शिरच्छेद करने पर क्रुद्ध होकर देवी पार्वती ने अपनी शक्तियों से कहा—तुम सब देवी अभी मेरी आज्ञा से इस देव सेना में जाकर प्रलय कर डालो। देवता, ऋषि, यक्ष, राक्षस, अपने पराये जो मिलें, इन सबको हठ से भक्षण कर जाओ।[5]

ऋषियों की प्रार्थना एवं स्तुति पर देवी ने कहा—मेरा पुत्र यदि जीवित हो जाय और

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—30 : 21
2. वही—47 : 01
3. वही—54 : 09
4. शि० पु० रु० सं०, कु० खं०—2 : 70
5. वही—17 : 10, 11

तुम सबके बीच में वह प्रथम पूज्य हो तो यह संहार नहीं होगा।[1] देवी पार्वती की इस बात को स्वीकार करके, हाथी का सिर जोड़कर गणेश जी को पुनर्जीवित करके, उन्हें गणाधिपति बनाकर सभी देवों ने उनकी पूजा करके उन्हें पूज्य बनाया। तब पार्वती जी का क्रोध शान्त हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्वती का चरित्र अपरिमित दिव्य गुणों का आगार है। यह अखिलदेव-पूज्या, अद्‌भुत लीलाधारिणी, माता-पिता की अति प्रिय कन्या हैं। यह आद्या कला आदि शक्ति दुर्गा का अवतार होते हुए भी माता-पिता तथा गुरु के प्रति पर्याप्त श्रद्धा एवं सम्मान से युक्त हैं। शिव जो पुरुष हैं तो पार्वती प्रकृति। यह पति हेतु अखण्ड-व्रत-धारिणी परमतपस्विनी, नारी हैं। यह अत्यन्त बुद्धिमती, विवेकशीला एवं साहसी नारी तथा दृढ़ संकल्प वाली आदर्श जननी हैं।

पार्वती का चरित्र वह विशाल वट वक्ष है जिसकी शीतल स्निग्ध सान्द्र छाया में नारी जीवन के समस्त सुकुमार भावों को सुन्दर जीवन प्राप्त होता है। इनके चरित्र में जहाँ एक ओर दैवी शक्तियों की चारूहासिनी, पापनाशिनी, पतितपावनी, मनोहारिणी, भक्तजनतारिणी, भव्यभावोद्‌भासिनी पवित्र गंगा है वही दूसरी यौवन की उत्तालतरंगमयी, भावसंदोहवाहिनी, कलकलनिनादिनी पुण्यसलिला रवितनया कालिन्दी की छटा भी है, साथ ही ज्ञानस्रोतस्विनी, अज्ञानतमोहारिमी सरस्वती भी अलुप्त हैं। इस पावन संगम पर स्नान करने से दु:खी, सुखी, निधनीधनवान्, दुर्वृत्त, सद्‌वृत्त, एवं पापात्मा पुण्यात्मा हो जाते हैं।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—17 : 42

कुमार कार्तिकेय

स्वामी कार्तिकेय जगत्पिता भगवान् शंकर के ज्येष्ठ पुत्र हैं। शिव पुराण की रुद्र-संहिता के कुमार-खण्ड के द्वितीय अध्याय से इनका वर्णन प्राप्त होता है। इनके जन्म के विषय में विचित्र कथा वर्णित है। भगवान् शंकर पार्वती से विवाह करके कैलाश पर्वत पर जाते हैं। वहाँ पुष्प-चन्दन से चर्चित, रति को बढ़ाने वाली दिव्य शय्या पर भगवान् शिव जी पार्वती सहित रमण करने लगे और मान के देने वाले देवताओं के सहस्र वर्ष तक विहार करते रहे।[1] दूसरी ओर तारकासुर से त्रस्त्र देवतागण ब्रह्मा को लेकर विष्णु के पास गये और ब्रह्मा ने कहा कि शिव जी देवताओं के सहस्र वर्ष पर्यन्त रति में रत हुए हैं, वह निश्चेष्ट योगी होकर विराम को प्राप्त नहीं होते।[2] इस पर विष्णु भगवान् ने समझाया कि इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है, सब कल्याण होगा, हे देवेश! तुम महाप्रभु शंकर की शरण में जाओ। ×××। हे विधाता! पर यह समय श्रृंगार के भंग करने का नहीं है, समय पर किये गये प्रयोग सिद्धि को देने वाले होते हैं, अन्यथा नहीं। शंकर का भोग भंग करना उचित नहीं है। वह स्वयं अपनी इच्छा से ही विराम करेंगे।[3] साथ ही उन्होंने बताया कि शंकर का वीर्य भूमि में पतित हो जाय तो उस वीर्य से स्कन्द नाम वाला एक पुत्र होगा।[4]

समय पूरा हो जाने पर देवताओं की प्रार्थना पर शिव जी, पार्वती को छोड़कर देवों के सम्मुख आते हैं वहाँ उनका वीर्य स्खलित होकर भूमि पर पतित हो जाता है, उसे देवताओं की प्रेरणा से अग्नि कपोत रूप से धारण कर लेते हैं।[5] किन्तु उस दह्यमान वीर्य को न सह सकने

---

1. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—1 : 13-15
2. वही—1 : 24
3. वही—1 : 25, 26
4. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—1 : 41
5. वही—2 : 10, 11

के कारण अग्नि ने महादेव से प्रार्थना की कि हे महादेव! मैं आपका सेवक बड़ा मूढ़ हूँ। मेरा अपराध क्षमा करके मेरा दाह निवारण करो।[1] इससे प्रसन्न होकर शिवजी ने कहा कि इस वीर्य को किसी स्त्री की योनि में स्थापित करो, इससे तुम दाहमुक्त होकर सुखी हो जाओगे।[2] इस शक्तिशाली, कठिन शिव के वीर्य को कौन धारण कर सकेगी, इस पर नारद जी ने बताया कि माघ के महीने में जो स्त्री स्नान करने के निमित्त गमन करे उसकी देह में तुम इस महत् वीर्य को स्थापन कर दो। इसी समय वहां सात मुनियों की स्त्रियाँ सबेरे ही स्नान के निमित्त आयीं। उनमें से छ: स्त्रियाँ शीत से व्याकुल होकर अरून्धती के मना करने पर भी अग्नि की ज्वाला के समीप गईं।× × × अग्नि के तापते ही शिव वीर्य के कण उनके शरीर में रोएं के द्वारा प्रवेश कर गये जिससे वह छ: स्त्रियाँ गर्भवती हो गयीं। गर्भवती जानकर उनके पतियों ने उन्हें त्याग दिया। स्त्रियाँ अपना व्यभिचार जानकर दु:ख से व्याकुल हुईं और उन मुनियों की स्त्रियों ने गर्भ रूप उस शिव वीर्य को हिमालय के पृष्ठ में त्यागकर सुख का अनुभव किया। हिमालय ने उसके दाह से विकम्पित होकर सहने में असमर्थ हो उस वीर्य को गंगा जी में डाल दिया। गंगा जी भी शंकर के वीर्य को न सह सकीं और पीड़ित होकर अपनीतरंगों से उस वीर्य को शरकण्डे के वन में त्याग दिया। वहाँ वह वीर्य पतित होते ही तत्काल बालक हो गया, जो सुन्दर, सुभग, श्रीमान् तेजस्वी, प्रीति को बढ़ाने वाला था।[3]

शरकण्डे के वन में शिव-पुत्र स्कन्द का ब्रह्मा की प्रेरणा से स्वयं आये हुए विश्वामित्र ने विधिपूर्वक संस्कार किया।[4]

शक्तिधारी स्कन्द अपने माता-पिता के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु एवं आदरवान् हैं। कैलास

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—2 : 43
2. वही—2 : 48
3. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—2 : 54-68
4. वही—3 : 14

पर्वत पर प्रथम बार आने पर वे पार्वती एवं शिव को देखकर रथ से शीघ्र उतरकर शिर से प्रणाम करते हैं—

अथ शक्तिधरः स्कन्दो दृष्ट्वा तौ पार्वतीशिवौ।
अवरुह्य रथात्तूर्णे शिरसा प्रणनाम ह॥ [1]

स्वामी कार्तिकेय को शिव महापुराण में अद्भुत शक्ति एवं वीरता से परिपूर्ण चित्रित किया गया है। बालक-अवस्था में ही लोक-रक्षा के निमित्त बलशाली दैत्य तारक से युद्ध करने जाते हैं। तारक द्वारा प्रयुक्त शस्त्रों को युक्तिपूर्ण ढंग से निष्प्रभावी बना देते हैं और स्वयं प्रहार करते हैं—

यथा सिंहो मदोन्मत्तो हन्तुकामस्तथासुरम्
कुमारस्तारकं शक्त्या स जघान प्रतापवान्।[2]

अर्थात् जिस प्रकार मदोन्मत्त होकर सिंह प्रहार करता है, उसी प्रकार प्रतापवान् कुमार ने उस असुर पर शक्ति से प्रहार किया। इस प्रकार वह कुमार और तारक असुर बड़े वेग से युद्ध करने लगे।[3] अन्त में स्वामी कार्तिकेय ने शक्ति के प्रहार से उस दैत्यराज का बध किया।[4]

इस प्रकार शिव महापुराण में स्वामी कार्तिकेय अप्रतिम शारीरिक-सुषमा-सम्पन्न, माता एवं धर्म माता कृत्तिकाओं के प्रति समान प्रेम, श्रद्धा एवं आदर देने वाले, अलौकिक तेज से युक्त, देवों में पूज्य एवं श्रद्धा के पात्र, दीनबन्धु, अद्भुत शक्ति, शौर्य एवं पराक्रम से सम्पन्न, ब्रह्मचर्य-पालक, महावीर आदि गुणों से युक्त हैं। इनका चरित्र अनेक दिव्य गुणों से परिपूर्ण है।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—5 : 27
2. वही—10 : 19
3. वही—10-20
4. वही—10 : 31

गणेश

शिव महापुराण में विघ्नविनाशक, गजानन, एकदन्त, गणेश्वर गणेश जी का प्रथम दर्शन रुद्र-संहिता के कुमार-खण्ड के 13वें अध्याय में होता है। गणेश जी भगवान् शिव एवं पार्वती के द्वितीय पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं, यद्यपि ये न तो शम्भु-शुक्र-जनित हैं और न ही पार्वती के उदर से ही उत्पन्न हैं। इनके जन्म की कथा भी विचित्र रूप से वर्णित है।

एक समय माया परमेश्वरी पार्वती ने मन में विचार किया कि कोई अत्यन्त श्रेष्ठ मेरा सेवक हो जो सब कार्य करे, जो मेरी आज्ञा के बिना रेखामात्र भी चलायमान न हो। यह विचार कर पार्वती देवी ने अपने शरीर के मैल से सब लक्षण-सम्पन्न एक महाबली पुरुष निर्माण किया और कहा कि तुम मेरे पुत्र हो। उस पुरुष ने भी उन्हें माता कहकर सम्बोधित किया।[1] पार्वती ने गणेश को द्वारपाल के रूप में नियुक्त करके कहा कि हे पुत्र! मेरी आज्ञा के बिना कोई मेरे घर के भीतर न आने पाये, चाहे कोई कितना ही हठ क्यों न करे।

बिना मदाज्ञां मत्पुत्र नवैयान्म द्वहान्तूरम्।

कोऽपि क्वापि हठात्तात सत्मेतन्मयोदितम्॥[2]

गणेश जी की, माता पार्वती के प्रति अपार श्रद्धा एवं प्रेम है। वे माता की आज्ञा का निष्ठा से पालन करते हैं। यहाँ तक कि शिव तथा उनके गणों के आने पर भी नहीं जाने देते। उनके द्वारा भय दिखाने पर भी नहीं जाने देते, बल्कि निर्भर होकर शिव-गणों को घुड़क देते हैं—

इत्युक्तोऽपि गणेशश्च गिरिजातनयोऽभयः।

---

1. शि० पु०,रु० सं०,कु० खं०—13 : 18-23
2. वही—13 : 26

निर्भर्त्स्य शंकरगणान्न द्वारं मुक्तवांस्तदा ॥ 1

वे शिव के गणों को साहस के साथ ललकार देते हैं कि शिव की आज्ञा पालन करने वाले सब गण आवें, मैं अकेला ही बालक, शिवा की आज्ञा पालन करने वाला हूँ—

आयान्तु गणापास्सर्वे शिवाज्ञापरिपालक:

अहमेकश्च बालश्च शिवाज्ञापरिपालक: ॥ 2

गणेश जी में अद्भुत शौर्य एवं युद्ध-कौशल है। वे अकेले शिवगणों तथा अन्य देवों से युद्ध करने का साहस रखते हैं। उनमें कोई भी संग्राम में गणेश जी के सम्मुख ठहर न सका।[3] गणेश जी ने सम्पूर्ण शिव-सेना को विलोडित कर डाला और शिव को त्रिसूल उठाने को मजबूर कर दिया।[4]

शिव द्वारा शिरच्छेदन के पश्चात् गणेश की माता पार्वती ने अति क्रुद्ध होकर अपनी शक्तियों को देवों, ऋषियों आदि का विनाश करने का आदेश दे दिया और दु:खी ऋषियों आदि की प्रार्थना पर देवी ने गणेश को पुनजीर्वित करने को कहा। शिव जी की कृपा से हाथी का शिर काटकर जोड़ा गया और पुनर्जीवित करके गजानन को गणाध्यक्ष पद पर अभिषिक्त किया गया।[5]

गणेश जी सभी देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की भाँति त्रिजगत् में पूजनीय हैं। स्वयं शिव जी ने कहा है—हम और यह सब मनुष्यों में पूज्य होंगे और गणेश विशेष पर

---

1. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—14 : 9
2. वही—15 : 3
3. वही—15 : 18
4. वही—17 : 33
5. वही—18 : 03

विघ्नहर्ता और सब कामना तथा फल के देने वाले होंगे।[1]

गिरिजा-नन्दन गणेश महाबुद्धि-सागर हैं। स्वामी कार्तिकेय और गणेश जी दोनों के बड़े होने पर माता-पिता के द्वारा विवाह की बात आने पर दोनों पुत्र पहले अपना विवाह करने का हठ करते हैं।[2] माता-पिता ने एक युक्ति सोचकर दोनों पुत्रों से कहा—

"यश्चैव पृथिवीं सर्वां क्रांत्वा पूर्वमुपाव्रजेत्।

तस्यैव प्रथमं कार्यो विवाहश्शुभलक्षण:॥"

अर्थात् जो इस समय सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा करके पहले चला आयेगा, उसी का शुभ लक्षण वाला विवाह पहले किया जायेगा।[3] माता-पिता की बात सुन महाबली कार्तिकेय तत्काल ही पृथ्वी की परिक्रमा के लिए चल देते हैं,[4] किन्तु बुद्धिमान् गणेश जी वहीं सुबुद्धि से अपने मन में विचारने लगे।

महा बुद्धिमान् गणेश जी ने माता-पिता को सिंहासन पर बैठाकर विधिवत् पूजन करके सात परिक्रमा की।[5] अनेक प्रकार से माता-पिता की स्तुति कर बोले—

"शीघ्रं चौवात्र कर्त्तव्यो विवाहश्शोभनो मम।"

अर्थात् शीघ्र आप मेरा शुभ विवाह कर दें। माता-पिता के यह कहने पर कि सातों द्वीपों वाली समुद्र पर्यन्त पृथ्वी की तुमने कब परिक्रमा की। बुद्धिमान् गणेश जी कहते हैं कि मैंने तो अपनी बुद्धि से मानो समस्त पृथ्वी की परिक्रमा कर ली। वेद, शास्त्र और धर्म-संचय में लिखा है—जो माता-पिता का पूजन कर उनकी परिक्रमा करता है, उसको पृथ्वी की परिक्रमा

---

1. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—18 : 22
2. वही—19 : 12
3. वही—19 : 18
4. वही—19 : 19
5. वही—19 : 26

का फल प्राप्त होता है। जो माता-पिता को घर छोड़कर तीर्थ को जाता है उसको उनके मारने का पाप लगता है।[1]

विघ्न-विनाशक गणेश की बुद्धि की प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् शिव और माता पार्वती ने भी कहा है कि संकट पड़ने पर जिसकी बुद्धि विशेष रूप से बनी रहती है उसका दुःख नष्ट हो जाता है। जैसे सूर्य के सामने अन्धकार नष्ट हो जाता है। जिसको बुद्धि है उसी को बल है, निर्बुद्धि को बल कहाँ है, एक बुद्धिमान् खरगोश ने मदोन्मत्त सिंह को कुये में डालकर नष्ट कर दिया। पुत्र तुमने धर्म का पालन किया है।[2]

गणेश जी अपनी विलक्षण बुद्धि के बल पर पहले विवाह करने में सफल हो गये। विश्वरूप प्रजापति की दिव्यरूप दो कन्यायें थीं, यह सिद्धि-बुद्धि नाम से विख्यात थीं। प्रभु शंकर ने उन दोनों के साथ गणेश जी का विवाह-महोत्सव कराया।[3] सिद्धि नामक गणेश की स्त्री से 'क्षेम' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और बुद्धि के परम सुन्दर 'लाभ' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विघ्न-विनाशक गणेश जी के चरित्र में कर्तव्य-निष्ठा, माता-पिता के प्रति अटल विश्वास एवं अटूट श्रद्धा, अद्‌भुत शौर्य, गणपतित्व, विघ्नविनाशकता, सभी कामनाओं को पूर्ण करना, विलक्षण बुद्धि-विवेक आदि विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं, जो उपासकों के लिए प्रेरणा का स्रोत हैं।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—19 : 37-40
2. वही—19 : 51-53
3. वही—20 : 2, 3
4. वही—20 : 8

ब्रह्मा

ब्रह्मा जी त्रिदेवों में से एक हैं। यद्यपि सांसारिक जगत् में भगवान् शंकर एवं भगवान् विष्णु जैसी श्रद्धा एवं लोकप्रियता ब्रह्मा की नहीं है, फिर भी उनके दैवी महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण सृष्टि की रचना का कार्य ब्रह्मा का ही है। शिव महापुराण का अध्ययन करने से ब्रह्मा उपदेशक, सृष्टिकर्ता, भक्तों के वरदाता, देव, दानव, दैत्य, असुर सबको समभाव से देखने वाले, करुणामय, दयालु के रूप में हमारे समक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। ये अहंकार की भावना से युक्त हैं। स्त्रियों के प्रति कामियों जैसी श्रृंगार-भावना का भी समावेश उनमें दिखायी पड़ता है।

शिव महापुराण में लोक-पितामह ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् विष्णु के नाभि से निकले हुए कमल से बताई गयी है। भगवान् नारायण देव के शयन कर जाने से सहसा उनकी नाभि से एक बड़ा कमल प्रकट हुआ जो कोटि सूर्य के समान कान्तिमान्, सुन्दर तत्त्वों से युक्त, अत्यन्त अद्भुत, महामनोहर और महादर्शनीय था।[1] ब्रह्मा ने स्वयं नारद से कहा है कि उसे विष्णु के नाभि-पंकज से भगवान् शिव ने अपनी माया से प्रकट किया। इस प्रकार वह ब्रह्मा हिरण्यगर्भ उस कमल से प्रकट हुए—

''तन्नाभिपंकजादाविर्भावयामास लीलया।

एवम्पद्मात्ततोजज्ञे पुत्रोऽहं हेमगर्भकः॥''[2]

ब्रह्मा चार मुख एवं रक्त वर्ण त्रिपुण्ड से शोभायमान मस्तक वाले हैं।[3] इन्होंने अपने

1. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—7 : 1, 3
2. वही—7 : 5
3. वही—7 : 6

जनक के विषय में जानने के लिए कमलनाल के ऊपर-नीचे सैकड़ों वर्ष भ्रमण किया, किन्तु अपने जनक को न जान सके।[1] तब आकाशवाणी से "तप करो" ऐसा सुनकर 12 वर्ष तपस्या करने के उपरान्त अपने जनक शंख, चक्र, गदा, पद्म, आयुध धारे कोटि कामदेव के समान सुन्दर भगवान् विष्णु को देखा।[2] दूसरी ओर उन्हें भगवान् शिव के दक्षिणपार्श्व से प्रकट हुआ बताया गया है—

"अयं मे दक्षिणात्पार्श्वाद्ब्रह्मा लोकपितामहः।"[3]

ब्रह्मा जी में अहंकार की भावना तीव्र है। इसका प्रकाशन उस समय होता है, जब भगवान् विष्णु क्षीर-सागर में शेष शय्या पर गरूड़ादि पार्षदों से संयुक्त लक्ष्मी सहित शयन कर रहे थे। उस समय ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ब्रह्म जी अपनी इच्छा से वहाँ आये और बोले-तुम कौन हो? जो मुझे देखकर अभिमानी पुरुष के समान शयन करते हो। हे वत्स उठो, देखो, मैं तुम्हारा स्वामी आया हूँ।[4] विष्णु जी ने अपने क्रोध को दबाते हुए शांत वाणी में उनसे कहा—हे पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो! स्वागत है, आओ, बैठो, मैं तुम्हारा पिता हूँ। इस समय तुम्हारा नेत्र कुटिल और मुख वक्र क्यों हो रहा है।[5] ब्रह्मा बोले—समय के फेर से तुझे अभिमान हो गया है। पुत्र, मैं तुम्हारा रक्षक हूँ। इस समस्त जगत् का पिता मैं हूँ। विष्णु बोले—अरे चोर! तू अपना बड़प्पन क्या दिखाता है। सारा जगत् तो मुझमें निवास करता है। तू मेरे ही नाभि-कमल से उत्पन्न हुआ है और मुझसे ऐसी बातें कर रहा है।[6] इस प्रकार दोनों में विवाद बढ़ गया। वे दोनों अपने को प्रभु कहते-कहते आपस में युद्ध करने लगे। इसके पश्चात् भगवान् शिव ने

---

1. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—7 : 8-14
2. वही—7 : 20, 21
3. वही—9 : 17
4. शि० पु०, वि० सं०—6 : 3
5. वही—6 : 5, 6
6. वही—6 : 7, 8

स्तम्भ-रूप में प्रकट होकर उन दोनों का अनुशासन किया।[1]

ब्रह्मा जी की एक अन्य विशेषता यह है कि वे अपना कार्य येन केन प्रकारेण सिद्ध करना चाहते हैं। अपने और विष्णु के बीच में स्थित स्तम्भ का अन्त जानने के लिए क्रमशः हंस और वारह रूप धारण कर दोनों ऊपर नीचे जाते हैं।[2] पर अन्त न पाकर विष्णु तो स्पष्ट कह देते हैं कि मैंने अन्त नहीं पाया। पर ब्रह्मा केतक पुष्प की झूठी गवाही दिलाकर विष्णु के समक्ष स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध कर देते हैं। विष्णु उन्हें श्रेष्ठ मानकर उनकी पूजा-उपासना करते हैं।[3] इससे क्रुद्ध होकर शिव जी प्रकट हो भैरव से उनके असत्यभाषी पंचम शिर का छेदन करवाते हैं[4] और विष्णु की प्रार्थना पर उन्हें क्षमा कर देते हैं।[5] असत्यभाषी केतक को भी अपनी समीपता से बंचित कर देते हैं।[6]

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मा की सृष्टि है। ब्रह्मा जी ने नारद से स्वयं कहा है—"हे नारद! मैंने स्वयं शब्दादि पंचभूतों द्वारा पंचीकरण करके उनसे स्थूल आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी तथा पर्वत, समुद्र, वृक्षादि और कल्यादि युग पर्यन्त कारणों की रचना की। हे मुने! और भी सृष्टि के पदार्थों की रचना की पर मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ। तब मैंने साम्ब शंकर का ध्यान करके सृष्टि के पदार्थ निर्माण किये।"[7] इससे भी सृष्टि का कार्य सुचारू रूप से नहीं चलता था तब ब्रह्मा ने अपने दो भाग करके नारी-पुरुष की रचना की, जिससे मनु और शतरूपा हुई। उस अत्यन्त शोभावाली शतरूपा को मनु ने ग्रहण किया और उन्होंने विवाह की विधि से मैथुनी

---

1. शि० पु०, वि० सं०—6 : 11
2. वही—7 : 16, 17
3. वही—7: 27, 28
4. वही—8 : 4
5. वही—8 : 8
6. वही—8 : 15
7. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—16 : 1-3

सृष्टि उत्पन्न की।[1]

काम-वाण से पीड़ित होना भी ब्रह्मा के चरित्र की एक विशेषता है। एक समय यह अपनी सन्ध्या नाम की कन्या को देखकर काम-वाण से पीड़ित हो जाते हैं—

पुराहं स्वसुतां दृष्टवा संध्याह्वां तनयैस्सह।

अभवं विकृतस्तात कामवाणप्रपीडित:।[2]

अपनी सुता सरस्वती के साथ ब्रह्मा के विवाह की बात लोक-प्रसिद्ध ही है। सती-विवाह के समय सती द्वारा परिक्रमा के समय उनके पदद्वय का दर्शन कर मदन से आविष्टचित्त ब्रह्मा को सती का मुख देखने की अतीव उत्कंठा हुई। काम से दु:खी ब्रह्मा ने अत्यन्त धुँआ करने की इच्छा करके अग्नि में गीली लकड़ी डाल दी। धुँआ से व्याकुल शिव जी ने दोनों हाथों से अपने नेत्र मूँद लिये। फिर ब्रह्मा ने प्रसन्न हो सती के मुख से वस्त्र हटा कर उनके मुख को देखा।[3]

इसी प्रकार पार्वती के विवाह के समय देवी पार्वती के नख-चन्द्र को देखकर ब्रह्मा जी काम-मोहित हो जाते हैं और उनका वीर्य-पात होता है। शिव जी ब्रह्मा पर क्रोधित होते हैं,[4] किन्तु देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा को अभयदान देते हैं।[5]

लोक-पितामह ब्रह्मा की एक प्रमुख विशेषता है भक्तों को वरदान देना। भगवान् ब्रह्मा भक्तों पर शीघ्र ही प्रसन्न होने वाले, करुणासागर देव हैं। देव, दानव, असुर, दैत्य, मनुष्य आदि कोई भी हो जिसने इनकी पूर्ण श्रद्धा से तपस्या की, प्रसन्न होकर इन्होंने उसे दुर्लभ वरदान दे

---

1. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—16 : 10-13
2. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—1 : 10
3. वही—19 : 26, 27
4. शि० पु०,रु० सं०,पा०खं०—49 : 5-9
5. वही—49 : 32

दिया। दैत्यराज तारकासुर की कठिन तपस्या से देवताओं के लोक को दग्ध होता जानकर ब्रह्मा जी उसके पास जाते हैं और कहते हैं कि तुम वर माँगो, तुमने बड़ी तपस्या की है; कोई वस्तु मुझे तुम्हें अदेय नहीं है—

"अवोचं वचनं तं वै वरं ब्रूहीत्यहं मुने।

तपस्तप्तं त्वया तीव्रं नादेयं विद्यते तव॥"[1]

उसने दो दुर्लभ वरदान माँगे। प्रथम—सम्पूर्ण सृष्टि में मुझसे बलवान कोई न हो और दूसरा—शिव के वीर्य से उत्पन्न सेनापति पुत्र से ही मेरा मरण हो। ब्रह्मा ने उसे ऐसा दुर्लभ वरदान प्रदान किया।[2]

ब्रह्मा जी की एक सर्वश्रेष्ठ विशेषता है—परदु:खकातरता। देवताओं पर जब भी कोई विशेष कष्ट होता था तब वे सर्वप्रथम ब्रह्मा जी के पास जाते थे। ब्रह्मा जी उन्हें साथ लेकर आवश्यकतानुसार क्षीरसागर में भगवान् विष्णु अथवा कैलास पर्वत पर भगवान् शिव के पास जाते हैं और उनके दु:ख का निवेदन करते हैं। भगवान् शिव के नेत्रों से निकली अग्नि काम को भस्म करने के उपरान्त जब चराचर जगत् को भस्म करने लगी तो देवताओं ने जाकर पितामह से निवेदन किया।[3] उनके इस निवेदन को स्वीकार कर ब्रह्मा जी उस क्रोधाग्नि को स्तंभित कर बड़वारूप में ले जाकर समुद्र में स्थापित करके सबकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार जगत् स्वस्थ हो गया, देवता और मुनि सब महासुखी हुए।[4]

उपर्युक्त सम्पूर्ण उदाहरणों का अवलोकन करने से विदित होता है कि लोक-पितामह ब्रह्मा का चरित्र अनेक अद्भुत गुणों से परिपूर्ण है। एक ओर तो ये कथाकार एवं उपदेशक के

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा०खं०—15 : 36
2. वही—15 : 40-42
3. वही—21 : 34
4. वही—20 : 23

रूप में है तो दूसरी ओर काम-मोहित होना भी परिलक्षित है। वस्तुतः काम-मोहित होना, वीर्यस्खलनादि जगत् की सृष्टि आदि गूढ़ तत्त्वों से सम्बन्धित है। इनका अभिधार्थ ग्रहण करना न्यायोचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा जी सृष्टिकर्ता के रूप में ही लौकिक जगत् में प्रसिद्ध हैं। विष्णु से श्रेष्ठ होने का अहंकार, भक्तों को वर देना, परदुःखकातरता, बुद्धिविवेकशीलता आदि लोक-पितामह ब्रह्मा के चरित्र की अन्यतम विशेषताएं हैं।

भगवान् विष्णु

शिव महापुराण में प्रमुख नायक भगवान् शंकर के बाद भगवान् विष्णु का ही स्थान है। ये सृष्टि के पालनकर्त्ता, शिव के सहयोगी, भक्तवत्सल, परमवीर, लोकरक्षक, दीनबन्धु, करुणा के सागर देव हैं। इनका आवास-स्थल क्षीर-सागर है तथा शय्या शेषनाग है। इनका वस्त्र पीताम्बर है।

शिव पुराण में भगवान् विष्णु की उत्पत्ति शिवजी द्वारा अपने कार्यों को सुचारू रूप से सम्पन्न करने हेतु की गयी। एक बार आनन्दकानन में जब शिवाशिव विहार कर रहे थे तो उनके मन में यह इच्छा हुई कि कोई दूसरा पुरुष निर्माण किया जाय जिस पर, स्वच्छ विहार करने वाले हम यह भार अर्पण करके निर्वाण-शान्ति को धारण कर केवल काशी में शयन करें। तब उस प्रभु-शिवा के व्यापार से त्रिलोकी में एक अति सुन्दर पुरुष प्रकट हुआ, जो शान्त, सत्त्व गुण से युक्त एवं गम्भीरता में सागर के समान था। शिवजी ने उस दिव्य पुरुष का नाम विष्णु रखा —

''विष्णिवतिव्यापकत्वात्ते नाम ख्यातं भविष्यति।
बहुन्यन्यानि नामानि भक्तसौख्यकराणिह॥''[1]

सती-खण्ड के दूसरे अध्याय में शिव के वामांग से विष्णु का उत्पन्न होना वर्णित है—

''तस्य वामांगजो विष्णुः।''[2]

शिव पुराण में भगवान् विष्णु चार भुजा, सुन्दर नेत्र वाले हैं। यह शंख, चक्र, गदा, पद्म आयुध धारण करने वाले हैं। ये घनश्याम अंग वाले, पीताम्बरधारी हैं। भगवान् विष्णु

---

1. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—6 : 43
2. वही—2 : 14

महाराजाओं के समान मुकुट आदि आभूषणों से भूषित हैं, प्रसन्न मुख वाले हैं। कामदेव के समान उनका सुन्दर रूप है।[1]

भगवान् विष्णु के चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता है—सृष्टि के समस्त प्राणियों का पालन करना। सर्वेश्वर भगवान् सदाशिव ने ब्रह्म को सृष्टि तथा विष्णु को चराचर के पालन का कार्य सौंपा है। हे वत्स नारायण! तुम चराचर का पालन करो—

"वत्स वत्स हरे त्वं च पालयैवं चराचरम्।"[2]

भगवान् विष्णु भक्तवत्सल हैं। यह देवों पर किसी प्रकारकी आपदा या उत्पात होने पर उनकी रक्षा में सदैव तत्पर रहते हैं। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में जब सती ने देह त्याग कर दिया तो भगवान् शिव ने वीरभद्र को प्रकट कर यज्ञविध्वंस करने को कहा। वीरभद्र के आगमन एवं आकाशवाणी से भावी विपत्ति की कल्पना कर दक्ष ने भगवान् विष्णु की स्तुत कर अपनी और यज्ञ की रक्षा की प्रार्थना की।[3] इस पर भगवान् विष्णु ने समझाया कि—

"अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूजनीयो न पूज्यते।
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दारिद्रयं मरणं भयम्॥"

अर्थात् जहाँ अपूज्यों का पूजन और पूज्यों का असत्कार होता है वहाँ दारिद्र, मरण और भय-ये तीन बातें होती हैं।[4] अनेक विषम परिस्थितियों के होते हुए भी विष्णु जी ने दक्ष से कहा कि दक्ष जी। मैं तुम्हारे यज्ञ की रक्षा करूँगा, कारण कि धर्म का पालन करना मेरा प्रण है—

"मया रक्षा विधातव्या तव यज्ञस्य दक्ष वै।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—17 : 17-19
2. वही—9 : 20
3. वही—35 : 1
4. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—35 : 9

ख्यातो मम पणः सत्यो धर्मस्य परिपालनम्।।'[1]

भक्तवत्सल भगवान् विष्णु ने वीरभद्र के साथ विषम परिस्थितियों में भी युद्ध कर दक्ष एवं उनके यज्ञ की रक्षा की। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी भगवान् विष्णु ने भक्तों की पुकार पर, अविलम्ब पहुँच कर उंनके मनोकामना की पूर्ति की।

भगवान् विष्णु भक्तों के मोह को भी दूर करने वाले हैं। एक बार महर्षि नारद ने अपने तप द्वारा कामदेव को जीत लिया। गर्व से युक्त हो कैलास पर्वत पर जाकर शिवजी से काम-विजय की बात साभिमान कही। शिवजी ने समझाया कि पुनः इस बात को नारायण से मत कहना। पूँछने पर भी इस वृतान्त को गुप्त रखना।[2] फिर भी शिव-माया से मोहित नारद ने विष्णुजी से भी इस काम-विजय के वृतान्त को सगर्व बताया। विष्णुजी ने कहा आप को काम-विकार किस प्रकार हो सकता है। आप तो जन्म से ही विकाररहित एवं सुन्दर बुद्धि वाले हैं। आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी, ज्ञान-विज्ञान वाले हैं—

''नैष्ठिको ब्रह्मचारी त्वं ज्ञानवैराग्यवान्सदा।'[3]

विष्णुजी ने शीलनिधि राजा की कन्या के स्वयम्बर के माध्यम से नारद के काम-विजय के गर्व को दूर कर दिया और मुनि के द्वारा दिये गये शाप को ग्रहण करके भी उनका उपकार किया।

शिव पुराण में विष्णु जी शंकर के सहयोगी देव हैं। राक्षसों, दैत्यों का बध करने में ये शिव के अग्रगामी हैं। जलंधर, शंखचूड, हिरण्यकशिपु, हिरण्ययाक्ष आदि महादैत्यों के बध में इनकी प्रमुख भूमिका रही। इनमें समायोजन की प्रवृत्ति भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होती है।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—35 : 24
2. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—2 : 32, 33
3. वही—2 : 52, 53

ब्रह्मा के ऊपर क्रुद्ध भैरव जब एक सिर काट देते हैं और अन्य सिरों को काटने को उद्यत होते हैं तो दयासागर भगवान् विष्णु शंकर की स्तुति करके भैरव को शिरच्छेदन से निवृत्त करते हैं।[1] सती के आंगिक सौन्दर्य को देखकर काममोहित होने से वीर्य-स्खलन के समय शिवजी द्वारा मारने के लिए उद्यत होने के समय भी विष्णु जी ने ही शिव जी से, अनेक ज्ञान-विज्ञानमय तर्क प्रस्तुत करके ब्रह्मा को मारने से बचाया था। विष्णु जी ने कहा न तो ब्रह्मा आप से भिन्न हैं और न आप उनसे भिन्न हैं—

''न ब्रह्मा भवतो भिन्नो न त्वं तस्मात्सदाशिव।''[2]

इसी प्रकार पार्वती के नखचन्द्र को देखकर कामार्त्त एवं स्खलित ब्रह्मा को शिवजी जब मारने को उद्यत होते हैं तो देवताओं सहित विष्णु की प्रार्थना स्वीकार कर वे उन्हें अभयदान देते हैं।[3] भगवान् विष्णु करुणासागर हैं। पार्वती की उग्र तपस्या से व्याकुल देवतागण उनकी स्तुति करके कहते हैं—''हे नारायण! तेज से व्याकुल हो हम आप की शरण में आये हैं। आप हमारी रक्षा करें। हम पार्वती की परम उग्र तपस्या से संतप्त हो गये हैं।''[4] देवताओं की आर्त्तवाणी को सुनकर दु:खकातर, शेषशय्या पर विराजमान प्रभु ने देवताओं से कहा—''हे देवताओं! हम गिरिजा के पाणिग्रहण के लिए शिव से प्रार्थना करेंगे। इस पारिग्रहण के लिए शिव से प्रार्थना करेंगे। इस पाणिग्रहण से लोकों का कल्याण होगा।''[5] भगवान् विष्णु ने विविध प्रकार से स्तुति करके शिव को पार्वती से विवाह के लिए तैयार किया।

शिव पुराण में भगवान् विष्णु का मायावी रूप भी दृष्टिगोचर होता है। दैत्यराज जलन्धर पत्नी के पतिव्रत-धर्म के कारण अजेय बना हुआ था। उसने अधर्म-वश पार्वती की

---

1. शि० पु०, वि० स०—8 : 8
2. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—19 : 68
3. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—49 : 32
4. वही—23 : 29
5. वही—23 : 32

भी पत्नीत्वेन अभिलाषा की। पार्वती ने भयभीत होकर विष्णु जी का स्मरण किया। उनके प्रकट होने पर उनसे बोलीं—"हे वत्स! जो मार्ग उस दैत्य ने खोल दिया उसी का अनुसरण उचित है। मेरी आज्ञा से उसकी स्त्री का पतिव्रत-धर्म नष्ट करो। इसमें अब दोष न होगा। हे रमेश्वर! अन्यथा वह मारा न जायेगा। पृथ्वी पर पतिव्रत-धर्म के समान दूसरा धर्म नहीं है।"[1] विष्णुजी ने पार्वती की आज्ञा से वहाँ जाकर अपनी माया से जलन्धर का रूप धारण कर वृन्दा के साथ उसी वन में बहुत दिनों तक रमण किया।[2] एक समय सुरत के अन्त में उसने विष्णु को देखा।[3] तब वृन्दा ने महाक्रोधकर, अपना तेज दिखाते हुए विष से भी तीक्ष्ण शाप दे दिया।[4] इस प्रकार भगवान् विष्णु ने शाप ग्रहण करके भी जलन्धर के बध का मार्ग प्रशस्त कर देवताओं का महान् उपकार किया।

इसी प्रकार लीलाधारी भगवान् विष्णु ने दैत्याधिपति शंखचूड से, ब्राह्मण का वेष धारण कर श्री कृष्ण का दिव्य कवच माँगा। सत्यभाषी शंखचूड ने प्राणों से भी प्यारा कवच ब्राह्मण को दे दिया—

तद्ददौ कवचं दिव्यं विप्राय प्राणसम्भतम्।[5]

भगवान् विष्णु की एक अन्य प्रमुख विशेषता है—दुष्टों का संहार और धर्म की स्थापना। जब-जब पृथ्वी पर धर्म का पतन होता है और अधर्म की प्रधानता होने लगती है, तब-तब भक्तों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म की स्थापना करने के लिए भगवान् विष्णु अवतरित होते हैं।[6]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—22 : 50, 51
2. वही—23 : 39
3. वही—23 : 40
4. वही—23 : 43
5. वही—40 : 19
6. श्रीमद्भगवद्गीता—4 : 7, 8

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् विष्णु के चरित्र में सत्य-वक्ता, सत्यपालक, शिव के सहगामी, परम शिव-भक्त, परमवीर, अनेक दिव्य गुणों से परिपूर्ण, भक्तवत्सल, सृष्टि के पालनकर्ता, देवताओं तथा भक्तों के दुःख को दूर करने वाले, भक्तों के मोह को दूर करने वाले, लोक-मंगलकारी, लोक-रक्षक, माया-विशारद, शिव के प्राण-बल्लभ, दया-सिन्धु, करुणासागर आदि की विशेषतायें परिलक्षित होती हैं। ये पीताम्बरधारी, परम-शोभा-सम्पन्न, कमल-नेत्र एवं चार भुजाओं से सुशोभित हैं। ये शंख, चक्र, पद्म, गदा आदि आयुध को धारण करने वाले परम शक्तिमान् देवता हैं।

वस्तुतः भगवान् विष्णु का चरित्र उस सुरम्य चित्ताकर्षक गुलदस्ते के समान है जिसमें निसर्ग-सिद्ध वासन्ती सुषमा तो विद्यमान है, पर पतझड़ की नीरसता का संचार नहीं। इनका चरित्र उस श्याम नीरद-माला के तुल्य है जो अपनी वारिधारा से, भगवान् अंशुमाली की प्रचण्ड रश्मिमाला से दग्ध धरती के संताप को दूर कर शीतलता प्रदान करती है। इस सम्पूर्ण नीरस सृष्टि को संजीवनी शक्ति प्रदान कर पुष्पित, पल्लवित एवं सुवासित करने का गुरुतर भार भक्तवत्सल, जगत्पालक, परम शैव, करुणा सिन्धु, दीन बन्धु भगवान् विष्णु पर ही है।

शंखचूड

शंखचूड अनन्य विष्णु-भक्त दानवेन्द्र दम्भ का पुत्र था। दम्भ ने कठोर तपस्या करके भगवान् विष्णु से यह वर माँगा था कि आप महाबली, पराक्रमी एवं अपना भक्त पुत्र दीजिए जो त्रिलोकी को जीतने वाला वीर हो और जिसे देवता भी न जीत सकें—

"स्वभक्तं तनयं देहि महाबलपराक्रमम्।

त्रिलोकजयिनं वीरमजेयं च दिवौकसाम्॥"[1]

भगवान् विष्णु के वरदान से दम्भ के एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ जो पूर्वजन्म में श्रीकृष्ण का पार्षद सुदामा नाम का गोप था। दम्भ ने अपने पुत्र का नाम शंखचूड रखा।[2] वह पिता के घर में शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगा और बालकपन में विद्याभ्यास करके बड़ा दीप्तिमान हुआ।

"पितुर्गेहे स ववृधे शुक्लपक्ष यथा शशी।

शैशवेभ्यस्तविद्युस्तु स वभूव सूदीप्तिमान्॥"[3]

शंखचूड गुरु की वाणी पर विश्वास करता था। इसने जैगीषत्य के उपदेश से पुष्कर में बहुत काल तक तप किया। जितेन्द्रिय होकर गुरु की दी हुई ब्रह्म-विद्या को जपने लगा तथा एकाग्रमन होकर और इन्द्रियों का निग्रह कर तप भी करने लगा।[4] ब्रह्मा ने उसे देवताओं से अजेय होने का वर दिया तथा प्रसन्न होकर जगत् का मंगलकारक तथा सब जगह जय देने

---

1. शि० पु०, रु० सं० यु० खं०—27 : 28
2. वही—27 : 34
3. वही—27 : 35
4. वही—28 : 1, 2

वाला, श्रीकृष्ण जी का दिव्य कवच दिया। साथ ही बदरिकाश्रम में तपस्यारत तुलसी से विवाह करने को कहा।[1]

शंखचूड ने तुलसी के पास जाकर गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव रखते हुए कहा—"मैं शंखचूड देवताओं का विद्रावण कर सकता हूँ। हे भद्रे! तू मुझे नहीं जानती। मैं दम्भपुत्र दानव दनु के वंश में प्रकट हुआ हूँ। मैं सुदामा नामक गोप, नारायण का पार्षद हूँ। इस समय मैं राधिका के शाप से दानव हुआ हूँ।"[2] तुलसी ने शंखचूड के गुणों से प्रभावित होकर गान्धर्व विवाह कर लिया।[3] शंखचूड पुरुष-रत्न है तथा उसकी पत्नी तुलसी स्त्री-रत्न है।

"त्वं वै पुरुषरत्नं च त्वियं सती।

विदग्धाया विदग्धेन संगमो गुणवान् भवेत॥"[4]

शंखचूड अपने पराक्रम से इन्द्र-सहित सभी देवताओं को जीतकर सबका अधिपति बन गया।[5] उसके राज्य में दुर्भिक्ष, महामारी और अशुभ-ग्रह जनित आधि-व्याधिकी पीड़ा नहीं थी। सभी प्रजा सुखी थी। बिना जोते पृथ्वी अनेक प्रकार का धान्य उत्पन्न करती थी। खानों से मणियाँ और सागरों से रत्न निकलते थे। वृक्षों में सदा फूल, फल लगते थे। चारों वर्ण, चारों आश्रम अपने धर्मों में स्थित थे। इसके शासन-काल में देवताओं को छोड़कर कोई दुःखी नहीं था।[6]

शंखचूड स्वाभिमानी दानवाधिपति था। शिवजी के दूत पुष्पदन्त से संदेश सुनकर

---

1. शि० पु०, रु० सं० यु० खं०—28 : 6, 7
2. वही—28 : 21-24
3. वही—28 : 40
4. वही—28 : 35
5. वही—29 : 24
6. वही—29 : 25-29

शंखचूड उससे हँसकर कहता है—"मैं देवताओं को राज्य न दूँगा, यह पृथ्वी वीरभोग्या है, मैं देवों के पक्षपाती रुद्र को युद्ध दूँगा।"[1]

शंखचूड अत्यन्त विनम्र तथा गुरु को सम्मान देने वाला है। वह अपने से बड़ों का आदर करता है। गुरु शुक्राचार्य को दण्डवत् प्रणाम करता है तथा उनके अनुशासन में कार्य करता है।[2] शंखचूड, शत्रु देवताओं के पक्ष से, उसका बध करने हेतु आने वाले भगवान् शिव के प्रति भी श्रद्धावान् है। वीर रूप धारण करने वाले, काल के समान युद्ध भूमि में पधारने वाले शिवजी को देखते ही शंखचूड ने विमान से उतरकर परमभक्ति से शिर से भूमि में दण्डवत् प्रणाम किया।[3]

शंखचूड़ दानवीरता में भी अप्रतिम है। युद्ध-भूमि में, विप्र-वेषधारी महामायावान् विष्णु द्वारा कवच माँगे जाने पर उस सत्यभाषी दानवराज ने उसी समय प्राणों के समान प्यारा कवच प्रदान कर दिया।[4]

शंखचूड़ महान् विष्णु-भक्त था। वह पूर्व जन्म में विष्णु के अवतार कृष्ण का सुदामा नामक पार्षद था। राधिका के शाप के कारण दानवेन्द्र हुआ। शंखचूड़ ने इस जन्म में तपस्या द्वारा ब्रह्मा जी से भगवान् विष्णु का दिव्य कवच प्राप्त किया था।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंखचूड़ प्रतापी शासक, पुरुष-रत्न, प्रजापालक, स्वाभिमानी, विनम्र, गुरुजनों एवं पूज्यों के प्रति श्रृद्धावान्, दानवीर एवं विष्णु-भक्त आदि गुणों से सम्पन्न है। यह दैत्य-वंशोत्पन्न होने से देव-विरोधी क्रियाकलाप में आसक्त हुआ और अन्ततः शिवजी के हाथों से मारा जाकर दैत्य शरीर तो त्यागकर पूर्व दिव्य रूप को प्राप्त हुआ।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—32 : 18
2. वही—29 : 04
3. वही—39 : 06
4. वही—40 : 19
5. वही—28 : 06

तारकासुर

तारकासुर 'दिति' और 'कश्यप' से उत्पन्न वज्रांग का पुत्र था। उसकी माता का नाम वरांगी था। तारकासुर के उत्पन्न होते ही स्वर्ग, भूमि और अन्तरिक्ष में सब लोकों के भयदायक तीन प्रकार के उत्पात हुए। महाशब्द करते हुए भयंकर उल्कापात होने लगे, दु:खदाई केतुओं का जहाँ-तहाँ उदय हुआ। पर्वतों-सहित पृथ्वी चलायमान हो गयी। अनेक प्रकार के भय-सूचक शब्द होने लगे। इस प्रकार उसके जन्म के समय सारे संसार में भारी उपद्रव और अपशकुन होने लगे।[1]

प्रजापित कश्यप ने बहुत विचारकर उस बालक का नाम 'तारक' रखा।[2] तारकासुर माता एवं गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला था। उनकी आज्ञा मानकर वह मधुवन में जाकर ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए तप करने लगा।[3] तारकासुर महान् तपस्वी के रूप में वर्णित है। वह एक पांव से खड़ा होकर, ऊपर को भुजा किये, नेत्रों से सूर्य को देखता हुआ, दृढ़ चित्त और दृढ़ व्रत से बराबर सौ वर्ष तक तपस्या करता रहा।

तारकासुर की कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे सम्पूर्ण सृष्टि में बलवान् होने तथा शिव के वीर्य से उत्पन्न सेनापति पुत्र से ही बध्य होने का वरदान दिया।[4] वर-प्राप्ति के बाद शोणितपुर पहुँचने पर दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य ने असुरों के साथ त्रिलोकी के अधिपति के रूप में उसका अभिषेक किया। तब वह महादैत्य त्रिलोकी-नायक हुआ। उसने चर, अचर सब को पीड़ित कर सर्वत्र अपनी आज्ञा का प्रचार किया।[5] दैत्याधिपति तारक ने त्रिलोकी का

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—15 : 4-17
2. वही—15 : 18
3. वही—15 : 22
4. वही—15 : 40, 41
5. वही—15 : 44, 45

शासक होने के बाद इन्द्रादि देवताओं से, जो जिसके यहाँ रत्न थे, मांगे और उन्होंने उसके भय से स्वयं दे दिये। इन्द्र ने भयवश ऐरावत दिया तो कुबेर ने नौ निधियाँ। वरुण ने श्वेत रंग के घोड़े, ऋषियों ने कामधेनु, सूर्य ने दिव्य उच्चैःश्रवा घोड़ा भय से उसको अर्पण कर दिया। उस असुर ने जहाँ-जहाँ उत्तम वस्तु देखी, वहाँ-वहाँ उसे बलपूर्वक ग्रहण कर तीनों लोकों को निस्सार कर दिया -

''यत्र यत्र शुभं वस्तु दृष्टं तेनासुरेण हि।

तत्तद्गृहीतं तरसा निस्सारस्त्रिभवोऽभवत्॥ ''[1]

तारकासुर ने इतने पर भी संतोष नहीं किया। देवता और पितृ आदि का जो द्रव्य था, उस दुरात्मा असुर ने वह सब ग्रहण कर लिया। त्रिलोकी को वश में करके वह स्वयं इन्द्र हुआ। वह अद्भुत स्वामी बना और उसने अद्वितीय राज्य किया।[2]

उस दैत्येन्द्र ने सब स्थानों से देवताओं को निकाल कर वहाँ दैत्यों को स्थापित किया। उसके इस आतंक से बाधित होकर सब इन्द्रादि देवता अनाथ और विह्वल हो ब्रह्मा की शरण में गये।[3] ब्रह्मा के वरदान से तारकासुर शिव-पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी से भी अवध्य था। ब्रह्मा ने स्वयं देवताओं से भी कहा है कि मैं, विष्णु, इन्द्र या कोई और देवता तारकासुर को नहीं मार सकता। यह मेरा वर सत्य है। यदि शिवजी के वीर्य से कोई पुत्र उत्पन्न हो तो वही तारक नामक दैत्य को मार सकता है, दूसरा नहीं।[4]

तारकासुर क्रूर, करुणारहित एवं देवपीड़क होते हुए भी अपने वरदाता ब्रह्माजी की आज्ञा का पालन निष्ठापूर्वक करता है। ब्रह्माजी ने जब उससे यह कहा कि मैंने तुम्हें स्वर्ग के

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—15 : 47-50
2. वही—15 : 53, 54
3. वही—15 : 55, 56
4. वही—16 : 25, 26

राज्य का वर नहीं दिया है। तुम स्वर्ग के राज्य को त्याग कर भूमण्डल का राज्य करो। हे असुरोत्तम ! वहाँ देवताओं के ही योग्य सम्पूर्ण कार्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। तब वह तारकासुर स्वर्ग को त्यागकर भूमि पर आ जाता है और शोणितपुर का राज्य करने लगता है।[1]

दानवेन्द्र तारक परम साहसी और विद्वान् योद्धा है। वह कुमार के सेनापतित्व में आने वाली देवताओं की विशाल सेना को देखकर विचलित नहीं होता, बल्कि एक बड़ी सेना लेकर युद्ध के लिए गमन करता है।[2] युद्ध में कुमार को देखकर विष्णु और इन्द्र को धिक्कारते हुए वीर-धर्म-मर्मज्ञ एवं युद्ध-विशारद दैत्येन्द्र तारक ने कहा कि यह दोनों महाढ़ीठ हैं जो इस बालक को इन्होंने मेरे सामने कर दिया है। मैं इस बालक को मारूँगा तो इन दोनों को वह भी पाप प्रतीत होगा।

''महाधृष्टाविमौ मेद्य कृतवन्तौ पुरश्शिशुम्।

अहं बालं वधिष्यामि तयोस्योऽपि भविष्यति॥'[3]

तारकासुर में अपार साहस तथा वीरता थी। युद्ध में वह अकेले इन्द्र, विष्णु और वीरभद्र आदि महावीरों से सफलता-पूर्वक लड़ रहा था। महाबाहु कार्तिकेय द्वारा छाती में मारी गयी शक्ति का तिरस्कार कर दैत्य-श्रेष्ठ तारक ने महाक्रोध कर अपनी शक्ति को कुमार पर प्रहार किया। उससे शिवजी ने पुत्र मूर्छित हो गये।[4]

प्रतापवान् दैत्यराज की मृत्यु से पूर्व पवन का चलना बन्द हो गया; सूर्य कान्तिहीन हो गया, पर्वत-वन सहित पृथ्वी चलायमान हो गयी। इसी अवसर पर हिमालय आदि को लेकर

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—16 : 38-42
2. वही—7 : 3
3. वही—9 : 33
4. वही—10 : 17, 18

पर्वत, स्नेह से व्याकुल होकर, दैत्यराज के शत्रु कुमार के समीप आये।[1]

तारकासुर विशिष्ट-गुण-सम्पन्न शासक था। उसके राज्य में सूर्य उतना ही चमकता था जितने से किसी को दु:ख न हो; चन्द्रमा कान्तियुक्त था और वायु अनुकूल चलती थी।[2] वह अद्वितीय शासक था तथा उसने त्रिलोकी को वश में करके अद्भुत शासन किया—

"वशीकृत्य स लोकांस्त्रीन्स्वयमिंद्रो बभूव ह।

अद्वितीयः प्रभुश्चासीद्राज्यं चक्रेऽद्भुतं वशी॥'[3]

इस प्रकार तारकासुर महाप्रतापी, परमवीर, गुरु-आज्ञाकारी, सृष्टि की सभी उत्तम वस्तुओं का ग्रहण करने वाला, अद्वितीय शासक, परम साहसी और युद्ध-कला-विशारद आदि दिव्य गुणों से युक्त था। परम-शक्ति-सम्पन्न महान् योद्धा होते हुए भी वह अपने वरदाता ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य करके, स्वर्ग त्यागकर शोणितपुर का शासन करने लगता है। तारकासुर शिव पुराण का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। इस दैत्याधिपति के कारण देव-संस्कृति में एक ऐसे व्यक्तित्व का आविर्भाव हुआ जिसके बिना उसका इतिहास ही लंगड़ा होता। यदि तारक न होता तो देव-संस्कृति स्वामी कार्तिकेय-सहित अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों से वंचित रह जाती। अतः शिव पुराण में कुमार कार्तिकेय के साथ ही साथ दैत्येश्वर तारक की भूमिका भी महनीय है।2

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—10 : 24, 25
2. वही-15 : 52
3. वही—15 : 54

चतुर्थ अध्याय

शिव पुराण की धार्मिक अवधारणा

1. शिव–आराधना
2. लिङ्ग–पूजा
3. द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग
4. शिव आराधना के प्रमुख उपादान
5. शैव–व्रत
6. वर्णाश्रम–धर्म
7. शिव के विभिन्न अवतार

शिव पुराण की धार्मिक अवधारणा

'शिव पुराण' शैव धर्म का एक मान्य ग्रन्थ है। इसका अन्वेषण करने पर शैव धर्म की प्राय: सभी मान्यतायें इसमें मिल जाती हैं। शिव से सम्बन्धित धर्म को शैव धर्म कहा गया तथा इस धर्म के भक्तों और अनुयायियों को शैव। शैव धर्मावलम्बियों के प्रधान इष्टदेव भगवान् शिव हैं। शिव की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है। यदि सैन्धव सभ्यता के अवशेषों को आधार माना जाय, जिनमें छोटे-बड़े अनेक लिङ्ग प्राप्त हुए हैं, तो शैव धर्म विश्व का प्राचीनतम् धर्म हो जायेगा। ऋग्वेद में शिव के लिए 'रुद्र' नाम का व्यवहार हुआ है, जो अपनी कठोरता और रुद्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। वहाँ उन्हें 'पशुप' उपाधि से युक्त बतलाया गया है।[1] उत्तर वैदिक काल में उन्हें पशुओं का स्वामी कहा गया,[2] जो 'पशुपति' के रूप में उनका विशिष्ट नाम हो गया। चर्म धारण करने के कारण वे 'कृत्तिवासन:' के रूप में भी चित्रित किये गये हैं। सम्भवत: निषाद आदि अनार्यो से सम्बद्ध होने के कारण ही उनको चर्म परिधान धारण करने वाला माना गया था। कतिपय विद्वान् उन्हें अनार्य जातियों के उपास्य एवं अराध्य देव के रूप में स्वीकार करते हैं। सूत्र ग्रन्थों में भी शिव की अपनी अलग विशेषता है। उपलब्ध साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि उनका अनार्य तत्त्वों पर विशेष प्रभाव था।[3] श्वेताश्वर, अथर्वशिरस् आदि उपनिषदों में शिव तत्त्व को प्रमुखता से वर्णित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में तो ईश्वर, जीव और प्रकृति तत्त्वों की एकता शिव से स्थापित की गयी है।[4] महाभारत में शिव का उल्लेख श्रेष्ठ देवता के रूप में है; जिनसे 'पाशुपत' अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय जाना पड़ा था और भगवान् शिव ने प्रसन्न होकर अर्जुन को 'पाशुपत' अस्त्र प्रदान

---

1. ऋग्वेद—1 : 114 : 9
2. 'पशूनां पतये नम:'—वा० सं० 16 : 1
3. आ० गृ० सू०—3 : 15
4. तै० सं०—4 : 5 : 1

किया।[1] पुत्र-प्राप्ति के लिए योगेश्वर कृष्ण ने स्वयं शिव की आराधना की थी तदन्तर भगवान् शिव ने कृष्ण को मनोवांछित वर प्रदान किया था।[2] गुप्त-काल में शैव धर्म सम्मानजनक स्थिति में था। तत्कालीन महाकवि कालिदास ने तो 'कुमारसम्भव' में शिव के चरित्र, महिमा और गुणों का मनोरम चित्रण किया है। पुराणों में उनको त्र्यंबक, भव, शर्व, महादेव, ईशान, शूलपाणि, शंकर, त्रिशूलधारी, पिनाकी, नीललोहित, नीलग्रीव, शितिकण्ठ, सहस्राक्ष, वृषभध्वज पशुपति, अतिभैरव आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है।

साहित्यिक अनुशीलन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि शैव धर्म का विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में विकास हुआ।[3] शैव, कालानन (कालमुख), पाशुपत और कापालिक आदि सम्प्रदाय इसके उदाहरण हैं।[4] कलचुरि-अभिलेख में शिव को परम ब्रह्म देवदेव और जगद्गुरु कहा गया है, जिनकी सेवा में ब्रह्मा और अन्य देव प्रस्तुत किये गये हैं।[5] कलचुरि-शासकों ने अनेक शिव-मन्दिर बनवाकर शिव उपासक के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया। खजुराहों का शिव-मन्दिर, सोमनाथ-मन्दिर, काशी-विश्वनाथ मन्दिर सहित विभिन्न शिव-मन्दिरों का निर्माण शिव एवं शैव धर्म की विशिष्टता को प्रतिध्वनित करते हैं।

---

1. महाभारत-वनपर्व—38-40
2. वही—अनुशासन पर्व—14
3. पाठक, वी० एस०-हिस्ट्री अव शैव कल्टस् इन नार्दर्न इण्डिया, पृष्ठ-3
4. इपीग्राफिया इण्डिया, 2-पृष्ठ 18
5. वामन पुराण—अध्याय 6

शिव-आराधना

शैव धर्म की मान्यता है कि भगवान् शिव की आराधना से अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है। शिव पुराण में शिव नाम को समस्त पापों का नाशक तथा मोक्षदायक प्रतिपादित किया गया है।[1] अतः जीवन को सफल बनाने की इच्छा वाले प्राणी को चाहिए कि वह पूर्ण निष्ठा से भगवान् शिव की पूजा, अर्चना, वन्दन एवं शरण का आश्रय प्राप्त करे। भगवान् शिव कीआराधना लिङ्ग एवं प्रतिमा दोनों रूपों में करने का विधान शिव पुराण में वर्णित है किन्तु वहाँ शिव प्रतिमा की अपेक्षा लिङ्गार्चन की महत्ता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। शिवलिङ्ग को शिव मूर्ति की अपेक्षा श्रेयस्कर प्रतिपादित किया गया है।[2] शिवलिङ्ग के यजन में मानवमात्र का, चाहे वे किसी भी जाति के हों, अधिकार हैं।[3] यहाँ पुरुष और स्त्री को समान अधिकार प्राप्त है।[4] विद्येश्वर संहिता में द्विजों के लिए वैदिक पद्धति से शिवलिङ्ग के यजन का विधान है जबकि अन्य लोगों के लिए वैदिक मार्ग अपनाने की सम्मति नहीं है।[5]

शिव पुराण के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि अन्य लिङ्गों की अपेक्षा पार्थिव लिङ्ग उत्कृष्ट है।[6] विद्येश्वर संहिता में पार्थिव पूजा की पद्धति का वैदिक विधान विस्तार के साथ वर्णित है, जो भोग और मोक्ष दोनों का प्रदाता है। व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार सम्पूर्ण नित्यकर्म को पूर्ण करके शिव स्मरण पूर्वक भस्म और रुद्राक्ष धारण करना चाहिये।

---

1. शि० पु०, वि० सं०—23
2. वही—9 : 46
3. वही—21 : 39-40
4. वही 16 : 5
5. "द्विजानां वैदिकेनापि मार्गेणाराधनं वरम्।
   अन्येषामपि जन्तूनां वैदिकेन न सम्मतम्॥ वही-21 : 41
6. वही - 21 : 4

तदनन्तर सम्पूर्ण मनोवांछित फल की सिद्धि के लिए उच्च भक्ति भाव के साथ उत्तम पार्थिव लिङ्ग का वेदोक्त विधि से सम्यक् पूजन करना चाहिये। नदी अथवा तालाब के किनारे, पर्वत पर, वन में, शिवालय में अथवा और किसी पवित्र स्थान में पार्थिव पूजा करने का विधान है। ब्राह्मण के लिए श्वेत, क्षत्रिय के लिए लाल, वैश्य के लिए पीली और शूद्र के लिए काली मिट्टी से शिवलिङ्ग बनाने का विधान है। अथवा जो मिट्टी जहाँ प्राप्त हो जाय उसी से शिवलिङ्ग बनाना चाहिये।

शिव पुराण की विद्येश्वर संहिता में पार्थिव लिङ्ग पूजन की वैदिक विधि का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'सद्यो जातं'[1] इस ऋचा से पार्थिव लिङ्ग बनाने के लिए मिट्टी लाये। 'वामदेवाय०'[2] इत्यादि मन्त्र पढ़कर उसमें जल डाले। (जब मिट्टी सनकर तैयार हो जाय तब) 'अघोर०'[3] मन्त्र से लिङ्ग का निर्माण करें। फिर 'तत्पुरुषाय'[4] इस मन्त्र से विधिवत् भगवान् शिव का उसमें आवाहन करें। तदनन्तर 'इशान०'[5] मन्त्र से भगवान् शिव को वेदी पर स्थापित करें। इनके अतिरिक्त अन्य सब विधानों को भी शुद्ध बुद्धि वाला उपासक संक्षेप से ही सम्पन्न करे। इसके बाद विद्वान् पुरुष पंचाक्षर मन्त्र से अथवा गुरु प्रदत्त अन्य किसी शैव मन्त्र से षोडश उपचारों द्वारा विधिवत् पूजन करे। अथवा

---

1. सद्यो जातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः।
   भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्‌वाय नमः॥
2. ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय् नमो मनोन्मथाय नमः।
3. ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः।
4. ॐ तत्पुरुषाय विद्‌महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।
5. ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणो ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदा शिवोम्।

"भवाय भवनाशाय महादेवाय धीमहि।
उग्राय उग्रनाशाय शर्वाय शशिमौलिने॥"[1]

इस मन्त्र द्वारा विद्वान् उपासक भगवान् शङ्कर की पूजा करे। वह भ्रम छोड़कर उत्तम भक्तिभाव से शिव की आराधना करे, क्योंकि भगवान् शिव भक्ति से ही मनोवांछित फल देते हैं।

पार्थिव लिङ्ग पूजन की उक्त विधि के अतिरिक्त शिव पुराण में एक अन्य विधि का उल्लेख है जिसमें पार्थिव लिङ्ग की पूजा भगवान् शिव के नामों से निर्दिष्ट की गई है। हर, महेश्वर, शम्भु, शूलपाणि, पिनाकधृक्, शिव, पशुपति और महादेव ये शिव के आठ नाम परिगणित है। इस अष्ट नामों में प्रथम नाम 'हर' का आश्रय लेकर 'ॐ हराय नमः' इस प्रकार उच्चारण करके पार्थिव लिङ्ग बनाने के लिए मिट्टी लायी जाय। दूसरे नाम 'महेश्वर' का आश्रय लेकर 'ॐ महेश्वराय नमः' का उच्चारण करके शिवलिङ्ग का निर्माण करें फिर तृतीय नाम 'शम्भु' का आश्रय लेकर 'ॐ शम्भवे नमः' बोलकर पार्थिव लिङ्ग की प्रतिष्ठा करें और तत्पश्चात् शिव के चतुर्थ नाम 'शूलपाणि' का आश्रय लेकर 'ॐ शूलपाणये नमः' कहकर उस पार्थिव लिङ्ग में भगवान् शिव का आवाहन करें। पंचम नाम 'पिनाकधृक्' का आश्रय लेकर 'ॐ पिनाकधृषे नमः' बोलकर उसकी पूजा करें, पुनः शिव के षष्ठ नाम 'शिव' का आश्रय लेकर 'ॐ शिवाय नमः' कहकर पूजा करें फिर सप्तम नाम 'पशुपति' का आश्रय लेकर 'ॐ पशुपतये नमः' बोलकर क्षमा प्रार्थना करें और अन्तिम नाम 'महादेव' का आश्रय लेकर 'ॐ महादेवाय नमः' कहकर आराध्य देव का विसर्जन कर दें। प्रत्येक नाम के आदि में ओंकार और अन्त में चतुर्थी विभक्ति के साथ 'नमः' पद लगाकर आनन्द और भक्तिभाव से पूजन सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य करना चाहिये।[2] उक्त दोनों विधियों में वैदिक विधि के प्रति शिव पुराण विशेष आदर का भाव व्यक्त करता है।[3]

---

1. शि० पु०, वि० सं०—20 : 43
2. वही—20 : 47-49
3. वही—20 : 45

लिङ्ग-पूजा

लिङ्ग की पूजा प्राचीन काल से ही संसार में होती रही है।[1] ख्रीष्टीय धर्म के प्रचार के पूर्व पाश्चात्य देशों की सभी जातियों में लिङ्ग पूजा किसी न किसी रूप में प्रचलित थी। रोम तथा यूनान में क्रमशः 'प्रियेपस' और 'फल्लुस' नाम से लिङ्ग की सी पूजा होती थी। यहाँ लिङ्ग पूजा प्राचीन धर्म का प्रधान अङ्ग था। वृष की मूर्ति लिङ्ग के साथ ही पूज्य थी। पूजा की विधि में धूप, दीप, पुष्पादि हिन्दुओं की ही तरह प्रयोग में आते थे।[2]

भारत में तो हिमालय में मानवसरोवर और कैलास से लेकर कन्याकुमारी तक तथा अटक से लेकर कटक तक असंख्य लिङ्ग और शिवालय हैं। शिवलिङ्ग और शिवालय भारतीय संस्कारों में व्याप्त हैं। 'मोहनजोदड़ों' और 'हड़प्पा' की खुदाई में ऐसी तहों में शिवलिङ्ग मिलते हैं जो समय को निकट से निकट खींच लाने वाले कट्टर आनुमानिकों की अटकल से आज से कम से कम छः हजार वर्ष पहले ठहरते हैं।

शिव पुराण के अनुसार इस भूतल पर जो शिवलिङ्ग सर्वप्रथम आविर्भूत हुआ, वह आदि-अन्त-विहीन था।[3] उसे स्तम्भ भी कहा गया है।[4] उसी समय से सुर, असुर, ऋषि, नर, नाग, नारी सब ने लिङ्ग प्रतिष्ठा एवं लिङ्ग में शिव की पूजा प्रारम्भ की है।[5] सर्वप्रथम आविर्भूत होने वाला उक्त शिवलिङ्ग ज्वालामाला से आवृत्त बतलाया गया है।[6]

शिव पुराण में बाह्य और आध्यात्मिक लिङ्गों की चर्चा की गई है। यह इस बात का

---

1. Eliments of Hindu Iconography, Page 70
2. लिङ्ग रहस्य—रामदास गौड
3. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—7 : 48
4. वही—7 : 51
5. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—35 : 85
6. वही—34 : 33

साक्ष्य देता है कि शिवलिङ्ग, फाल्लुस न होकर शिव बोधक चिह्न है। प्रारम्भ में जो शिलाखण्ड देवता का एकमात्र उपलक्षक था, चिह्न था, कालान्तर में समय की गति के साथ शिवलिङ्ग का रूप धारण कर शिव की निराकारता का बोधक बना। इसके अतिरिक्त शिव पुराण में इस बात का भी सङ्केत किया गया है कि शिवलिङ्ग शिव बोधक चिह्न ही है—

"ततः स्वलिंगचिह्नत्वात्स्तम्भतो निष्कलं शिवः।

स्वलिंगं दर्शयामास जगतां हितकाम्यया॥"[1]

यद्यपि शिव पुराण में ऐसा स्थल दुर्लभ नहीं जहाँ पर कि शिवलिङ्ग को लिङ्ग लक्षण से युक्त बतालाया गया है।[2] किन्तु स्पष्ट ही ऐसा स्थल प्रक्षिप्त है, जिसे किसी शैव विद्वान् ने बाद में जोड़ दिया है, क्योंकि उक्त श्लोक के तत्काल बाद वाले श्लोक में कहा गया है कि—शिवलिङ्ग मदात्मक (शिवात्मक) है और यह मेरे सान्निध्य का कारण है। लिङ्ग (चिह्न) एवं लिङ्गी (शिव) में नित्य ही अभेद होने के कारण यह लिङ्ग बड़े लोगों के लिए पूज्य है।[3] यहाँ पर लिङ्ग एवं लिङ्गी शब्द से जिस भाव एवं अर्थ की अभिव्यक्ति हो रही है वह पूर्व श्लोक के अर्थ से पूर्ण भिन्न है। उत्तर श्लोक का भाव शिव पुराण में कतिपय स्थलों में आवृत्त हुआ है। ऐसी अवस्था में स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि पूर्व श्लोक प्रक्षिप्त एवं बाद का है। अतः शिवलिङ्ग का अर्थ शिवज्ञापक चिह्न ही करना अधिक युक्तियुक्त है।

---

1. शि० पु०, वि० सं०—5 : 29
2. वही—9 : 42
3. "मदात्मकमिदं नित्यं मम सान्निध्यकारणम्।
   महत्पूज्यमिदं नित्यमभेदालिंगलिंगिनोः॥"—वही—9 : 43

द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग

भारत वर्ष के कुछ शिवलिङ्ग प्राचीन काल से आज तक जनता की श्रद्धा और भक्ति के केन्द्र बने हुये हैं। भारतीय लोग इनका दर्शन एवं पूजन कर अपने ऐहिक कल्याण के साथ ही पारलौकिक विभूति की कामना करते हैं। इस प्रकार के शिवलिङ्गों में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। भारत की विभिन्न दिशाओं में स्थित ये ज्योतिर्लिङ्ग आध्यात्मिक प्रेरणा के साथ ही इस देश की एकता एवं अखण्डता के भी प्रतिपादक रहे हैं। आज भी श्रद्धालु जनता इनका दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानती है।

1. सोमनाथ

भगवान् शिव का यह अवतार सौराष्ट्र प्रान्त के 'प्रभास' नामक क्षेत्र में हुआ था।[1] शिव पुराण के अनुसार महामना प्रजापति दक्ष ने अपनी अश्विनी, रोहिणी आदि सत्ताईस कन्याओं का विवाह चन्द्रमा के साथ किया था। उन सत्ताईस पत्नियों में चन्द्रमा को रोहिणी नाम की पत्नी जितनी प्रिय हुई उतनी अन्य नहीं। तब रोहिणी को छोड़कर अन्य स्त्रियाँ दुखित होकर अपने पिता दक्ष के शरण में गयी। दक्ष द्वारा सभी स्त्रियों के साथ समान व्यवहार करने के लिये सुझाव देने पर भी जब चन्द्रमा ने उनकी बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया तब दक्ष ने उसे क्षयी होने का शाप दे दिया।[2] चन्द्रमा की क्षीणता से हाहाकार मच गया। इन्द्रादि देवता सहित चन्द्रमा ब्रह्मा जी के पास गये। ब्रह्मा जी की आज्ञा से देवताओं के साथ चन्द्रमा प्रभास क्षेत्र में जाकर महामृत्युञ्जय के विधान से शिव जी की आराधना करने लगे। उन्हें तपस्या करते देख भक्तवत्सल भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट होकर कहने लगे—'मैं तुम्हारे ऊपर

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—42 : 2
2. शि० पु०, कौ० रु० सं०—14 : 2

प्रसन्न हूँ, तुम्हारे मन में जो अभीष्ट हो, वह वर माँगो!' चन्द्रमा ने कहा 'हे देव! मेरे शरीर के इस क्षय रोग का निवारण कीजिए', ऐसा चन्द्रमा के कहने पर भगवान् शिव ने कहा—हे चन्द्रदेव! 'एक पक्ष में प्रतिदिन तुम्हारी कला क्षीण होगी और दूरे पक्ष में फिर वह निरन्तर बढ़ा करेगी।''

''पक्षे च क्षीयतां चन्द्र कला ते च दिने दिने।

पुनश्च वर्द्धतां पक्षे सा कला च निरन्तरम्॥''[1]

भगवान् शिव द्वारा चन्द्रमा को वर देने की बात सुनकर सम्पूर्ण देवगण प्रभास क्षेत्र में जाकर चन्द्रमा को आशीर्वाद देकर भगवान् शिव से आदरपूर्वक बोले—हे शम्भो! 'अब आप पार्वती सहित यहाँ ही स्थित रहे'। देवताओं पर प्रसन्न होकर उस क्षेत्र के माहात्म्य को बढ़ाने तथा चन्द्रमा के यश का विस्तार करने के लिये भगवान् शंकर उन्हीं के नाम पर वहाँ 'सोमेश्वर' कहलाये और 'सोमनाथ' के नाम से तीनों लोकों में विख्यात हो गये।[2]

'सोमनाथ' का पूजन करने से उपासक के क्षय तथा कोढ़ आदि रोगों का नाश होजाता है। वही सम्पूर्ण देवताओं ने सोमकुण्ड (चन्द्रकुण्ड) की भी स्थापना की है, जिसमें शिव तथा ब्रह्म का सदा निवास माना जाता है। 'चन्द्रकुण्ड' इस भूतल पर पापनाशन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। जो मनुष्य उसमें स्नान करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।[3] पृथ्वी और सागर के संयोग में 'अन्तकेश' नामक सोमेश्वर का उपलिङ्ग है।[4]

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—14 : 45
2. वही—14 : 50, 51
3. वही—14 : 52-54
4. वही—1 : 35

2. मल्लिकार्जुन

भगवान् शिव का मल्लिकार्जुन नामक अवतार श्री शैल में हुआ था।[1] शिव पुराण के अनुसार एक बार गणेश और स्कन्द में विवाद हुआ कि किसका विवाह पहले हो। भगवान् शिव ने कहा कि 'जो सर्वप्रथम पृथ्वी की परिक्रमा करके आयेगा उसी का विवाह पहले किया जायेगा।'[2] महाबली स्कन्द पृथ्वी की परिक्रमा करने निकल पड़े, किन्तु गणेश जी ने शिव और पार्वती की पूजा करके उन्हीं की परिक्रमा की और उसी से अपने को पृथ्वी की परिक्रमा करने के फल का भागीदार बतलाया।[3] उनके तर्कों से सहमत होकर शिव-पार्वती ने उनका विवाह कर दिया।

महाबली स्कन्द सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा करके जब कैलास पर्वत पर आये, तब नारद जी ने उनसे गणेश के विवाह आदि का सब वृतान्त सुनाया। इस पर शिव-पार्वती के मना करने पर भी वे न माने और कैलास पर्वत को छोड़कर क्रौञ्च पर्वत पर चले गये जिससे उनकी माता को बहुत दुःख हुआ। पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर शिव एवं पार्वती क्रौञ्च पर्वत को गये। जब कुमार ने यह सुना कि उसके माता-पिता यहाँ आ रहे हैं तो वे क्रौञ्च पर्वत को छोड़कर उससे तीन योजन दूर चले गये। अपने पुत्र कुमार को दूर चला गया जानकर शिव तथा पार्वती ज्योतिर्मय स्वरूप धारण करके वहाँ प्रतिष्ठित हो गये।[4] अमावस्या के दिन भगवान् शङ्कर स्वयं वहाँ जाते हैं और पौर्णमासी के दिन पार्वती जी निश्चय ही वहाँ पदार्पण करती हैं। उसी दिन से लेकर भगवान् शिव का 'मल्लिकार्जुन' नामक लिङ्ग तीनों लोकों में प्रसिद्ध हुआ।[5] उसमें पार्वती तथा शिव दोनों की ज्योतियाँ प्रतिष्ठित हैं। 'मल्लिका' का अर्थ

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—1 : 35
2. शि० पु०, रु० सं०, कु० सं०—19 : 18
3. वही—19 : 39
4. शि० पु०, को० रु० सं०—15 : 16
5. वही—15 : 19

पार्वती है और 'अर्जुन' शब्द शिव का वाचक है। इस लिङ्ग के दर्शन से सम्पूर्ण पाप विनष्ट हो जाते हैं और समग्र मनोरथों की सिद्धि भी होती है। भृगुकक्ष में मल्लिकार्जुन से उत्पन्न हुआ, 'रुद्रेश्वर' नामक उपलिङ्ग स्थित है।[1]

3. महाकाल

द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में भगवान् शिव का तृतीय ज्योतिर्लिङ्ग 'महाकाल' के नाम से विख्यात है। भगवान् शङ्कर का यह अवतार उज्जैन में हुआ था।[2] इस ज्योतिर्लिङ्ग के प्रादुर्भाव कीकथा, शिव पुराण में इस प्रकार वर्णित की गयी है—

अवन्ति नाम से प्रसिद्ध शिव जी की प्रिय नगरी में वेदप्रिय नामक एक ब्राह्मण रहते थे। उनके देवप्रिय, प्रियमेधा, सुकृत और सुव्रत नामक चार पुत्र थे, जो नित्य शिव जी की पूजा में तत्पर तथा माता-पिता के परम भक्त थे।उसी समय 'रत्नमाल' पर्वत पर 'दूषण' नामक दैत्यों का एक राजा रहता था। उसे ब्रह्माजी का वर प्राप्त था। जिसके प्रताप से वह अपने आगे संसार को तुच्छ समझता था। पृथिवी पर से धर्म का समूलोन्मूलन ही उसकी प्रधान उद्देश्य था। इसी उद्देश्य से उसने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। उसकी आज्ञा से चार भयानक दैत्य चारों दिशाओं में प्रलयाग्नि के समान प्रंकट हो गये, परन्तु वे शिव विश्वासी ब्राह्मण-बन्धु उनसे डरे नहीं। जब नगर के ब्राह्मण बहुत घबरा गये, तब उन्होंने उनको आश्वासन देते हुए कहा—'आप लोक भक्तवत्सल भगवान् शङ्कर पर भरोसा रखें।'यों कहकर शिवलिङ्ग का पूजन करके वे भगवान् शिव का ध्यान करने लगे।[3]

जब सेनासहित दूषण ने उन ब्राह्मणों को देखा तो कहा—'इन्हें मार डालो, बाँध लो।'

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—16 : 36
2. वही—36 : 37
3. वही—16 : 24-34

वेदप्रिय के पुत्र उन ब्राह्मणों ने उस समय उस दैत्य की कही हुई वह बात नहीं सुनी; क्योंकि वे भगवान् शम्भु के ध्यान-मार्ग में स्थित थे। उस दुष्टात्मा दैत्य ने ज्यों ही उन ब्रह्मणों को मारने की इच्छा की, त्यों ही उनके द्वारा पूजित पार्थिव शिवलिङ्ग के स्थान में बड़ी भारी आवाज के साथ एक गड्ढा प्रकट हो गया।उस गड्ढे से तत्काल विकट रूपधारी भगवान् शिव प्रकट हो गये, जो महाकाल नाम से विख्यात हुए। उन्होंने अपने हुङ्कार से ही ससैन्य दूषण का वध कर डाला।[1]

उज्जयिनी के ब्राह्मणों ने भगवान् शिव से लोकरक्षार्थ वही स्थित होने की प्रार्थना की।[2] उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए उसी गर्त में,महाकाल नाम से, भगवान् शिव स्थित हो गये। उनका दर्शन करने से स्वप्न में भी कोई दु:खी नहीं होता। जिस-जिस कामना को लेकर कोई उस लिङ्ग की उपासना करता है, उसे वह अपना मनोरथ प्राप्त हो जाता है तथा परलोक में मोक्ष भी मिल जाता है।[3] इस ज्योतिर्लिङ्ग का उपलिङ्ग 'दुग्धेश' नाम से प्रसिद्ध है।[4]

4. ओंकारेश्वर, अमरेश्वर

भगवान् शिव का चतुर्थ ज्योतिर्लिङ्गात्मक अवतार ओंकार नामक स्थान में हुआ था।[5] शिव पुराण के अनुसार एक समय नारद मुनि गिरिराज विन्ध्य के पास गये। मेरे यहाँ सब कुछ है, किसी प्रकार की कमी नहीं है, ऐसा अहंकार करके वह विन्ध्याचल नारद जी के आगे खड़ा हो गया।[6] उन्होंने विन्ध्य से कहा—तुम्हारे यहाँ सब कुछ है, फिर भी मेरु पर्वत तुमसे

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—16 : 39
2. वही—16 : 46
3. वही—16 : 50, 51
4. वही—1 : 37
5. वही—1 : 21
6. वही—18 : 5, 6

बहुत ऊँचा है। उसके शिखरों का विभाग देवताओं के लोकों में भी पहुँचा हुआ है। किन्तु तुम्हारे शिखर का भाग वहाँ कभी नहीं पहुँच सका है।[1]

नारद मुनि के चले जाने के बाद सन्तप्त विन्ध्य ने भगवान् शम्भु की आराधना करने का निश्चय किया। तदनन्तर जहाँ साक्षात् ओंकार की स्थिति है, वहाँ जाकर उसने पार्थिव मूर्ति बनायी और छः मास तक निरन्तर तप किया।[2] उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने अपना दुर्लभ दर्शन देते हुए 'जो कुछ चाहोगे, वह कर सकोगे' ऐसा वरदान दिया।[3] उसी समय देवता तथा निर्मल अन्तःकरण वाले ऋषियों की प्रार्थना से भगवान् शिव वही स्थित हो गये। किन्तु भगवान् शङ्कर का जो ओंकार लिङ्ग था, वह दो स्वरूपों में विभक्त हो गया। प्रणव में जो सदाशिव थे, वे ओंकार नाम से विख्यात हुए और पार्थिव मूर्ति में जो शिव-ज्योति प्रतिष्ठित हुई, उसकी परमेश्वर संज्ञा हुई। परमेश्वर को ही अमरेश्वर भी कहते हैं।[4] ओंकार से उत्पन्न हुआ 'कर्मदेश' नामक उपलिङ्ग 'विन्दुसरोवर' में स्थित है। इसे सम्पूर्ण कामनाओं का दाता कहा गया है।[5]

5. केदारेश्वर

हिमगिरि के केदार शिखर पर भगवान् शिव का यह अवतार हुआ था।[6] शिव पुराण में कथा आती है कि भगवान् विष्णु के अवतार नर, नारायण ने एक समय भारतवर्ष के बदरिकाश्रम में पार्थिव शिवलिङ्ग बनाकर तपस्या किया। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—18 : 9
2. वही—18 : 13
3. वही—18 : 19
4. वही—18 : 23
5. वही—1-38
6. वही—42 : 31

परमेश्वर शिव ने उनसे वर माँगने को कहा। तब नर-नारायण ने लोगों के हित की कामना से कहा—'देवेश्वर! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझे वर देना चाहते हैं तो अपने स्वरूप में पूजा ग्रहण करने के लिए यही स्थित हो जाइये।'[1]

उन दोनों बन्धुओं के इस प्रकार अनुरोध करने पर कल्याणकारी महेश्वर हिमालय के उस केदार तीर्थ में स्वयं ज्योतिर्लिङ्ग के रूप में स्थित हो गये। जो भक्त केदारेश्वर शिव का दर्शन और पूजन करता है उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं।[2] केदारेश्वर के दर्शन से स्वप्न में भी दुःख नहीं प्राप्त होता।[3] जो व्यक्ति केदारेश्वर महादेव के मार्ग में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, निःसन्देह वे मुक्त हो जाते हैं तथा जो वहाँ पूजन कर जलपान करता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता।[4] केदारेश्वर लिङ्ग से उत्पन्न हुआ 'भूतेश' नामक उपलिङ्ग यमुना के तट पर स्थित है।

6. भीम शंकर

भगवान् शंकर का षष्ठ ज्योतिर्लिंगात्मक अवतार 'डाकिनी' नामक स्थान में हुआ था। यह स्थान कामरूप (आसाम) में पड़ता है।[5] इस अवतार का कारण इस प्रकार है—

राक्षस कर्कट से पुष्करी में उत्पन्न कर्कटी नाम की एक राक्षसी थी। एक बार रावणानुज कुम्भकर्ण ने उसके साथ संभोग किया। जिससे भीम नाम का एक बालक उत्पन्न हुआ।[6] भीम ने जब अपनी माँ से सुना कि उसके सम्पूर्ण परिवार का विनाश भगवान् हरि से हुआ है तो उसने बदला देने की भावना से ब्रह्मा को उद्देश्य करके तप किया और उनसे अतुल

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—19 : 6
2. वही—19 : 11
3. वही—19 : 12
4. वही—19 : 22, 23
5. शि० पु०, श० रु० सं०—42 : 31
6. शि० पु०, को०, रु० सं०—20 : 17, 18

बल प्राप्त किया। उसने सम्पूर्ण देवों को अधिकारच्युत कर उनको स्थान से निकाल दिया।[1]

देव विजय के अनन्तर उसने पृथिवी को जीतने के प्रसङ्ग में सबसे पहले 'कामरूपेश्वर' को, जो भगवान् शिव के प्रबल भक्त थे, जीतकर सपत्नीक उन्हें करागार में डाल दिया। एक दिन किसी अनुचर ने जाकर राक्षस-राज भीम से कहा कि 'राजा आपको मारने के लिए कुछ आभिचारिक क्रिया कर रहे हैं।

अनुचर के उपर्युक्त कथन को सुनकर वह राक्षस तलवार को हाथ में लेकर वहाँ पहुँचा जहाँ कामरूपेश्वर ध्यानरत थे। तदनन्तर अतिक्रुद्ध उस राक्षस ने अपने तलवार से उस पार्थिव लिङ्ग पर प्रहार किया। जब तक वह तलवार उस पार्थिव का स्पर्श करती उसके पूर्व ही उस पार्थिव से स्वयं भगवान् हर प्रकट हुये।[2] अपने हुङ्कारास्त्र से भगवान् शंकर ने ससैन्य भीम को जलाकर भस्म कर दिया।

राक्षस परिवार को विनष्ट देखकर देवों आदि ने भगवान् शंकर से वही निवास करने के लिये अनुरोध किया। तभी से भगवान् शंकर 'भीम शंकर' नाम से वह स्थित हो गये। इनके दर्शन से सम्पूर्ण आपत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं। 'भीम शंकर' से प्रकट हुआ 'भीमेश्वर' नामक उपलिङ्ग सह्य पर्वत पर स्थित है। उसके दर्शन और पूजन से बल की वृद्धि होती है।[3]

7. विश्वेश्वर

भगवान् शङ्कर का 'विश्वेश्वर' नामक अवतार 'काशी' में हुआ था।[4] इस ज्योतिर्लिङ्ग की पृष्ठभूमि में दार्शनिक भावना का संयोग है। शिव पुराण के अनुसार इस भूतल पर जो कोई

---

1. शि० पु०, को०, रु० सं०—20 : 32-34
2. वही—21 : 32
3. वही—1-40
4. शि० पु०, श० रु० सं०—42 : 3

वस्तु दृष्टिगोचर होती है, वह सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्विकार एवं सनातन ब्रह्म रूप है। जब उसी कैवल्य परमेश्वर ने कुछ अन्य होने की इच्छा की तो वही सगुण रूप से शिव हो गये। वह शिव स्त्री-पुरुष के भेद से दो प्रकार के रूप वाले हैं। उनमें जो पुरुष रूप हैं वह 'शिव' तथा जो स्त्री रूप हैं वह 'शक्ति' के नाम से जाना जाता है।[1] उन अदृष्ट, चिदानन्दस्वरूप से स्वभावतः प्रकृति (विष्णु की शक्ति) और पुरुष (विष्णु) निर्मित हुये।[2]

भगवान् शिव ने काशी में स्वयं अविमुक्त लिङ्ग की स्थापना की। स्थापना के बाद शङ्कर जी ने अपने लिङ्ग को कभी काशी का परित्याग न करने को कहा।[3] काशी में मुक्तिप्रद अविमुक्तेश्वर नामक लिङ्ग सदैव विराजमान रहता है।[4] जो महापातकी पुरुषों को भी मोक्ष प्रदान करने वाला है। अन्य मोक्षदायक धामों में प्राणियों को सारूप्यादि मुक्ति प्राप्त होती है किन्तु काशी में जीवों को सायुज्य नामक सर्वोत्तम मुक्ति मिलती है।[5] इनके कोई उपलिङ्ग नहीं हैं।

8. त्र्यम्बक

भगवान् शङ्कर का 'त्र्यम्बक' नामक अवतार गौतमी (गोदावरी) नदी के तट पर हुआ था।[6] शिव पुराण में कथा आती है कि एक बार ऋषियों ने गौतम मुनि पर गोहत्या काआरोप लगाकर ब्रह्मगिरि आश्रम से निष्कासित कर दिया था। गोहत्या से मुक्ति होने के लिए महर्षि गौतम ने कठिन तप किया। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने उन्हें पवित्र करने

---

1 शि० पु०, को० रु० सं०—22 : 3-4
2. वही—22 : 6
3. वही—22 : 21
4. वही—22 : 25
5. वही—22 :29
6. शि० पु०, श० रु० सं०—42 : 3

के लिए गंगा को दिया तथा उनसे (गंगा से) कहा—हे देवि! तुम वैवस्वत मनु के अट्ठाईसवें कलियुग तक यही निवास करो।[1]

भगवान् शिव के कथन को शिरोधार्य करती हुई गंगा जी ने उनसे निवेदन किया कि 'आप भी अम्बा एवं गणों के साथ मेरे पास वास करें।'[2] गंगा की इस प्रार्थना को सुनकर भगवान् शिव ने कहा कि 'मैं तुमसे भिन्न नहीं हूँ, तथापि मैं तुम्हारे समीप ही स्थित रहूँगा।' इस प्रकार गौतम तथा ऋषियों की प्रार्थना से भगवान् शङ्कर तथा गंगा जी वहाँ स्थित हुई। यह ज्योतिर्लिङ्ग 'त्र्यम्बक' नाम से विख्यात है। इसके दर्शन से सम्पूर्ण पाप विनष्ट हो जाते हैं।[3] अन्य ज्योतिर्लिङ्गों की अपेक्षा यह ज्योतिर्लिङ्ग अर्वाचीन है। शिव पुराण के अनुसार इसकी स्थापना हुये लगभग 800 वर्ष व्यतीत हुये हैं।

9. वैद्यनाथ

भगवान् शिव का नवम, वैद्यनाथ संज्ञक, ज्योतिर्लिङ्ग 'चिताभूमि' में स्थित है।[4] शिव पुराण के अनुसार राक्षसाधिप रावण कैलास पर्वत पर भक्ति भाव से भगवान् शिव की आराधना कर रहा था। कुछ काल तक आराधना करने पर जब महादेव जी प्रसन्न नहीं हुए, तब दैत्यराज रावण ने अपना मस्तक काटकर शङ्कर जी का पूजन आरम्भ किया। विधिपूर्वक शिव जी की पूजा करके वह अपना एक-एक सिर काटता और भगवान् को समर्पित कर देता था। इस तरह उसने क्रमशः अपना नौ सिर काट डाले। जब एक ही सिर बाकी रह गया, तब भक्तवत्सल भगवान् शङ्कर सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होकर वहीं उसके सामने प्रकट हो गये।[5] भगवान्

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—26 : 29
2. वही—26 : 32
3. वही—27 : 2
4. शि० पु०, श० रु० सं०—42 : 3
5. शि० पु०, को रु० सं०—28 : 2-4

शिव ने उसके सभी मस्तकों को नीरोग करके उसे उसकी इच्छा के अनुसार अनुपम उत्तम बल प्रदान किया।[1]

भगवान् शिव का कृपा प्रसाद पाकर राक्षस रावण वे नतमस्तक होकर कहा—'देवेश्वर! आप प्रसन्न होइये, मैं आपको लङ्का ले चलरहा हूँ। मैं आपकी शरण में आया हूँ, आप मेरे इस मनोरथ को सफल कीजिये।'[2] रावण के ऐसा कहने पर भगवान् शिव ने कहा—'राक्षसराज! तुम इस उत्तम लिङ्ग को अपने घर ले जा सकते हो। किन्तु तुम्हें यह स्मरण रखना है कि यदि तुम कहीं मार्ग में इस लिङ्ग को भूमि पर रख दोगे तो यह वहीं पर स्थित हो जायेगा।'[3]

भगवान् शङ्कर के ऐसा करने पर रावण ने उस शिवलिङ्ग को लेकर लङ्का की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में भगवान् शिव की माया से उसे लघुशंका की इच्छा हुई। वहाँ उसने एक गोप को उस लिङ्ग को देकर लघुशंका करने लगा। किन्तु एक मुहूर्त में ही शिवलिङ्ग के भार से पीड़ित उस ग्वाला ने उसे पृथ्वी पर रख दिया। तभी से वह हीरकमय शिवलिङ्ग वही स्थित हो गया।[4] यह लिङ्ग लोक में वैद्यनाथेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके दर्शन और पूजन से सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं।

10. नागेश्वर

दारुका वन में भगवान् शङ्कर का दशम अवतार हुआ था। यह वन पश्चिम समुद्र के तट पर स्थित है।[5] पहले पश्चिम सागर के तट पर राक्षसों का एक कुल था जिसका राजा

---

1. शि० पु०, को रु० सं०—28 : 10
2. वही—28 : 11-12
3. वही—28 : 14-15
4. वही—28 : 16-19
5. शि० पु०, श० रु० सं०—42 : 4

दारुक था। उसकी पत्नी दारुका पार्वती के वरदान से सदा घमण्ड में रहती थी।[1] जब देवताओं ने उन पर आक्रमण किया तब उन लोगों ने अपनी सम्पत्ति आदि ले जाकर समुद्र के मध्य अपना-अपना नगर बसाया। आर्व ऋषि के 'शाप' के कारण वे पृथ्वी पर नहीं आ सकते थे।[2]

एक बार राक्षसों ने नाविकों के एक ऐसे समूह को पकड़ कर कारागार में डाल दिया, जिसका नेता 'सुप्रिय' नामक वैश्य था। वह बड़ा सदाचारी, भस्म-रुद्राक्षधारी तथा भगवान् शिव का परम भक्त था।[3] वह स्वयं तो शिव-पूजा करता ही था किन्तु साथ-साथ अन्य लोगों को भी शैव-शिक्षा दिया करता था।[4] एक समय 'दारुक' राक्षस के किसी सेवक ने 'सुप्रिय' के आगे शिवजी का सुन्दर रूप देखा तो दौड़कर यह सब दिव्य चरित्र अपने स्वामी को सुनाया।[5] दारुक के पूछने पर भी जब 'सुप्रिय' ने अपने ध्येय के विषय में बतलाने से अस्वीकार कर दिया तब उसने अपने साथी राक्षसों से उसका वध करने का आदेश दिया। उन राक्षसों को आया देखकर 'सुप्रिय' के नेत्र भय से कातर हो गये, वह बड़े प्रेम से शिव का चिन्तन और उनके नामों का जप करने लगा।[6] ठीक उसी समय एक विवर से भगवान् शङ्कर निर्गत हुए। उनके साथ ही चार दरवाजों का एक उत्तम मन्दिर भी प्रकट हो गया। उसके मध्यभाग में अद्भुत ज्योतिर्मय शिवलिङ्ग प्रकाशित हो रहा था। उसके साथ शिव परिवार के सब लोग विद्यमान थे। भगवान् शिव के इस रूप को देखकर सुप्रिय ने उनका अभिनन्दन किया। इसके बाद भगवान् शिव ने दारुक सहित उन राक्षसों को वध कर डाला।[7]

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—29 : 2
2. वही—29 : 33
3. वही—29 : 40-43
4. वही—29 : 45
5. वही—30 : 1-2
6. वही—30 : 3-5
7. वही—30 : 13

वहाँ ज्योतिर्लिङ्ग स्वरूप शिव 'नागेश' नाम से तथा पार्वती 'नागेश्वरी' नाम से प्रसिद्ध हुई। वे तीनों लोकों में सम्पूर्ण कामनाओं को सदा पूर्ण करने वाले हैं। जो प्रतिदिन आदरपूर्वक नागेश्वर के प्रादुर्भाव का प्रसङ्ग सुनता है, वह बुद्धिमान् मानव महापातकों का नाश करने वाले सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त कर लेता है।[1] नागेश्वर से प्रकट हुआ 'भूतेश्वर' नामक उपलिङ्ग मल्लिका सरस्वती के किनारे स्थित है।

11. रामेश्वर

भगवान् शङ्कर का 'रामेश्वर' नामक ज्योतिर्लिङ्ग दक्षिण सागर के तट पर सेतुबन्ध में स्थित है।[2] शिव पुराण के अनुसार भगवान् विष्णु के रामावतार में जब रावण सीता जी को हरकर लङ्का ले गया, तब सुग्रीव के साथ वानर सेना लेकर श्रीराम समुद्र तट पर आये। वहाँ वे विचार करने लगे कि समुद्र को कैसे पार करेंगे और किस प्रकार रावण को जीतेंगे। उसी समय एक दिन जब वे शिव की पूजा में तल्लीन थे तब उनके समक्ष ज्योतिः स्वरूप भगवान् शिव प्रकट हुए और संग्राम में विजयी होने का वरदान उन्हें दिये।[3]

भगवान् श्रीराम पुनः शिवजी की स्तुति करते हुए प्रार्थना की कि—'यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो संसार को पवित्र करने और दूसरों का उपकार करने के लिए आप यहाँ निवास कीजिये।'[4] श्री राम के ऐसा कहने पर भगवान् शिव वहाँ ज्योतिर्लिङ्ग के रूप में स्थित हो गये। तीनों लोकों में 'रामेश्वर' के नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई।[5] भगवान् रामेश्वर सदा भोग और मोक्ष देने वाले तथा भक्तों की इच्छा पूर्ण करने वाले हैं। जो दिव्य गङ्गा जल से 'रामेश्वर' शिव

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—30 : 44
2. शि० पु०, श० रु० सं०—42 : 4
3. शि० पु०, को० रु० सं०—31 : 36, 37
4. वही—31 : 39
5. वही—31 : 40

को भक्तिपूर्वक स्नान कराता है, वह इस संसार में देवदुर्लभ समस्त भोगों का उपभोग करके अन्त में उत्तम ज्ञान पाकर निश्चय ही कैवल्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[1] 'रामेश्वर' से प्रकट हुआ 'गुप्तेश्वर' नाम का उपलिङ्ग भी प्रसिद्ध है।[2]

12. घुश्मेश

भगवान् शिव का 'घुश्मेश' नामक वारहवां ज्योतिर्लिङ्गात्मक अवतार दक्षिण दिशा में देवगिर के निकट 'शिवालय' नामक सरोवर में हुआ था।[3] इस अवतार की कथा शिव पुराण में इस प्रकार वर्णित की गयी है—

देवगिरि नामक पर्वत के निकट भरद्वाज कुल में उत्पन्न 'सुधर्मा' नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण रहते थे। जब उनकी पत्नी 'सुदेहा' से कोई सन्तान न हुई तब उसके सलाह पर सुधर्मा ने उसी की छोटी बहिन 'घुष्मा' से दूसरा विवाह किया।[4] 'घुष्मा' भगवान् शिव की भक्त थी। वह नित्य एक सौ एक पार्थिव शिवलिङ्ग बनाकर विधिपूर्वक पूजा करके निकटवर्ती तालाब में उनका विसर्जन करती थी।[5] जब शिवजी की कृपा से 'घुष्मा' को एक सुन्दर, सौभाग्यवान और सद्गुण सम्पन्न पुत्र हुआ तब उसका सम्मान बढ़ने से 'सुदेहा' का सन्ताप और ईर्ष्याभाव बढ़ने लगा। अत: उसने निश्चय किया कि वह घुष्मा के पुत्र को मारकर अपने सन्ताप को दूर करेगी।[6]

एक दिन रात में 'सुदेहा' ने अपने पास सोते हुए घुष्मा के पुत्र को मारकर उसी सरोवर

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—31 : 44
2. वही—31 : 42
3. शि० पु०, श० रु० सं०—42 : 4
4. शि० पु०, को० रु० सं०—32 : 40
5. वही—32 : 45
6. वही—33 : 12, 13

में ले जाकर फेंक दिया जहाँ घुष्मा नित्य ज्योतिर्लिङ्गों का विसर्जन करती थी।[1] प्रातःकाल सुधर्मा-दम्पति जब पूजा-रत थे तब विलाप करती हुई उनकी पुत्रवधू ने सूचना दी कि किसी अज्ञात व्यक्ति ने उनके पुत्र की हत्या कर दी है। किन्तु शिवभक्त वे दोनों न तो पूजा का परित्याग करके उठे और न शोक का अनुभव किये, क्योंकि ईश्वर के विधान एवं कार्य पर उन्हें पूर्ण विश्वास था।[2]

नित्य की भाँति अपनी पूजा को समाप्त कर जब 'घुष्मा' सरोवर में पार्थिव शिवलिङ्गों को फेंक कर लौटने लगी तब उसे अपना पुत्र उसी तालाब के किनारे खड़ा दिखायी दिया। अपने पुत्र को जीवित देखकर उसकी माता 'घुष्मा' को न तो हर्ष हुआ और न विषाद। उसी समय ज्योतिः स्वरूप से प्रकट हुये भगवान् शिव ने कहा—'घुष्मे! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, वर माँगो।'[3] 'घुष्मा' ने निवेदन किया 'देव! संसार की रक्षा के निमित्त मेरे नाम से आप यहाँ निवास करें।'[4]

घुष्मा की प्रार्थना पर भगवान् शिव ने पुनः कहा—मैं 'घुश्मेश' इस नाम से यहाँ निवास करूँगा। मेरा यह लिङ्ग संसार में प्रसिद्ध होगा और यह सरोवर भी लिङ्गों का आयतन होने के कारण 'शिवालय' नाम से त्रिलोकी में विख्यात होगा।[5]

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—33 : 15-17
2. वही—33 : 22-25
3. वही—33 : 34
4. वही—33 : 43
5. वही—33 : 45

शिव आराधना के प्रमुख उपादान

भगवान् शिव की आराधना में प्रयुक्त होने वाले रुद्राक्ष, भूति, मन्त्र एवं नैवेद्य आदि का विवरण प्रस्तुत करना यहाँ प्रासंगिक है। इनके अभाव में कोई शिवाराधक पूर्ण शैव नहीं कहा जा सकता है। शैव सम्प्रदाय उन्हें विशेष महत्त्व प्रदान करता है।

1. रुद्राक्ष

शिव आराधना में रुद्राक्ष की माला का धारण एवं उससे जप करने का विधान है। शिव पुराण के अनुसार यदि कोई व्यक्ति भगवान् शिव की अन्य उपासनाओं को न कर सकने पर केवल रुद्राक्ष ही धारण करता है तो वह एक चतुर्थांश में शिव भक्त कहा जाता है।[1]

रुद्राक्ष-उत्पत्ति के सन्दर्भ में शिव पुराण में एक रोचक कथा वर्णित है। एक समय जब भगवान् शिव तपस्या में लीन थे, उसी समय उनका मन क्षुब्ध हुआ। जब उन्होंने अपना नेत्र खोला तब उनके सुन्दर नेत्र पुटों से जल के बिन्दु भूतल पर टपक पड़े। उन बिन्दुओं से ही रुद्राक्ष के वृक्ष प्रादुर्भूत हुये। भक्तों के ऊपर परम अनुग्रह के कारण रुद्राक्ष वृक्ष के रूप में परिणत शिव-नेत्र बिन्दु स्थावरत्व को प्राप्त हो गये। विद्येश्वर संहिता के पच्चीसवें अध्याय में कहा गया है कि ब्राह्मण को श्वेत, क्षत्रिय को रक्त, वैश्य को पीत तथा शूद्र को कृष्ण वर्ण का रुद्राक्ष पहनना चाहिये।[2]

धात्री (आमला) के फल के बराबर होने वाला रुद्राक्ष सर्वश्रेष्ठ, बेर फल के बराबर

---

1. रुद्राक्षधारणात्पादमर्धैवैभूतिधारणात्।
   शि० पु०, वि० सं०—16 : 115
2. श्वेतरक्ताः पीतकृष्णावर्णाज्ञेयाः क्रमाद् बुधैः।
   शि० पु०, वि० सं०—25 : 12

का मध्यम और चने के बराबर का रुद्राक्ष अधम कहा गया है।[1] अब कैसे रुद्राक्ष के जप से कैसा फल होता है, इसका विवेचन करते हुये शिव पुराण में कहा गया है कि बेर फल के बराबर होने वाला रुद्राक्ष सुख एवं सौभाग्य को बढ़ाने वाला, धात्री फल के बराबर का समग्र अरिष्टविनाशक और गुंजा फल के बराबर का सम्पूर्ण अरिष्टों को प्रदान करने वाला कहा गया है।[2] रुद्राक्ष जितना अधिक छोटा होता है उतना ही अधिक फल-प्रद कहा गया है। एक बड़े रुद्राक्ष से एक छोटे रुद्राक्ष को दस गुना अधिक फल देने वाला बतलाया गया है।[3]

शिव पुराण में वर्णित है कि जो प्राणी रुद्राक्ष धारण करते हैं उन्हें कभी भी यमपुरी का दर्शन नहीं करना पड़ता। अत: अपनी कल्याण-कामना वाले व्यक्ति को चाहिये कि वे अवश्य ही रुद्राक्ष धारण करें। यतियों के लिए 'प्रणव' के उच्चारण पूर्वक रुद्राक्ष धारण करने का विधान है।[4]

विद्येश्वर संहिता में चौदह प्रकार के रुद्राक्ष वर्णित है, इनमें एक मुख वाला रुद्राक्ष साक्षात् शिव का स्वरूप वाला स्वीकार किया गया है जो भोग और मोक्ष दोनों का प्रदाता है।[5] रुद्राक्षों को धारण करने के लिए अलग-अलग चौदह मन्त्रों का भी यहाँ उल्लेख है।[6]

---

1. शि० पु०, वि० सं०—25 : 13, 14
2. वही—25 : 16, 17
3. वही—25 : 18
4. वही—25 : 47
5. वही—25 : 64
6. ॐ ह्नीनम:। ॐ नम: 2 ॐ क्लींनम: 3ॐ ह्नीनम: 4
   ॐ ह्नींनम: 5 ॐ ह्नीं हुं नम: 6 ॐ हुंनम: 7 ॐ हुंनम: 8
   ॐ ह्नींहुनम: 9 ॐ ह्नींनम: नम: 10 ॐ ह्नी हुं नम:11
   ॐ क्रों क्षौं रौं नम: 12 ॐ ह्नींनम: 13 ॐ नम: 14 भक्तिश्रद्धायुतश्चैव सर्वकामार्थसिद्धये रुद्राक्षान्धारयेन्मंत्रैर्देवनालस्य वर्जित:।—वही—25 : 81, 82

2. भूति (भस्म)

शैव धर्म में भस्म का विशेष महत्त्व है। विद्येश्वर संहिता में श्रद्धापूर्वक भस्म मात्र धारण करने वाले को अर्द्धांश में शिव भक्त कहा गया है, भले ही वह अन्य उपासनाओं को न करता हो।[1] सम्पूर्ण मंगलों की प्रदात्री यह भस्म दो प्रकार की कही गई है—(1) महाभस्म और (2) स्वल्पभस्म। श्रौत, स्मार्त और लौकिक के रूप में महाभस्म की तीन कोटियां शिव पुराण में वर्णित हैं।[2] इनमें श्रौत और स्मार्त भस्म द्विजों के लिए तथा लौकिक भस्म अन्य लोगों के लिए विहित है।[3] यहाँ स्वल्पभस्म की कोटियों का नाम, संकीर्तन न करते हुए मात्र यह कहा गया है कि इसके भी अनेक प्रकार है।

भस्म धारण-विधि के सन्दर्भ में शिव पुराण का कथन है कि द्विज वैदिक मन्त्र के उच्चारण के साथ भस्म धारण करे और अन्य लोग बिना मन्त्र के भी भस्म धारण कर सकते हैं।[4] महर्षि जावालि ने सभी वर्णों और आश्रमों के लिए मन्त्र द्वारा अथवा बिना मन्त्र के भी आदरपूर्वक भस्म से त्रिपुण्ड्र लगाने एवं उद्धूलन (शरीर में लेपन) का निर्देश दिया है।[5] शिव पुराण भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को त्रिपुण्ड्र धारण करने का विधान करता है।[6] यहाँ त्रिपुण्ड्र धारण एवं उद्धूलन की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जो प्राणी श्रद्धापूर्वक भस्म से त्रिपुण्ड्र धारण एवं उद्धूलन नहीं करता वह इस संसार से कभी भी मुक्त नहीं होता, अपितु वह महापापी बन जाता है। रुद्राक्ष एवं त्रिपुण्ड्रधारी चाण्डाल को भी पूज्य कहा गया है। सम्पूर्ण तीर्थों में निवास एवं स्नान से जो शुद्ध फल प्राप्त होता है वह भस्म स्नान

---

1. शि० पु०, वि० सं०—16 : 15
2. वही—24 : 2, 3
3. वही—24 : 4
4. वही—24 : 5
5. वही—24 : 9
6. वही—24 : 12

मात्र से प्राप्त हो जाता है।

भस्म धारण के विषय में शिव पुराण में कहा गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय मानस्तोके[1] मन्त्र से, वैश्य त्र्यम्बकं[2] मन्त्र से तथा शूद्र 'पञ्चाक्षर' मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म को धारण करें। त्रिपुण्ड्र धारण के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है कि भ्रुकुटी के मध्य से प्रारम्भ कर जहाँ तक उसका अन्त हो उतने प्रमाण तक के मस्तिष्क में त्रिपुण्ड्र धारण करना श्रेयस्कर है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण वर्ग भस्म धारण का अधिकारी है। विद्येश्वर संहिता में शिव निन्दकों एवं त्रिपुण्ड्र धारक भक्तो की निन्दा करने वालों को भस्म धारण हेतु निषेध का विधान किया गया है।[4]

3. मन्त्र

भारतीय उपासना पद्धति में मन्त्रों का विशिष्ट स्थान है। शिव पुराण में मन्त्र-चर्चा विस्तापूर्वक की गयी है। मन्त्र-जप के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये विद्येश्वर संहिता में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति, कार्य-कारणवश शिव पूजन के अन्य कार्य-कलापों को पूर्ण न कर सकने पर केवल नाम मन्त्र का जप करता है तो वह पौन अंश में शिव भक्त कहलाने का अधिकारी है।[5]

---

1. मा नस्तोके तनये मा न आयो, मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
   वीरान् मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥ —ऋ० 1 : 114 : 8
2. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्।
   उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥ —ऋ० 7 : 59 : 12
3. भ्रुवोर्मर्ध्यं समारभ्य यावदन्तो भ्रुवेद्भ्रुवोः।
   तावत्प्रमाणं संवार्यं ललाटे च त्रिपुण्ड्रकम्।।
   शि० पु०, वि० सं०—24 : 85
4. वही—24 : 46
5. वही—16 : 115

शिव पुराण में-प्रणव एवं पंचाक्षर-इन दोनों मन्त्रों का विशद् विवेचन है। विद्येश्वर संहिता में प्रणव अर्थात् 'ॐ' को सूक्ष्म प्रणव तथा पंचाक्षर मन्त्र अर्थात् 'नमः शिवाय' को स्थूल प्रणव के रूप में स्वीकार किया गया है। 'ॐ' को भी पाँच अक्षरों वाला कहा गया है; लेकिन यहाँ वे अव्यक्त रूप में हैं, इस कारण वह सूक्ष्म की संज्ञा से अभिहित है, जब कि 'नमः शिवाय' में पाँचों अक्षर व्यक्त है इस कारण उसकी स्थूल संज्ञा प्रदान की गयी है। शिव पुराण के आधार पर प्रणव एवं पंचाक्षर मन्त्रों को हम इस रूप में वर्णित कर सकते हैं—

प्रणव—भारतीय धार्मिक साहित्य में वेदों से लेकर पुराणों एवं स्मृतियों तक में 'प्रणव' की महत्ता प्रतिपादित है। 'प्रणव' को साक्षात् ब्रह्मा का स्वरूप स्वीकार किया गया है। समग्र संसार प्रणव से ही प्रादूर्भूत माना गया है। शिव पुराण में 'प्रणव' का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि—

'प्रणव' अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न संसार-सागर को पार करने के लिये ॐकार 'नव' नौकारूप है, अतः विद्वानों ने इसकी प्रणव संज्ञा की है अर्थात् प्रणव का जप संसार निवर्तक कहा गया है। अथवा ॐकार अपने जप करने वाले साधकों से कहता है—'प्र' अर्थात् प्रपंच, 'न' नहीं है, 'व' तुम में, अर्थात् आत्मा में कुछ भी प्रपंच नहीं है।[1] अतः इस भाव को लेकर भी ज्ञानी पुरुष 'ॐ' को प्रणव नाम से जानते हैं। इसकी दूसरी अवधारणा इस प्रकार है—'अ'—प्रकर्षेण, 'न'-नयेत, 'वः'—युष्मान मोक्षमिति वा प्रणवः। अर्थात् यह तुम सब उपासकों को बल पूर्वक मोक्ष तक पहुँचा देगा। इस अभिप्राय से भी ऋषि-मुनि इसे 'प्रणव' कहते हैं। अपना जप करने वाले योगियों के तथा अपने मन्त्र की पूजा करने वाले उपासक के समस्त कर्मों का नाश करके यह दिव्य नूतन ज्ञान देता है, इसीलिए भी इसका नाम 'प्रणव' है। उन मायारहित महेश्वर को भी 'नव' अर्थात् नूतन कहते हैं। वे परमात्मा प्रकृष्ट रूप से 'नव'

---

1. प्रः प्रपंचो न नास्ति वो युष्माकं प्रणवं विदुः।
   शि० पु०, वि० सं०—17 : 5

अर्थात् शुद्ध स्वरूप हैं, इसलिये 'प्रणव' कहलाते हैं। प्रणव साधक को 'नव' अर्थात् नवीन (शिव स्वरूप) कर देता है। इसलिए भी विद्वान पुरुष उसे प्रणव के नाम से जानते हैं।[1]

प्रणव के दो भेद स्वीकृत हैं—स्थूल और सूक्ष्म।[2] शिव पुराण में एकाकार रूप जो ओम् है उसे सूक्ष्म प्रणव कहा गया है। इसमें पाँचों अक्षर सुस्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं है जबकि स्थूल प्रणव अर्थात् 'नमःशिवाय' में सुस्पष्ट रूप से व्यक्त है।[3] जीवन्मुक्त पुरुष के लिए सूक्ष्म प्रणव के जप का विधान है। वही उसके लिये समस्त साधनों का सार है। वह अपनी देह का विलय होने तक सूक्ष्म प्रणव मन्त्र का जप और उसके सारभूत परमात्म-तत्त्व का अनुसन्धान करता रहता है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तब वह पूर्ण ब्रह्म स्वरूप शिव को प्राप्त कर लेता है।[4]

सूक्ष्म प्रणव के भी दीर्घ और ह्रस्व दो भेद कहे गये हैं। अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, शब्द, काल और कला—इनसे युक्त जो प्रणव है, उसे 'दीर्घ प्रणव' कहते हैं। वह योगियों के हृदय में निवास करता है। मकार पर्यन्त जो ओम है, वह अ, उ, म—इन तीन तत्त्वों से युक्त है। इसी को 'ह्रस्व प्रणव' कहते हैं।[5] 'अ' शिव है, 'उ' शक्ति है और मकार इन दोनों की एकता है।

कैलास संहिता में 'प्रणव' की महत्ता का विवेचन करते हुए कहा गया है कि भगवान् शिव ही प्रणव हैं और प्रणव ही शिव है, क्योंकि वाच्य और वाचक में परस्पर अत्यन्त भेद नहीं होता है। जब भगवान् शिव प्रणव रूप हैं, तभी तो वाच्य एवं वाचक की एकता को मानने

---

1. प्रणवं द्विविधं प्रोक्तं सूक्ष्मस्थूलविभेदतः।
   शि० पु०, वि० सं०—17 : 7
2. वही—17 : 8
3. वही—17 : 9
4. वही—17 : 10-12
5. वही—17 : 13-15

वाले विद्वान् मनीषियों ने उन्हें एकाक्षर देव कहा है।[1] जब प्राणी काशी में प्राण त्यागने लगता है उस समय उसकी मुक्ति की कामना से भगवान् शङ्कर उसके कानों में, अप्रत्यक्ष रूप से सब मन्त्रों के शिरोमणि इस 'प्रणव' का ही उपदेश करते हैं।

अ, उ, म ये तीन मात्रायें और बिन्दु, नाद इनके सम्पृक्त रूप—वर्ण-पंचक को 'प्रणव' कहा गया है। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का प्राण होने के कारण भी इसको 'प्रणव' कहते हैं। ॐ की निष्पत्ति करते हुए कहा गया है कि आद्य वर्ण अकार है, तदनन्तर उकार एवं मकार क्रमशः है। सबसे अन्त में नाद है।[2] अकार, उकार, मकार ये तीन मात्रायें क्रम से हैं और उनके बाद अर्द्धमात्रा बिन्दु-नाद स्वरूप है।[3]

'प्रणव' की अकार, उकार, मकार और नाद-ये चार मात्रायें वेद में भी निर्दिष्ट हैं। यद्यपि समूह के रूप में ओंकार ब्रह्म महेश्वर का वाचक है। कैलाश संहिता में कहा गया है कि उसकी एक-एक मात्रायें भी उनके अंगभूत प्रधान देवों की प्रादूर्भूता हैं। अकार के रजो गुण से ब्रह्मा, उकार के सतो गुण से हरि एवं मकार के तमो गुण से भगवान् शङ्कर उत्पन्न हुए।[4]

विद्येश्वर संहिता के दशम अध्याय में ब्रहमा और विष्णु को सम्बोधित करते हुए भगवान् शिव का कथन है कि महामंगलकारी मन्त्र ओंकार सबसे पहले मेरे श्रीमुख से प्रकट हुआ, जो मेरे स्वरूपका बोध कराने वाला है। ओंकार वाचक है और मैं वाच्य हूँ। मेरे उत्तरवर्ती मुख से अकार का, पश्चिम मुख से उकार का, दक्षिण मुख से मकार का, पूर्ववर्ती मुख से विन्दु का तथा मध्यवर्ती मुख से नाद का प्राकट्य हुआ। इन सभी अवयवों से एकीभूत होकर वह 'प्रणव' ओम् नामक एक अक्षर हो गया। इसी से पञ्चाक्षर मन्त्र—'नमः शिवाय'

---

1. शि० पु०, कै० सं०—3 : 7-8
2. वही—3 : 15
3. वही—3 : 17, 18
4. वही—3 : 21, 22

की उत्पत्ति हुई, जो मेरे समग्र रूप को बोधक है।[1]

पञ्चाक्षर मन्त्र 'नमः शिवाय' को स्थूल प्रणव कहा गया है। इसे समस्त शिव-भक्तों के सम्पूर्ण अर्थ का साधक कहा गया है। इस मन्त्र में अक्षर तो थोड़े ही है, परन्तु यह महान् अर्थ से सम्पन्न है। यह वेद का सार तत्त्व है, मोक्ष देने वाला है, शिव की आज्ञा से सिद्ध है, सन्देह शून्य है तथा शिव स्वरूप वाक्य है। यह नाना प्रकार की सिद्धियों से युक्त, दिव्य लोगों के मन को प्रसन्न एवं निर्मल करने वाला, सुनिश्चित अर्थ वाला (अथवा निश्चय ही मनोरथ को पूर्ण करने वाला) तथा परमेश्वर का गम्भीर वचन है। इस मन्त्र का मुख से सुखपूर्वक उच्चारण होता है। सर्वज्ञ शिव ने सम्पूर्ण देहधारियों के सारे मनोरथों की सिद्धि के लिए इस मन्त्र का प्रतिपादन किया है। यह मन्त्र सम्पूर्ण विद्याओं का बीज है, महान् अर्थों से संवलित एवं समस्त फलों की प्रदात्री है।[2]

पञ्चाक्षर मन्त्र की महत्ता को स्पष्ट करते हुए वायवीय संहिता में कहा गया है कि एकाक्षर मन्त्र ओंकार में तीनों गुणों से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, द्युतिमान् सर्वव्यापी प्रभुशिव प्रतिष्ठित हैं। ईशान आदि जो सूक्ष्म एकाक्षर रूप ब्रह्म हैं, वे सब 'नमः शिवाय' इस मन्त्र में क्रमशः स्थित हैं। सूक्ष्म षडक्षर मन्त्र में पंचब्रह्मरूपधारी साक्षात् भगवान् शिव स्वभावतः वाच्यवाचक भाव से विराजमान हैं। अप्रमेय होने के कारण शिव वाच्य हैं और मन्त्र उनका वाचक है। शिव और मन्त्र का यह वाच्यवाचक भाव अनादिकाल से चला आ रहा है।[3] अभिधान औरअभिदेय अर्थात् वाचक और वाच्य रूप होने के कारण परम शिव स्वरूप यह मन्त्र सिद्ध एवं परम शिव है।[4] यह शिव वाक्य है। इसमें ही समस्त शिव ज्ञान समाहित है

---

1. शि० पु०, वि० सं०—10 : 15-19
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० ख०—12 : 3-9
3. वही—12 : 40-41
4. वही—12 : 19

और परमपद का प्रदाता है। यह शिव का विधि-वाक्य है, अर्थवाद मात्र नहीं है। यह भगवान् शिव का स्वरूप है, जो सर्वज्ञ, परिपूर्ण और स्वभावतः निर्मल है।[1] भगवान् द्वारा प्रणीत होने के कारण यह पञ्चाक्षर मन्त्र प्रमाणभूत है।

मन्त्रों की बहुलता होने पर भी सर्वज्ञ शिव के द्वारा प्रणीत मन्त्र सर्वोच्च है। इसमें अंगों सहित सम्पूर्ण वेद और शास्त्र विद्यमान् है; अतः उसके समान दूसरा कोई मन्त्र कहीं नहीं है। सात करोड़ महामन्त्रों और अनेकानेक उपमन्त्रों से यह मन्त्र उसी प्रकार भिन्न है, जैसे वृत्ति से सूत्र भिन्न होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि वृत्ति, सूत्र की व्याख्या मात्र हुआ करती है। पञ्चाक्षर मन्त्र सूत्र रूप है और समस्त वेद शास्त्र आदि इसी मन्त्र की व्याख्या के रूप में रचित अध्ययन सामग्री मात्र हैं। अर्थात् जितने शिव ज्ञान हैं और जो-जो विद्यास्थान हैं वे सब इसी पञ्चाक्षर मन्त्ररूपी सूत्र के भाष्य हैं।[2]

भगवान् शिव द्वारा उपविष्ट यह पञ्चाक्षर मन्त्र समस्त बन्धनों को नष्ट करने वाला तथा मोक्ष को प्रदान करने वाला है। जिसके हृदय में यह मन्त्र प्रतिष्ठित है; उसे अन्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन है, यह शिव पुराण की वायवीय संहिता में श्रीकृष्ण को उपदिष्ट करते हुए उपमन्यु का कथन है। उन्होंने इस पञ्चाक्षर मन्त्र की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिसने इस मन्त्र को दृढतापूर्वक अपना लिया है, वह सम्पूर्ण शास्त्रों का अध्येता एवं समस्त शुभ कृत्यों का अनुष्ठानकर्ता स्वतः स्वीकृत हो जाता है। जिसकी जिह्वा के अग्रभाग में यह महामन्त्र विद्यमान है, उसका जीवन धन्य है। इस मन्त्र के जप में संलग्न पुरुष चाहे वह जिस भी कुल से सम्बन्धित हो, वह समस्त पापों से मुक्त होकर भगवान् शिव के परमधाम को प्राप्त हो जाता है।[3]

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० ख०—12 : 21
2. वही—12 : 29-33
3. वही—12 : 36-38

मन्त्र-जप-विधि

भारतीय उपासना पद्धति में मन्त्रों के जप का एक शास्त्रीय विधान है और उस विधान के अनुसार ही जप करने से साधक को इच्छित फल का लाभ होता है अन्यथा उसके अकल्याण की सम्भावना बनी रहती है। प्रणव के एकाक्षर रूप 'ओम्' के सन्दर्भ में विद्येश्वर संहिता के सत्रहवें अध्याय में वर्णित है कि यह मन्त्र जीवन्मुक्त पुरुषों के लिए विहित है जब कि पञ्चाक्षर मन्त्र सभी निष्ठावान् शिव भक्तों के लिए श्रेयस्कर है।[1] पञ्चाक्षर मन्त्र के जप के परिप्रेक्ष्य में शिव पुराण का निर्देश है कि उसके साथ 'ओम्' को जोड़कर 'ॐ नमः शिवाय' इस रूप में जप के लिए यह मन्त्र प्रयुक्त हो।

शिव पुराण सदाचारी शिव भक्त को विधिपूर्वक गुरु से मन्त्र दीक्षा का विधान करता है।[2] सिद्ध गुरु के उपदेश से प्राप्त हुआ मन्त्र 'सुसिद्ध' तथा असिद्ध गुरु द्वारा भी प्राप्त मन्त्र 'सिद्ध' कहा गया है।[3] इस महाज्ञान के लिए सर्वप्रथम शिष्य के लिए विधान है कि वह तत्त्ववेत्ता आचार्य, जपशील, सद्गुणसम्पन्न, ध्यानयोगपरायण गुरु की सेवा में रत रहते हुए मन में शुद्ध भाव रखकर प्रयत्नपूर्वक उन्हें सन्तुष्ट करे और अनुग्रहपूर्वक विधि के अनुसार मन्त्र एवं ज्ञान का उपदेश क्रमशः प्राप्त करे।[4]

साधक को चाहिए कि वह शुद्ध देश में स्नान करके सुन्दर आसन बाँधकर अपने हृदय में शिवा सहित शिव एवं अपने गुरु का चिन्तन करते हुये उत्तर या पूर्व दिशा की ओर अभिमुख होकर मौन भाव से बैठे और चित्त को एकाग्र करे तथा दहन-प्लावन आदि के द्वारा पञ्च तत्त्वों का शोधन करके मन्त्र का न्यास आदि करे। इसके बाद सकली-करण की क्रिया

---

1. शि० पु०, वि० सं०—17 : 10
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—14 : 8
3. वही—14 : 69
4. वही—14 : 3-6

सम्पन्न करके प्राण और अपान का नियमन करते हुये शिव-पार्वती का ध्यान करे और विद्यास्थान अपने रूप, ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति तथा मन्त्र के वाच्यार्थ रूप भगवान् शिव का स्मरण करके पञ्चाक्षरी का जप करे।[1]

शिव पुराण के अनुसार मानस, उपांशु और वाचिक भेद से मन्त्र-जप करने की विधि त्रिधा कही गई है। आगमार्थविशारदों के अनुसार मानस जप 'उत्तम', उपांशु 'मध्यम' और वाचिक 'अधम' कहा गया है।[2] जो ऊँचे-नीचे स्वर से युक्त तथा स्पष्ट और अस्पष्ट पदों एवं अक्षरों के साथ मन्त्र का वाणी द्वारा उच्चारण करता है, उसका यह जप **'वाचिक'** कहलाता है। जिस जप में केवल जिह्वा मात्र स्पन्दित होती है अथवा बहुत धीमे स्वर से अक्षरों का उच्चारण होता है तथा जो दूसरों के कान में पड़ने पर भी उन्हें कुछ सुनाई नहीं देता, ऐसे जप को **'उपांशु'** कहते हैं। जिस जप में अक्षर पंक्ति का,एक वर्ण से दूसरे वर्ण का, एक पद के बाद दूसरे पद का तथा शब्द और अर्थ का मन के द्वारा बराबर चिंतन मात्र होता है, उसे **'मानस'** जप कहते हैं।[3] वाचिक से एक, उपांशु से सौ, मानसिक से सहस्र गुणा और आदि अन्त में प्राणायाम से सगर्भ करने से उससे भी सौ गुणा अधिक फल होता है। प्राणायाम से युक्त जप सगर्भ कहा गया है।

अंगुली से जप की गणना करना एक गुण बताया गया है। रेखा से गणना करना आठ गुणा उत्तम समझना चाहिये। पुत्र जीव (जिया पोता) के बीजों की माला से गणना करने पर जप का दश गुणा अधिक फल होता है। शंख के मानकों से सौ गुणा, मुंगों से हजार गुणा, स्फटिक मणि की माला से दस हजार गुणा, मुक्ता माला से लक्ष गुणा अधिक फल बतलाया गया है। कुश की गांठ से तथा रुद्राक्ष की माला से गणना करने पर अनन्त गुणा फल की प्राप्ति

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—14 : 20-23
2. वही—14 : 25
3. वही—14 : 26-28

होती है।[1]

जप कर्म में अंगुष्ठ को मोक्षदायक समझना चाहिये और तर्जनी को शत्रुनाशक। मध्यमा धन देती है और अनामिका शान्ति प्रदान करती है। एक सौ आठ दानों की माला उत्तमोत्तम मानी गई है। चौवन दानों की माला मनोहारिणी एवं श्रेष्ठ कही गई है। माला को इस ढंग से रखकर जप करना चाहिये कि अन्य लोग उसे देख न सकें।[2]

जप करने के समय माला किन अँगुलियों से घुमाई जाय, इसका भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। जप करने में कनिष्ठिका दु:खनाश करने वाली है। अंगुष्ठ के बिना किया गया जप निष्फल होता है।[3]

घर में किये हुये जप को समान या एक गुना समझना चाहिये। गोशाला में उसका फल सौ गुना हो जाता है, पवित्र वन अथवा उद्यान में किये हुये जप का फल सहस्र गुणा बताया गया है। पवित्र पर्वत पर दश सहस्र गुणा, नदी के तट पर लक्ष गुणा, देवालय में कोटि गुणा और शिव के निकट किया हुआ जप अनन्त गुणा कहा गया है।[4]

शिर पर पगड़ी रखकर, कुर्ता पहनकर, नंगा होकर, बाल खोलकर गले में कपड़ा लपेटकर, अशुद्ध हाथ लेकर, सम्पूर्ण शरीर से अशुद्ध रहकर तथा विलापपूर्वक कभी जप नहीं करना चाहिये। जब करते समय क्रोध, मद, छींकना, थूकना एवं नीच पुरुषों की ओर देखना वर्जित है। बिना आसन के बैठकर, सोकर, चलते-चलते अथवा खड़ा होकर जप नहीं करना चाहिये।[5]

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—14 : 34-36
2. वही—14 : 39-41
3. वही—14 : 42
4. वही—14 : 43-45
5. वही—14 : 48-49

शिव पुराण का निर्देश है कि शिव भक्त जब तक जीये, तब तक अनन्यभाव से तत्परतापूर्वक नित्य एक हजार आठ मन्त्रों का जप किया करे।[1] ऐसा साधक परम गति को प्राप्त होता है, जो प्रतिदिन संयम से रहकर केवल रात में भोजन करता है और मन्त्र में जितने अक्षर हैं उतने लाख का चौगुना जप श्रद्धापूर्वक पूर्ण करता है वह 'पौरश्चरणिक' कहलाता है।[2] पुरश्चरण के पश्चात् प्रतिदिन जप में रत साधक सिद्ध हो जाता है।[3]

4. शिव-नैवेद्य

लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि शिव समर्पित नैवेद्य का भक्षण नहीं करना चाहिये। यह प्रसिद्धि न केवल आज ही प्रचलित है, अपितु इसका प्रचार पुराणकाल एवं उससे पूर्व में भी था।[4] किन्तु यह प्रसिद्धि शास्त्रीय सिद्धान्त की अनभिज्ञता के कारण ही है। शिव पुराण विद्येश्वर संहिता के बाईसवें अध्याय में शिव-नैवेद्य की प्रशंसा स्पष्ट रूप से की गई है। वहाँ लिखा है—''शिव नैवेद्य को देखने मात्र से समस्त पाप दूर भाग जाते हैं। उसके खा लेने पर तो करोड़ों पुण्य अपने भीतर आ जाते हैं। आये हुये शिव नैवेद्य को शिर झुकाकर मुदित मन से ग्रहण करे और प्रयत्नपूर्वक शिवजी का स्मरण करके उसका भक्षण करे। जिसके मन में शिव-नैवेद्य के ग्रहण की इच्छा नहीं होती वह घोर पापी है और निश्चय ही नरकगामी होगा। शिव की दीक्षा से युक्त शिव भक्त पुरुष के लिये सभी शिवलिङ्गों का नैवेद्य शुभ और महाप्रसाद है। अत: वह उसका अवश्य भक्षण करे।''[5]

इस प्रकार जो शिव मन्त्र से दीक्षित हैं, वे सभी लिंगों के नैवेद्य-भक्षण के अधिकारी हैं। किन्तु जिनकी अन्य दीक्षा है, उनके लिये शिव पुराण में इस प्रकार विचापूर्ण निर्णय दिया गया

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—14 : 17
2. वही—14 : 18
3. वही—14 : 19
4. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—17 : 29
5. शि० पु०, वि० सं०—22 : 4, 7, 9, 11

है—'जिस स्थान में शालग्राम शिला की उत्पत्ति होती है, वहाँ से उत्पन्न लिंग को, पारद (पारा) के लिङ्ग को, पाषाण, रजत तथा स्वर्ण से निर्मित लिङ्ग को, देवता तथा सिद्धों के द्वारा प्रतिष्ठित लिङ्ग को, स्फटिक लिङ्ग को, रत्न निर्मित लिङ्ग को, समस्त ज्योतिर्लिङ्गों को समर्पित शिव का नैवेद्य-भक्षण चान्द्रायण व्रत के समान पुण्यजनक है। ब्रह्म हत्या करने वाला पुरुष भी यदि पवित्र होकर शिव निर्माल्य भक्षण कर उसे धारण करे तो उसका सारा पाप नष्ट हो जाता है।[1]

नर्मदेश्वर लिङ्ग, धातुमय लिङ्ग, रत्न लिङ्ग, सिद्ध लिङ्ग—इन लिङ्गों के ऊपर चढ़ाये गये निर्माल्य का सब के लिये ग्रहण तथा भक्षण करना विधि सम्मत है। अन्य लिङ्गों के ऊपर चढ़ाएं हुये नैवेद्य तथा निर्माल्यों का ग्रहण करना शास्त्र सम्मत नहीं है। शिव निर्माल्य-ग्रहण तथा शिव-नैवेद्य भक्षण के निमित्त जो प्रायश्चित शास्त्र में कहे गये हैं, वे भी इन निषिद्ध नैवेद्य तथा निर्माल्यों के विषय में ही हैं।

शिव पुराण के अनुशीलन से वस्तुतः यही बात प्रतीत होती है कि पुराण काल से पूर्व और पुराण काल में भी शिव के प्रति लोगों में विद्वेष, की भावना व्याप्त थी। विद्वेष-भावना के कारण ही शिव का निर्माल्य अग्राह्य ठहराया गया था। यद्यपि शिव पुराण में उक्त भावना का समाधान करने का प्रयत्न किया गया है तथापि शिव निर्माल्य की अग्राह्यता की भावना भी इसमें स्पष्ट रूप से चित्रित हो गई है। वस्तुतः शिव पुराण में दो तरह की भावनाओं का चित्रण उसके काल में वैविध्य की ही सूचना देता है। निश्चय ही शिव पुराण के जिस अंश में निर्माल्य की अग्राह्यता प्रतिपादित है वह अपेक्षाकृत प्राचीन है और समाधान वाला अंश उसकी अपेक्षा अर्वाचीन ही प्रतीत होता है। शनैः-शनैः शिव के प्रति पूर्वकाल की विद्वेष भावना समय के प्रवाह के साथ शिव की प्रतिष्ठा वृद्धि होने पर, मृदुता में परिवर्तित होती हुई और शिव निर्माल्य भी कुछ अंश में ग्राह्य माना जाने लगा।

---

1. शि० पु०, वि० सं०—22 : 12-15

शैव-व्रत

सामान्य जनता एवं शैव सम्प्रदाय में शिव रात्रि का अपना एक विशिष्ट स्थान है। काशी आदि पवित्र शैव स्थलों में उस दिन व्रत न रहना घृणित कार्य माना जाता है। इस व्रत का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, शिव पुराण में इस विषय पर एक बड़ी ही मनोरंजक कथा है—

'एक समय कौन श्रेष्ठ है, इस बात को लेकर ब्रह्मा एवं विष्णु में महासमर हुआ। उनके कलह को शान्त न होते देख भगवान् शंकर ने अपने प्रताप से उसे शान्त किया। युद्ध-समाप्ति पर ब्रह्मा एवं विष्णु ने भगवान् शिव की पूजा की। उनकी उस पूजा से परम प्रसन्न हो भगवान् शंकर ने कहा था—'आज के दिन मैं आप लोगों की पूजा से बहुत ही सन्तुष्ट हूँ। इसलिये आज का दिन संसार में बहुत ही पवित्र एवं महत्त्व वाला होगा। आज की यह तिथि मुझे बहुत ही प्रिय है। लोक में यह तिथि शिवरात्रि के नाम प्रसिद्ध होगी।'[1] तभी से लोक में शिवरात्रि की परम्परा प्रचलित हुई एवं आज के इस भौतिक प्रधान वातावरण में भी उसका एक पवित्र तथा श्रेष्ठ स्थान है।

शिवरात्रि व्रत के माहात्म्य के प्रसंग में कहा गया है कि—लगातार एक वर्ष तक शिव की पूजा कर व्यक्ति जिस फल को प्राप्त करता है, वह फल शिवरात्रि के एक दिनात्मक पूजन से सद्य: प्राप्त होता है। मोक्ष के चारों उपायों में (भगवान् शिव की पूजा, रुद्रमंत्रों का जप, शिव मंदिर में उपवास तथा काशी में मरण) शिवरात्रि व्रत सर्वश्रेष्ठ है। अत: भुक्ति एवं मुक्ति को चाहने वाले व्यक्तियों को चाहिये कि वे यत्नपूर्वक शिवरात्रि व्रत को करें। यह व्रत सभी

---

1. शि० पु०, वि० सं०—9 : 10

प्राणियों के लिये है, चाहे वे जिस जाति एवं लिङ्ग के हों।[1]

इसके अतिरिक्त शिव के बहुत से व्रत हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। उनमें मुख्य दश व्रत हैं जिन्हें जाबालि श्रुति के विद्वान् 'दश शैवव्रत'[2] कहते हैं। द्विजों को सदा प्रयत्नपूर्वक इन व्रतों का पालन करना चाहिये। कल्याणाकांक्षी व्यक्ति को चाहिये कि वह प्रत्येक अष्टमी को रात्रि में ही भोजन करे। विशेषतः कृष्णपक्ष की अष्टमी को भोजन का सर्वथा त्याग कर दे। शुक्ल पक्ष की एकादशी को भी भोजन छोड़ दे। किन्तु कृष्णपक्ष की एकादशी की रात्रि में शिव पूजन करने के पश्चात् भोजन किया जा सकता है। शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को शिवव्रतधारी पुरुषों के लिये भोजन का सर्वथा निषेध है। दोनों पक्षों में प्रत्येक सोमवार को यत्नपूर्वक केवल रात्रि में ही भोजन करना चाहिये। सोमवार की अष्टमी और कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी-इन दो तिथियों को उपवास पूर्वक व्रत रहने से भगवान् शिव सन्तुष्ट होते हैं। किन्तु शिवरात्रि का व्रत सब व्रतों में श्रेष्ठतम है।

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—38 : 22-23
2. वही—38 : 9-10

वर्णाश्रम-धर्म

पुराणों ने सभी वर्णों एवं आश्रमों के लिये लोक तथा परलोक में आनन्द से जीवन व्यतीत करने का सबसे सुगम एवं कल्याणप्रद मार्ग निर्धारित किया है। शिव पुराण के अनुसार वर्णाश्रम की व्यवस्था भी उसी समय से प्रचलित है। जिस समय से ब्रह्मा जी ने संसार की रचना प्रारम्भ की।[1] भगवान् शंकर का कथन है कि जो मानव अपने वर्णाश्रम धर्म में रत रहता है उसी की मुझ में श्रद्धा होती है, किसी अन्य की नहीं। आश्रमियों के सम्पूर्ण शास्त्रसिद्धि धर्म को पूर्वकाल में भगवान् शंकर की आज्ञा से ब्रह्मा जी के द्वारा कहे जाने की बात उपलब्ध होती है।[2]

वैदिक काल में मान्य प्रणाली के अनुसार ही पौराणिक काल में भी वर्ण व्यवस्था प्रचलित एवं मान्य थी। समाज में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वश्रेष्ठ थी। क्षत्रियों को द्वितीय स्थान प्राप्त था। शूद्र सबके सेवक अर्थात् निम्न थे। उस समय तक वैदिक युग की यह धारणा कि भगवान् के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा सै वैश्य एवं पैर से शूद्र प्रादुर्भूत हुये हैं[3] पूर्ण रूप से स्थापित एवं मान्य हो चुकी थी। धर्मग्रन्थों एवं पुराणों में उनके धर्म का सम्यक् निर्धारण हो चुका था, जिसका पालन प्रत्येक प्राणी का अवश्य कर्त्तव्य समझा जाता था।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष में चातुर्वर्ण्य एवं उसके लिये विहित आचार की चर्चा, अति प्राचीन काल से, श्रुतियों एवं स्मृतियों के माध्यम से चली आ रही है। प्रत्येक वर्ण के लिये निर्धारित आचार का कठोरता से पालन होता था। वर्णाचार का पालन न करने वाला जाति-बहिष्कृत एवं कठोर रूप से दण्डनीय होता था।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—8 : 11
2. वही—10 : 18-19
3. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—56 : 27

शिव पुराण में ब्राह्मणों के तीन विभाग किये गये हैं—उत्कल ब्राह्मण, पश्चिमी ब्राह्मण और पौरस्त्य ब्राह्मण। इसके विषय में उमासंहिता के षट्त्रिंशत् अध्याय में एक कथा दी गई है—'एक समय वैवस्वत मनु पुत्र-कामना से यज्ञ कर रहे थे। उनके यज्ञ से एक दिव्य शरीरधारिणी, अति सुन्दर 'ईडा' नामक कन्या उत्पन्न हुई। उसने मनु से कहा 'आप मेरा अनुगमन करें, मैं मित्रावरुण के समीप चल रही हूँ, क्योंकि मेरी उत्पत्ति उन्हीं के अंश से हुई है। मेरी अधर्म में स्वल्प भी रुचि नहीं है। ऐसा कहकर वह मित्रावरुण के समीप गई और हाथ जोड़कर उन दोनों से कहा 'मैं आप दोनों के अंश से उत्पन्न हुई हूँ। बतलाइये अब क्या करूं?' उत्तर में मित्रावरुण ने कहा—'हम दोनों तुम्हारे इस प्रश्रय (शालीनता), दम एवं सत्य से प्रसन्न हैं। भविष्य में तुम हम दोनों की प्रसिद्धि को प्राप्त करोगी तथा तुम्हीं, आगे चलकर मनुवंश को बढ़ाने वाला पुत्र होओगी। उस समय तुम्हारा नाम सुद्युम्न होगा।[1] तुम्हारी ख्याति त्रिलोकी में विस्तृत होगी और तुम जगत्प्रिय, धर्मशील एवं मनुवंशवर्धन होओगी।' तदनन्तर जब ईडा अपने पिता के घर जा रही थी तब मार्ग में उसने बुध के साथ मैथुन किया। कालान्तर में उससे पुरुरवा का जन्म हुआ।[2] पुत्र पुरुरवा के उत्पन्न होने के अनन्तर भगवान् शंकर की कृपा से ईडा 'सुद्युम्न' हो गई। सुद्युम्न के तीन दायाद पुत्र उत्कल, गय और विनताश्व थे। वे सभी बड़े ही धर्मशील थे। समय आने पर उत्कल से उत्कल ब्राह्मण, विनताश्व से पश्चिमी ब्राह्मण और गय से पौरस्त्य ब्राह्मण प्रवर्तित हुये।[3]

श्रुतियों एवं स्मृतियों में विहित आचार-संहिता जो ब्राह्मणों के लिए आचरित है उसमें किसी प्रकार की न्यूनता शिव पुराण स्वीकार नहीं करता। राज सेवा में संलग्न ब्राह्मण को ब्राह्मण न मानकर क्षत्रिय-ब्राह्मण कहा गया है। इसी तरह वाणिज्य में संलग्न ब्राह्मण वैश्य ब्राह्मण तथा हल चलाने वाला शूद्र ब्राह्मण एवं निन्दक परद्रोही ब्राह्मण को चाण्डाल ब्राह्मण

---

1. शि० पु०, उ० सं०—36 : 12, 13
2. वही—36 : 14, 15
3. वही—36 : 17, 18

कहा गया है।

क्षत्रिय का भुजबल से ही धनार्जन प्रशस्त माना गया है। भारत का अतीत राजतन्त्रीय था। शासक बहुधा क्षत्रिय ही हुआ करते थे। प्राणियों की विनाश से रक्षा करना ही क्षत्रिय का प्रधान कर्तव्य माना जाता था। यदि किसी भाँति राज्य उक्त कर्तव्य से विपरीत वृत्ति वाला हो जाता था, प्रजा अपने धर्म के पालन शिथिल हो जाती थी, तो राजा लोग उपक्रोश से मलीमस अपने प्राणों का भी भी धारण करना पसन्द नहीं करते थे।[1]

शिव पुराण में भी प्रसंग वश यत्र-तत्र राजाओं के कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया है। भक्त राजा भद्रायु की परीक्षा के प्रसंग में द्विजेस्वर रूपधारी भगवान् शंकर ने व्याघ्र से अपनी स्त्री की रक्षा न की जा सकने पर राजा से क्षत्रिय एवं राजधर्म की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इस प्रकार कहा है—'दु:ख से प्राणियों की रक्षा करना, क्षत्रियों का परम धर्म है। जब वह कुलोचित धर्म ही नष्ट हो गया तो तुम्हारे (राजा के) जीवित रहने से क्या लाभ?'[2] धर्मज्ञ राजा लोग दु:खी और शरणागतों की प्राणों एवं धन से भी रक्षा करते हैं। जो राजा दुखितों की रक्षा नहीं करते हैं, उनका तो जीने से मरना ही श्रेयस्कर है। इसी प्रकार जो धनिक होकर भी दान से रहित हैं, उनका गृहस्थ होने से भिक्षु होना ही श्रेष्ठ है। समर्थ रहते हुये कृपण, अनाथ एवं दीनों की रक्षा न करने से बुद्धिमानों को विष ही खा लेना उत्तम है।

भारतीय धर्मशास्त्र धर्मपूर्वक प्रजापालन में जितने धर्म का निर्देश करता है, उतना तपस्या में भी नहीं बतलाता। शिव पुराण में कथा आती है कि जिस समय राजा युवनाश्व तपस्या करने के लिये वन प्रस्थान कर रहे थे, उस समय उनको समझाते हुये उत्तंक ने कहा—राजन्! इस संसार में प्रजापालन में जैसा महान धर्म दिखलाई पड़ता है वैसा अरण्य जाने

---

1. रघुवंश
2. शि० पु०, श० रु० सं०—27 : 25

में नहीं, अतः तुम्हारी वनगमन की इच्छा न हो।[1] पूर्वकाल के राजर्षियों ने कहा है कि प्रजाओं के पालन में जैसा धर्म है, वैसा धर्म कहीं भी नहीं है।[2] इससे यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि धर्म पूर्वक प्रजा-पालन प्रत्येक भारतीय राजा का प्रथम आवश्यक कर्म था। इससे विमुख होने पर उसे ऐहिक एवं आमुष्मिक किसी भी प्रकार का सुख नहीं मिलता था।

यद्यपि पौराणिक युग में और उसके भी पूर्व यज्ञ आदि ब्राह्मण-सम्बन्धी शान्त कर्मों की प्रधानता थी। उन्हीं का चतुर्दिक् प्रभाव परिलक्षित होता था। ब्राह्मण की भाँति क्षत्रिय भी इन्हीं यज्ञों को पूर्ण करने में अपना गौरव समझते थे। किन्तु एकमात्र इन्हीं बड़े-बड़े यज्ञों से ही देश का काम न चलने वाला था। राष्ट्र-रक्षार्थ युद्ध की भी आवश्यकता थी, अतः उस पर धार्मिकता का आवरण डाला गया था। लोगों में यह भावना भरी गई कि संग्राम में युद्ध करके मरने से जिस फल की प्राप्ति होती है वह अत्यन्त दक्षिणा वाले अग्निष्टोम आदि यज्ञ से भी नहीं प्राप्त होता। शत्रुसैन्य का मर्दन करते हुये जो शूर युद्ध चाहता है उसे धर्म, अर्थ, एवं यश लाभ होता है। जो वीर शत्रु को समक्ष देखकर युद्धार्थ यान पर अधिरोहण करता है वह धर्म, अर्थ, काम और सदक्षिण यज्ञ का फल प्राप्त करता है।[3]

प्राचीन काल में युद्ध की दृष्टि से ब्राह्मणों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनकी शूरता, वीरता जगद्विदित थी। परशुराम, आचार्य द्रोण एवं अश्वत्थामा ऐसे ही ब्राह्मण वीर थे। इसीलिये युद्ध के फल-वर्णन प्रसंग में शिव पुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति ब्राह्मण को युद्ध में मारकर प्राणों को छोड़ता है वह कभी भी स्वर्ग से पतित नहीं होता।[4] उस काल में ब्राह्मणों की युद्धप्रियता युद्ध के यज्ञाधिक अथवा यज्ञ समकक्ष फलप्रद होने के ही कारण रही होगी।

---

1. शि० पु०, उ० सं०—31 : 21
2. वही—37 : 22
3. शि० पु०, को० रु० सं०—21 : 23
4. शि० पु०, उ० सं०—21 : 30

शिव पुराण में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के अतिरिक्त वैश्यों की भी पर्याप्त चर्चा की गई है। इनके विषय में कहा गया है कि धान्य बेचने वाला वैश्य और सर्वसाधारण वणिक् (बनियाँ) कहे गये हैं। पुराण काल में वैश्य स्थल मार्गों की तरह जल मार्ग से भी व्यापार किया करते थे। ये नावों से संघबद्ध होकर व्यापार किया करते थे। नागेश्वर महादेव, जिनकी गणना द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में की जाती है, का प्रादुर्भाव इसी प्रकार के संघबद्ध वैश्य व्यापारियों के प्रधान 'सुप्रिय' की रक्षा के हेतु हुआ था।[1]

गोरक्षा, वाणिज्य और कृषि-ये वैश्य के धन बतलाये गये हैं।[2] यहाँ यह स्मरणीय है कि पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—इनका विधान विशेषतः क्षत्रिय और वैश्य के लिये नहीं किया गया है।[3] शूद्रेतर वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-की सेवा शूद्र का धर्म कहा गया है।[4]

उपर्युक्त बातें तत्तद् वर्णों के लिये विशेष रूप से विहित की गई हैं। इनके अतिरिक्त सभी वर्णों के लिये कुछ सामान्य बातें भी निर्दिष्ट की गई हैं। ये बातें हैं—त्रिकाल, स्नान, अग्निहोत्र, सविधि शिवलिङ्ग पूजन, दान, ईश्वर प्रेम, सदा और सर्वत्र दया, सत्य भाषण, सन्तोष, आस्तिकता, किसी भी जीव की हिंसा न करना, लज्जा, श्रद्धा, अध्ययन, योग, अध्यापन, व्याख्यान, ब्रह्मचर्य, उपदेश, श्रवण, तपस्या, क्षमा, शौच, शिखा धारण, यज्ञोपवीत धारण, रुद्राक्ष की माला पहनना, प्रत्येक पर्व में विशेषतः चतुर्दशी को शिव की पूजा करना, सम्पूर्ण क्रियान्न का त्याग, श्रद्धान्न का परित्याग, मद्य और मद्य-गन्ध का त्याग, शिव को निवेदित (चण्डेश्वर के भाग) नैवेद्य का त्याग।

किन्तु सभी वर्णों के लिये कहे गये इस सामान्य धर्म में यदि कहीं शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन प्रतीत हो तो वहाँ पर स्मृतियों आदि में जिस जाति के लिये विहित जो कर्म हैं, उन्हीं

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—29 : 42
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—11 : 16
3. वही—11 : 12
4. वही—11 : 17

को मान्य समझना चाहिये क्योंकि शिव पुराण सर्वदा स्मृति आदि धर्मसूत्रों को ही प्रधानता देता है। उसके अनुसार अपनी जाति के लिये धर्मशास्त्रों में जो आदेश उपलब्ध होते हैं उनका प्रयत्नपूर्वक पालन प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है।[1]

वनवासियों, यतियों और ब्रह्मचारियों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना उनके लिए विहित धर्म है।[2] योगियों एवं वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने वालों के लिए दिन में भिक्षा से प्राप्त भोजन विशेष धर्म कहा गया है।[3] उद्यान लगाना, शैव तीर्थों की यात्रा करना तथा अपनी धर्म पत्नी के साथ ही समागम करना ही गृहस्थ के स्वीकृत धर्म हैं।[4]

---

1. शि० पु०, उ० सं०—21 : 9
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—11 : 18
3. वही—11 : 10
4. वही—11 : 17

शिव के विभिन्न अवतार

'अवतार' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्गपूर्वक 'तृ' धातु से 'घञ' प्रत्यय से निष्पन्न होती है। इसके लिए पाणिनि का एक विशिष्ट सूत्र है—'अवे तृस्त्रोर्घञ'।[1] इस सूत्र से निष्पन्न 'अवतार' शब्द का अर्थ है किसी उच्च स्थान से नीचे के स्थल पर उतरने की क्रिया। इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त इसका एक विशिष्ट अर्थ भी है—किसी लोकातिशायी ऐश्वर्य सम्पन्न भगवत्पदाभिधेय सत्ता अथवा देवता का ऊपर के लोक से भूतल पर उतरना तथा अपनी इच्छानुसार मानव अथवा अमानव के रूप को धारण करना। 'अवतार' शब्द का यही अर्थ विशेष रूप से लोकमानस में प्रतिष्ठित है। इसी अर्थ में पुराणों में भी 'अवतार' शब्द का प्रयोग किया गया है।

शिव पुराण में भगवान् शिव के अवतारों का वर्णन प्रधानता के साथ किया गया है। पुराण के विषयों में अवतार तत्त्व अन्यतम है। धर्म नियमन ही अवतार का प्रधान प्रयोजन माना गया है। भगवान् शिव के अवतारों का मुख्य कारण धर्म नियमन अथवा संस्थापन एवं भक्त-रक्षण है। सम्पूर्ण शिव पुराण के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् शङ्कर का प्रादुर्भाव अधिकतर भक्त की रक्षा एवं कल्याण के लिए हुआ करता है। जब-जब धर्म का पतन एवं अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब भगवान् भक्तों का उद्धार करने, दूष्टों का विनाश करने तथा धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए अपने को इस संसार में उत्पन्न करते हैं।[2] दिव्य लोक में जिसकी स्थिति सर्वोच्च बतलाई जाती है,इस भूतल पर भगवान् का अवतरित होना ही 'अवतार' पद-वाच्य होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अवतार के जो

---

1. अष्टाध्यायी—3 : 3 : 1200
2. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
   परित्राणाय साधूनां विनाशय च दुष्कृताम्।
   धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
   श्रीमद्भगवाद्गीता, 4 : 7-8

तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा गीता में सर्वप्रथम बतलाये गये हैं, उन्हीं का प्रभाव पुराणों पर भी पड़ा है।

शिव पुराण की शतरुद्र संहिता एवं कोटिरुद्र संहिता में परमात्म-शिव के अवतारों का विस्तृत विवेचन है। प्रस्तुत प्रकरण में भगवान् शिव के प्रमुख अवतारों का विवेचन द्रष्टव्य है—

अर्द्धनारीश्वरावतार

स्त्री-पुरुष रूप सृष्टि के लिए जगत् के मूल में अर्द्धनारीश्वर शिव की परिकल्पना शैव धर्म का एक विशिष्ट तथ्य है। शतरुद्र संहिता के तीसरे अध्याय में इस अवतार का विशद् विवेचन है—

जब सृष्टिकर्ता ब्रह्मा द्वारा रची हुई सारी प्रजाएँ विस्तार को नहीं प्राप्त हुई तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उनको चिन्तित देखकर आकाशवाणी हुई—'हे ब्रह्मन्! चिन्ता न करो और अब मैथुनी सृष्टि की रचना करो।' उस व्योमवाणी को सुनकर ब्रह्मा ने मैथुनी सृष्टि उत्पन्न करने का विचार किया।[1] किन्तु उनके समक्ष एक समस्या थी, पूर्वकाल में नारियों का कुल ईशान (परमात्म-शिव) से प्रकट ही नहीं हुआ था, अतः ब्रह्मा जी मैथुनी सृष्टि रचने में समर्थ न थे।[2] तब उन्होंने सोचा कि परमात्म-शिव की कृपा के बिना ऐसी प्रजा की सृष्टि असम्भव है। अतएव उन्होंने भगवान् शिव को प्रसन्न करने के लिए तपस्या प्रारम्भ कर दी। ब्रह्मा की उस तीव्र तपस्या से शीघ्र ही सन्तुष्ट होकर परमात्म-शिव 'अर्द्धनारीश्वर' के रूप में ब्रह्मा के निकट प्रकट हो गये।[3]

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—3 : 2, 3
2. वही—3 : 4
3. वही—3 : 6-8

ब्रह्मा जी ने पराशक्ति शिवा के साथ भगवान् शिव को देखकर दण्डवत प्रणाम कर हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे। तब देवाधिदेव महादेव ने प्रसन्न होकर कहा—'पितामह! मैं आपके अभीप्सित को जानता हूँ। तपश्चर्या से सन्तुष्ट होकर आपके मनोरथ को पूर्ण कर रहा हूँ।'[1] ऐसा कहकर शिवजी ने अपने शरीर के अर्ध भाग से शिवा देवी (शक्ति) को पृथक् कर दिया।[2] उस परमा शक्ति को शिव से पृथक् हुआ देखकर ब्रह्मा जी ने प्रणाम करके उनकी पूजा की और कहा—'हे देवि! मैं बारम्बार देवों की मानसी सृष्टि करता हूँ, किन्तु उनकी अभिवृद्धि नहीं होती।अतः अब मैं स्त्री-पुरुष के समागम से उत्पन्न होने वाली सृष्टि का निर्माण करके अपनी सारी प्रजाओं की वृद्धि करना चाहता हूँ; किन्तु अभी तक आप से अक्षय नारी कुल का प्राकट्य नहीं हुआ है, अतः उसकी सृष्टि करने में समर्थ नहीं हूँ। संसार की समस्त शक्तियों का समुद्भव आप से ही हुआ है, अतः आप मुझे नारी कुल की सृष्टि करने के लिए शक्ति प्रदान करें, जिससे इस संसार की वृद्धि हो।'[3] इसके अतिरिक्त ब्रह्मा ने उस परमा शक्ति से अनपे सर्वसमर्थ पुत्र दक्ष की पुत्री होने की भी प्रार्थना की, जिससे चराचर संसार की वृद्धि हो सके।[4]

ब्रह्मा जी की इस याचना को सुनकर उस परमा शक्ति शिवा ने 'तथास्तु' कहकर उन्हें स्त्री-सर्ग-शक्ति प्रदान की और उनकी द्वितीय याचना को मूर्त रूप देने के लिए जगन्मयी शिवशक्ति शिवा देवी ने अपनी भ्रुकुटि के मध्य भाग से अपने ही समान कान्तिमान् एक शक्ति का निर्माण किया। इसी शक्ति ने परमेश्वर शिव की आज्ञा एवं ब्रह्मा की प्रार्थना से दक्ष के घर में उनकी पुत्री के रूप में जन्म लेना स्वीकार किया।[5] इस प्रकार शिवा देवी ब्रह्मा जी को

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—3 : 9-12
2. वही—3 : 13
3. वही—3 : 17-20
4. वही—3 : 22
5. वही—3 : 27

अनुपम शक्ति प्रदान करके शम्भु के शरीर में प्रविष्ट हो गई।[1] तभी से इस संसार में स्त्री-भाग की कल्पना हुई और मैथुनी सृष्टि का प्रारम्भ हुआ।

नन्दीश्वरावतार

परमात्मा-शिव का नन्दीश्वरावतार शिव के अवतारों में अन्यतम है। शतरुद्र संहिता के छठें एवं सातवें अध्यायों में इस अवतार का विशद् विवेचन है—

शालंकायन पुत्र शिलाद[2] अविवाहित होने के कारण नि:सन्तान थे। जब उनके पितरों ने देखा कि शिलाद के अनन्तर उनके कुल में निवापांजलि का दाता कोई भी न रहेगा तो उन लोगों ने सन्तति के लिए शिलाद को प्रेरित किया। पितरों कीआज्ञा को शिरोधार्य कर, उनके उद्धार के लिए शिलाद ने सन्तति की कामना से शक्र को उद्देश्य कर बहुत काल पर्यन्त सुदु:सह तप किया। उनके कठोर व्रत से सन्तुष्ट होकर इन्द्र जब वर देने के लिए आये तो तपस्वी शिलाद ने उनसे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—हे शतक्रतो! यदि आप मुझ से सन्तुष्ट हैं तो मुझे एक आयोनिज एवं मृत्युहीन पुत्र दें।[3]

तपस्वी की अभ्यर्थना को सुनकर इन्द्र ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा पुत्रार्थिन! मुझ में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं किसी को आयोनिज एवं मृत्युहीन पुत्र प्रदान कर सकूँ। अत: यदि आप ऐसे पुत्र की कामना करते हैं तो भगवान् महादेव की आराधना करें।[4]

असमर्थता प्रकट कर इन्द्र के अपने लोक को चले जाने पर शिलाद ने दिव्य सहस्र वर्ष पर्यनत बड़ी अद्‌भुत, विस्मयकारी तपस्या, परमात्मा-शिव को सन्तुष्ट करने के लिये की।

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—3 : 28
2. वही—6 : 49
3. वही—6 : 9
4. वही—6 : 10-14

उनकी तपस्या से सन्तुष्ट हो भगवान् शंकर ने उन्हें दर्शन देकर वर माँगने को प्रेरित किया। उनके इस अनुग्रह से अभिभूत हो, हाथ जोड़कर शिलाद ने विनम्र शब्दों में कहा—'आपके समान मृत्युहीन तथा आयोनिज पुत्र चाहता हूँ।'[1]

महामुनि की प्रार्थना को सुनकर उत्तर में भगवान् शंकर बोले—'विप्र! कुछ समय पहले ब्रह्मा एवं अन्य देवों तथा मुनियों ने अवतार के लिए मुझसे प्रार्थना की थी, आज उसका सुयोग आ गया है। मैं आपका आयोनिज पुत्र होऊँगा। मेरा नाम नन्दी होगा तथा सम्पूर्ण संसार के पिता मेरे भी आप ही पिता होंगे।[2]

कुछ समय के बीतने पर शिलाद ने यज्ञ करने का विचार कर यज्ञाङ्गण का कर्षण करना प्रारम्भ किया। उसी समय पृथ्वी से अति तेजस्वी एक बालक उत्पन्न हुआ। उसकी तीन आँखें एवं चार भुजायें थी। वह जटा-मुकुट धारण किये हुए था।[3] उसकी हाथों में वे हीआयुध विराजमान थे जो शम्भु के बतलाये गये हैं। उत्पन्न होते ही उस बालक ने प्रणम्य लोगों को प्रमाण किया। शिलाद ने उसका नाम 'नन्दी' रक्खा, यतः उसके प्रादुर्भाव से वे नन्दित हुये थे। 'नन्दी' परमात्म-शिव (महादेव) के अंशावतार थे।[4]

नन्दी के दुष्कर शिव-साधना से सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव ने दर्शन देकरएवं उसे शिव साम्य प्राप्ति; अजरता-अमरता के साथ-साथ गणपति होना आदि का वरदान प्रदान किया तथा अपनी शिरोमाला नन्दी के गले में डाल दिया। माला पहनते ही नन्दी को तीन नेत्र एवं दस भुजा हो गये। वह दूसरे शिव की भाँति सुशोभित होने लगे। तत्पश्चात् भगवान शङ्कर ने उमा की सम्मति से समस्त गणों के अधिपति के रूप में उनका अभिषेक कराया और वचन दिया कि

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—6 : 31
2. वही—6 34
3. वही—6 : 37, 38, 43
4. वही—6 : 1

जहाँ पर नन्दी का निवास होगा वही उनका भी वास होगा।[1] वायवीय संहिता के अनुसार शिव की समता प्राप्त करना ही मुक्ति है—'शिवसाधर्म्यमासाद्य न भूयो विनिवर्तते।'[2] शिव का नन्दीश्वर अवतार इसी तथ्य को व्याख्यायित करता परिलक्षित होता है जिसमें मानव की सार्थकता निहित है।

भैरवावतार

भगवान् शिव के अवतारों में भैरवावतार का अपना एक विशेष महत्त्व है। शिव पुराण में भैरव जी को परमात्मा शिव का पूर्ण रूप बतलाया गया है।[3] इनके अवतार की कथा शतरुद्र संहिता के आठवें अध्याय में इस प्रकार वर्णित की गयी है—

एक समय सुमेरू पर्वत पर बैठे हुए ब्रह्मा जी के पास सब देवताओं ने जाकर उन्हें नमस्कार कर हाथ जोड़ कर यह पूछा कि अविनाशी तत्त्व क्या है? तब शङ्कर जी की माया से मोहित ब्रह्मा उस तत्त्व को न जानते हुए भी उस भाव को कहने लगे कि मैं ही एकमात्र संसार को उत्पन्न करने वाला, स्वयम्भू, अज, एकमात्र ईश्वर, अनादि, भोक्ता, ब्रह्मा और निरंजन आत्मा हूँ। मैं ही इस संसार को प्रवृत्त और निवृत्त करने वाला हूँ और मुझसे बढ़कर कोई देवता नहीं है।[4]

ब्रह्मा जी की उपर्युक्त बातें सुनकर वहीं पर विष्णु जी ने उनको समझाते हुए कहा कि हे ब्रह्मा! मेरी आज्ञा से ही तुम इस सृष्टि के रचयिता हो, मेरा अनादर करके तुम जी नहीं सकते।[5] इस प्रकार ब्रह्मा और विष्णु परस्पर अपने प्रभुत्व की प्रधानता के लिए विवाद करने लगे। इस विषय में जब वेदों से पूछा गया तब उन लोगों ने ब्रह्मा एवं विष्णु को परमतत्त्व न

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—7 : 51
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० सं० 28 : 29
3. शि० पु०, श० रु० सं०—8 : 2
4. वही—8 : 13-14
5. वही—8 : 18

बताकर भगवान् शिव को ही सर्वश्रेष्ठ एवं परमतत्त्व कहा।[1] किन्तु माया से विमोहित ब्रह्मा एवं विष्णु ने उनकी बातों का खण्डन करते हुए शिवजी को परमतत्त्व मानने से इंकार कर दिया। इसी बीच वहाँ तेज:पुंज के मध्य एक पुरुषाकृति दिखलायी पड़ी, जिसे देखकर ब्रह्मा का पंचम शिर कोप से प्रज्ज्वलित हो उठा। ब्रह्मा जब तक उस आकृति को देखते हैं, तब तक महापुरुष नील-लोहित दिखलाई पड़ते हैं। उन्हें देखकर ब्रह्मा जी ने कहा—'चन्द्रशेखर! भय मत करो। पूर्वकाल में तुम मेरे भाल स्थान से जन्मे हो। मैंने ही तुम्हारा नाम रुद्र रक्खा था। तुम मेरे पुत्र हो। अत: मेरी शरण में आओ।'[2]

ब्रह्मा की उक्त गर्भवती वाणी को सुनकर भगवान् शंकर को अतीव क्रोध आया। उन्होंने एक अत्यन्त भीषण पुरुष को उत्पन्न कर कहा..........'काल की भाँति शोभित होने के कारण आप साक्षात् 'कालराज' हैं। भीषण होने से भैरव हैं। दुष्ट आत्माओं के आमर्दन के कारण आप आमर्दक भी कहे जायेंगे। मुक्तिपुरी काशी का आधिपत्य आपको सर्वदा प्राप्त रहेगा।[3] उक्त नगरी के पापियों के शासक भी आप ही होंगे। चित्रगुप्त प्राणियों के शुभाशुभकर्म का समुल्लेख किया करेंगे।'[4]

भगवान् शिव के इन वरों को प्राप्त कर काल भैरव ने अपनी वामांगुलि के नखाग्र से ब्रह्मा के अपराधकर्त्ता पंचम शिर को काट लिया।[5] इसके अनन्तर लोकमर्यादा के रक्षक भगवान् शिव ने ब्रह्महत्या के विनाश हेतु भैरव को व्रत करने का आदेश देकर ब्रह्म हत्या को उत्पन्न कर उनसे कहा—जब तक यह कन्या दिव्य वाराणसी पुरी में पहुँचे तब तक भयंकर रूप धारण करके तुम उसके आगे ही आगे चले जाओ। वाराणसी पुरी के अतिरिक्त सर्वत्र इस

1. शि० पु०, श० रु० सं०—8 : 25-28
2. वही—8 : 40-43
3. वही—8 : 44-50
4. वही—8 : 51
5. वही—8 : 53

ब्रह्म हत्या का प्रवेश होगा, किन्तु जब भी यह उक्त नगरी में प्रवेश करेगी तभी मुक्त हो जायेगी।[1] भगवान शिव के आदेश से भैरव ने कापालिक व्रत को धारण किया।[2] कपालपाणि, विश्वात्मा भैरव ने तीनों भुवनों में भ्रमण किया। किन्तु दारुणा ब्रह्महत्या ने उनका अनुगमन न छोड़ा। सर्वत्र विचरण करते हुए जब भगवान् भैरव ने विमुक्त नगरी वाराणसी पुरी में प्रवेश किया उसी समय ब्रह्म हत्या हा हा शब्द करते हुये पाताल को चली गई। भैरव के काराम्बुज से तत्काल ब्रह्मा का कपाल च्युत होकर पृथिवी पर गिर पड़ा। जिस स्थान पर वह कपाल गिरा था वह कपालमोचन के नाम से विख्यात है।[3]

यदि कोई व्यक्ति भगवान् विश्वेश्वर का भक्त होते हुये भी काल भैरव का भक्त नहीं है तो उसे बड़े-बड़े दुःख भोगने पड़ते हैं। यह बात काशी में विशेष रूप से चरितार्थ होती है।[4] काशीवासियों के लिये भैरव की शक्ति अनिवार्य बतलाई गई है। भगवान् शंकर के दश अवतारों में भैरवावतार पंचम बतलाया गया है। इनकी शक्ति का नाम है 'भैरवी'। भैरवी को गिरिजा का अवतार मानते हैं।[5]

उत्तर वायवीय संहिता के इक्तीसवें अध्याय में चार प्रकार के शैवों का वर्णन किया गया है, उनमें एक प्रकार 'कापालिक' नाम से उल्लिखित है।[6] यद्यपि वहाँ किसी भी सम्प्रदाय का विवरण नहीं दिया गया है, तथापि प्रतीत होता है कि उस सम्प्रदाय का मूलाधार भैरव की ही कथा है। भैरव के कापालिक होने के कारण ही इस सम्प्रदाय का नाम कापालिक पड़ा।

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—8 : 62-65
2. वही—9 : 2
3. वही—9 : 56
4. वही—9 : 68
5. शि० पु०, श० रु० सं०—17 : 6
6. शि० पु०, वा०सं०—उ० खं०—31 : 173

ब्रह्म सूत्र[1] के अपने भाष्य में रामानुज ने कापालिक के नाम का उल्लेख करते हुए उसे वेद विरोधी आचरण करने वाला शैव सम्प्रदाय कहा है। किन्तु आज कापालिक सम्प्रदाय का प्रकाशित अथवा अप्रकाशित कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। कापालिक का उल्लेख भवभूति के मालती-माधव में भी किया गया है।

कापालिकों के धार्मिक कृत्यों ने ही उन्हें कुचल डाला और मदिरा, स्त्रीसेवन, मांस के भक्षण आदि ने उन्हें शेष शैव सम्प्रदायों से बिलकुल अलग कर दिया। आज भी वे जघन्य कृत्य तान्त्रिकों की पूजा में, यत्र-तत्र देखे जाते हैं। यह परम्परा वैदिक परम्परा के एकदम विरुद्ध है।

कापालिकों के मान्य देव भैरव की समाज में उस रूप में कभी प्रतिष्ठा एवं मान्यता न थी जिस रूप में कापालिक भैरव को मानते थे। भैरव की समाज में अर्चना न होने की बात स्वयं शिव पुराण में भी निर्दिष्ट है।[2]

वीरभद्रावतार

वीरभद्र को परमात्म-शिव का अवतार माना गया है।[3] इनकी उत्पत्ति दक्ष के प्रसिद्ध यज्ञविध्वंस की घटना से सम्बद्ध है। इनके प्रादुर्भाव तथा लीला के विषय मे शिव पुराण में निम्नरूप से कथा प्राप्त होती है —

जिस समय भगवान् शंकर ने अपने गणों एवं नारद जी के मुख से सती के अपमान और इसके परिणामस्वरूप उनके योगाग्नि में भस्म होने की बात सुनी, उस समय महान् रौद्र पराक्रम से सम्पन्न उन्होंने शीघ्र ही भयंकर क्रोध प्रकट किया। लोक-संहारकारी रुद्र ने अपने शिर से एक जटा उखाड़ी और उसे रोषपूर्वक पर्वत के ऊपर पटक दिया। भगवान् शंकर के पटकने से

---

1. ब्रह्मसूत्र—2 : 2 : 37
2. शि० पु०, श० रु० सं०—8 : 2-4
3. वही—10 : 1

उस जटा के दो टुकड़े हो गये और महाप्रलय के समान भयंकर शब्द प्रकट हुआ। उस जटा के पूर्वभाग से महाभयंकर 'वीरभद्र' प्रकट हुये। वे भूमण्डल को सब ओर से व्याप्त करके उससे भी दश अंगुल अधिक होकर स्थित हुये। देखने में वे प्रलयाग्नि के समान प्रतीत होते थे। उनका शरीर बहुत ऊँचा था। वे हजार भुजाओं से युक्त थे। जटा के दूसरे भाग से महाकाली का प्रादुर्भाव बतलाया गया है।[1]

वीरभद्र को आज्ञा पाने की मुद्रा में खड़े देखकर भगवान् शंकर ने उन्हें दक्ष के यज्ञ को विध्वस्त करने एवं विद्रोहियों के मर्दन को कहा।[2] भगवान् शंकर की आज्ञा प्राप्त कर वीरभद्र ने यज्ञस्थल को प्रस्थान किया। उनके साथ और भी बहुत से गण थे।[3] यज्ञस्थल पहुँचने पर यज्ञ की रक्षा में तत्पर विष्णु एवं देवों के साथ शिव के गणों का घोर संग्राम हुआ। वीरभद्र विष्णु से लड़ रहे थे। प्रबल प्रतिस्पर्धी वीरभद्र के तेज को असह्य ज्ञात कर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। उनके जाते ही सम्पूर्ण देव एवं मुनि यथास्थान भाग गये। वीरभद्र ने दक्ष की छाती पर पैर रखकर दबाया और दोनों हाथों से उसकी गर्दन मरोड़कर तोड़ डाली। फिर शिवद्रोही दुष्ट दक्ष के उस शिर को गणनायक वीरभद्र ने अग्निकुण्ड में डाल दिया। इसके बाद जैसे सूर्य घोर अन्धकार राशि का नाश करके उदयाचल पर आरूढ़ होते हैं, उसी प्रकार वीरभद्र दक्ष एवं उनके यज्ञ का विध्वंस करके कृतकार्य हो शीघ्र ही वहाँ से श्रेष्ठ कैलास पर्वत को चले गये। वीरभद्र को कार्य पूरा करके आया देख परमेश्वर शिव मन ही मन बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उन्हें वीर प्रमथ गणों का अध्यक्ष बना दिया।[4]

'दक्षयज्ञविध्वंस' की कथा से जो अनेक बातें प्रकाश में आती हैं, उनमें सर्वाधिक

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—32 : 19-25
2. वही—32 : 47-48
3. वही—33 : 2-3
4. वही—37 : 68

महत्त्वपूर्ण बात है—प्राचीन काल में वैदिक अनुयायियों के द्वारा परमात्म-शिव का यज्ञ से बहिष्कार। यद्यपि पौराणिक शिव का विकास वैदिक देवमण्डल के देवता 'रुद्र' से ही हुआ है। 'रुद्र' वैदिक काल के 'विष्णु', 'इन्द्र', 'वरुण' आदि देवों की भाँति एक मान्य देवता थे। ऋग्वेद में उनके सम्बन्ध में रोचक स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं। तथापि कालान्तर में आर्यों के दैशिक विकास के साथ ही निश्चय ही, रुद्र ने अपने स्वभाव; जिसमें उनका ऋग्वेद में वर्णित भयावह स्वभाव प्रमुख है, के कारण आर्येतर जातियों के देवी-देवताओं को अवश्य ही आत्मसात् किया होगा और उनके स्वरूप तथा स्वभाव को भी ग्रहण किया होगा। इसके प्रमाण के रूप में उनके अशुचि वेश तथा क्रियाकलाप को देखा जा सकता है, जो अवश्य ही वैदिक आर्यों की मान्यता के विरुद्ध था। फलत: वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायियों ने यज्ञ-यागादि से परमात्म-शिव का बहिष्कार करना प्रारम्भ किया। इसकी पूरी झांकी 'दक्ष-यज्ञ' की कथा में देखी जा सकती है। परन्तु शैवों की बढ़ती हुई जनसंख्या एवं प्रभाव के सामने वैदिक अनुयायियों का विरोध टिक न सका। परिणामस्वरूप परमात्म-शिव का यज्ञ-यागादि में भाग उपलब्ध होने लगा और लोक में वे विष्णु के समकक्ष देव माने जाने लगे। उनका यह प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि पुराण विष्णु की अपेक्षा शिव को अधिक महत्त्व देने लगे।[1]

गृहपत्यवतार

शतरुद्र संहिता के तेरहवें से पन्द्रहवें अध्यायों में भगवान् शिव के गृहपत्य अवतार का वर्णन किया गया है।

प्राचीन काल में नर्मदा नदी के तट पर नर्मपुर नाम का एक रमणीय नगर था। उसमें विश्वानर नाम के एक मुनि निवास करते थे। वे परम पावन, पुण्यात्मा, शिवभक्त, ब्रह्मतेज के

---

1. प्रमाण के रूप में कहा जा सकता है कि विष्णुपरक पुराणों की अपेक्षा शिवपरक पुराणों की संख्या अधिक है।

निधि और जितेन्द्रिय थे। ब्रह्मचर्याश्रम में उनकी बड़ी निष्ठा थी। उनकी पत्नी का नाम था शुचिष्मती। बहुत काल तक निःसन्तान रहने पर एक दिन शुचिष्मती ने अभ्यर्थनापूर्वक अपने पति से महेश्वर के पुत्र-प्राप्ति की याचना की।[1] तदनन्तर मुनि विश्वानर पत्नी को आश्वासन देकर वाराणसी गये और घोर तप के द्वारा भगवान् शिव के वीरेश लिङ्ग की आराधना करने लगे। द्वादश मास व्यतीत होने पर एक दिन वे गंगा में स्नान करके ज्यों ही वीरेश के निकट पहुँचे त्यों ही उन्हें उस लिङ्ग के मध्य एक अष्टवर्षीय विभूति-विभूषित बालक दिखाई दिया। वह बालक अलौकिक था।उसे देखकर विश्वानर मुनि कृतार्थ हो गये और वे नमस्कारपूर्वक बालक रूपधारी शिव का स्तवन करने लगे।

विश्वानर की सुश्रुषा एवं स्तवन से प्रसन्न, बालरूपधारी, भगवान् शंकर ने 'गृहपति' नाम से शुचिष्मती में अवतार लेने का वरदान मुनि को दिया।[2] वे प्रसन्नतापूर्वक अपने नगर नर्मपुर को लौट गये। तदनन्तर समय आने पर ब्राह्मण द्वारा विधिपूर्वक गर्भाधान-कर्म सम्पन्न किये जाने पर शुचिष्मती गर्भवती हुई। तब शुभ लग्न में भगवान् शंकर, जिनके मुख की कांति पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान है तथा जो समस्त अरिष्टों के विनाशक और भू, भुवः, स्वः —तीनों लोकों के निवासियों को सब प्रकार से सुख देने वाले हैं उस शुचिष्मती के गर्भ से पुत्र रूप में प्रकट हुये।[3]

ब्रह्म जी ने उस पुत्र का स्वयं जातकर्म करके उसका नाम गृहपति रक्खा। गृहपति ने अपनी लोक विलक्षण प्रतिभा का परिचय देते हुये शीघ्र ही साँगोपांग वेदों का अध्ययन कर लिया। तत्पश्चात् नवम वर्ष आने पर माता-पिता की सेवा में तत्पर रहने वाले विश्वानर नन्दन 'गृहपति' को देखने के लिए वहाँ नारद जी पधारे। मुनि नारद ने बालक को देखकर

1. शि० पु०, श० रु० सं०—13 : 14
2. वही—13 : 57
3. वही—14 : 7

कहा—इसके सम्पूर्ण अंगों के लक्षण शुभ हैं किन्तु मुझे शंका है कि इसके द्वादश वर्ष में इस पर विद्युत् अथवा अग्नि द्वारा विपत्ति आयेगी।[1]

नारद की भविष्यवाणी से सन्तप्त माता-पिता को मृत्यु जीतने का आश्वासन दे गृहपति काशी नगर को गये। वहाँ विश्वनाथ का दर्शन कर शुभ दिन में सर्वहितकारी शिवलिङ्ग की स्थापना करके[2] और एकमात्र शिव में मन लगाकर तपस्या करते हुए महात्मा गृहपति की आयु का एक वर्ष व्यतीत हो गया। तब जन्म से बारहवां वर्ष आने पर देवराज इन्द्र उनके समीप वरदान देने के लिये आये, किन्तु उनसे वर न माँग कर गृहपति ने उनका तिरस्कार किया। बालक के इस प्रकार के दुःसाहस को देखकर क्रुद्ध इन्द्र अपना कुलिश उठाकर उन्हें डराने धमकाने लगे। विद्युज्ज्वालाओं से व्याप्त उस व्रज को देखकर बालक गृहपति को नारद जी के वाक्य स्मरण हो आये। फिर तो वे भय से व्याकुल होकर मूर्छित हो गये। इसके बाद भगवान् शम्भु स्वयं वहाँ प्रकट हो उस बालक को आश्वस्त किये और यह बी बतलाये कि मैं ही परीक्षार्थ इन्द्र के रूप में आया था।[3]

इसके अनन्तर भगवान् शिव ने गृहपति को अग्निपद का भागी और सम्पूर्ण देवों के लिए वरदाता होने का तथा समस्त प्राणियों के अन्दर जठराग्नि रूप से विचरण करने का वरदान देकर अग्निकोण का अधिपति बना दिया। गृहपति के द्वारा संस्थापित शिवलिङ्ग 'अग्नीश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है।[4] इसकी पूजा करने वाले को विद्युत एवं अग्नि का भय नहीं होता और न वे कभी अग्निमान्द्य नामक रोग से पीड़ित ही होते हैं। उनकी अकाल मृत्यु भी नहीं होती। अग्निकोण में स्थित अग्नि (गृहपति) की नगरी का नाम 'चित्रहोत्रपुरी' है। अग्नि

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—14 : 47
2. वही—15 : 30
3. वही—15 : 50
4. वही—15 : 54

के भक्त अन्त समय में वहीं निवास करते हैं।[1]

भगवान् शिव के दश अवतार

शिव पुराण में भगवान् शिव के असंख्य अवतारों में दशअवतार की कल्पना महत्त्वपूर्ण है। इन अवतारों की कल्पना मानव-समाज के लिये विशेष उपयोगी है। इनमें पहला अवतार 'महाकाल' नाम से प्रसिद्ध है, जो सत्पुरुषों को भोग और मोक्ष प्रदान करने वाला है। उस अवतार की शक्ति भक्तों को इच्छित फल देने वाली महाकाली हैं।[2] दूसरा 'तार' नामक अवतार हुआ, जिसकी शक्ति तारा देवी हुई।[3] 'बाल भुवनेश' नाम से तीसरा अवतार हुआ। उसमें बाला भुवनेशी शिवा शक्ति हुई, जो सज्जनों को सुख देने वाली हैं।[4] चौथा भक्तों के लिए सुखद तथा भोग-मोक्ष प्रदायक 'षोडश श्रीविद्येश' नामक अवतार हुआ और षोडशी-श्री विद्या शिवा उसकी शक्ति हुई।[5] पाँचवाँ अवतार 'भैरव' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो सर्वदा भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। इस अवतार की शक्ति का नाम भैरवी गिरिजा है।[6]

छठा शिवावतार 'छिन्नमस्तक' नाम से जाना जाता है और भक्तकामप्रदा गिरिजा का नाम छिन्नमस्ता है।[7] सातवाँ 'धूमवान्' नामक शम्भु का अवतार हुआ, जिसकी धूमवती नाम की शक्ति सज्जन उपासकों को फलदाता हुई।[8] शिवजी का आठवाँ सुखदायक अवतार

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—15 : 59
2. वही—17 : 2
3. वही—17 : 3
4. वही—17 : 4
5. वही—17 : 5
6. वही—17 : 6
7. वही—17 : 7
8. वही—17 : 8

‘बगलामुख’ है, उसकी शक्ति महान् आनन्ददायिनी बगलामुखी नाम से विख्यात हुई।[1] नवाँ ‘मातङ्ग’ नामक शिव का अवतार हुआ और उसकी मातङ्गी शक्ति हुई।[2] शम्भु के भुक्ति-मुक्ति रूप फल प्रदान करने वाले दशवें अवतार का नाम ‘कमल’ है, जिसमें अपने भक्तों का सर्वथा पालन करने वाली गिरिजा कमला कहलायीं।[3]

शिव का एकादश रुद्रावतार

शतरुद्र संहिता के अट्ठारहवें अध्याय में भगवान् शिव के एकादश अवतारों का विवेचन किया गया है—

एक बार सभी देवता दैत्यों से पराजित हो गये। भयभीत देवगण अपनी पुरी अमरावती को छोड़कर कश्यप जी के पास गये। देवों के दुःख-दर्द को सुनकर कश्यप जी उन्हें आश्वासन देकर काशी को चल पड़े। वहाँ पहुँच कर उन्होंने एक शिवलिंग की स्थापना करके देवताओं के हितार्थ घोर तप करने लगे। बहुत समय पश्चात भगवान् शिव प्रकट होकर भक्त कश्यप से वर माँगने को कहा। उन्होंने देवों की कष्ट गाथा को सुनाकर अपने पुत्र रूप से प्रकट होकर देवताओं की सहायता करने की अभ्यर्थना शिव से की। भगवान् शिव ने भी उनकी प्रार्थना को ‘तथास्तु’ कहकर स्वीकार किया। समय आने पर भगवान् शंकर, कश्यप द्वारा सुरभी के पेट से, ग्यारह रूप धारण कर प्रकट हुए।[4]

भगवान् शंकर के उन एकादश रूपों के नाम इस प्रकार रक्खे गये—(1) कपाली, (2) पिङ्गल, (3) भीम, (4) विरूपाक्ष, (5) विलोहित, (6) शास्ता, (7) अजपाद्, (8)

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—17 : 9
2. वही—17 : 10
3. वही—17 : 11
4. वही—18 : 24

अहिर्बुध्न्य, (9) शम्भु, (10) चण्ड, (11) भव।[1] ये ग्यारह रुद्र सुरभी के पुत्र कहलाते हैं।[2] कश्यपनन्दन, वीरवर, ये रुद्र महान् बल पराक्रम से सम्पन्न थे, उन्होंने संग्राम में देवों की सहायता करके दैत्यों का संहार कर डाला था।[3]

भगवान् शंकर ने सुरभी के गर्भ से एकादश रुद्रों के ही रूप से क्यों अवतार लिया इसका कोई कारण नहीं उल्लिखित है। देवों का हित-साधन तो उनके एक रूप से भी हो सकता था, तो फिर एकादश रूप से अवतार का क्या प्रयोजन था? इसका समाधान शिव पुराण में नहीं दिया गया है।

शिव का दुर्वासावतार

दुर्वासा जी भगवान् शिव के अवतार थे। शङ्कर जी का यह अवतार धर्म के लिये बतलाया गया है।[4] इनकी कथा शतरुद्र संहिता में इस प्रकार वर्णित की गयी है—

परम तपस्वी महर्षि अत्रि जी अनसूया के पति थे, उन्होंने ब्रह्मा जी की आज्ञा से पुत्र की इच्छावश स्त्री सहित ऋक्ष नामक पर्वत पर जाकर घोर तप किया।[5] उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों उनके आश्रम पर गये।[6] उन्होंने कहा कि 'हम तीनों संसार के ईश्वर हैं। अतएव हमारे अंश से तुम्हें तीन पुत्र प्राप्त होंगे, जो तीनों लोकों में विख्यात तथा माता-पिता का यश बढ़ाने वाले होंगे।' ऐसा कहकर वे तीनों देवता अपने-अपने स्थान को चले गये।[7] कुछ समय के बाद ब्रह्मा जी के अंश से 'चन्द्रमा' हुये, जो देवताओं के

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—18 : 26
2. वही—18 : 27
3. वही—18 : 28
4. वही—19 : 1
5. वही—19 : 2-3
6. वही—19 : 14
7. वही—19 : 21-22

द्वारा समुद्र में डाले जाने पर समुद्र से प्रकट हुए थे। विष्णु के अंश से श्रेष्ठ संन्यास पद्धति को प्रचलित करने वाले 'दत्त' उत्पन्न हुए तथा शिव जी के अंश से मुनि श्रेष्ठ दुर्वासा जी ने जन्म लिया।[1]

दुर्वासा जी ने दयालुतावश बहुतों के धर्म की परीक्षा ली। सूर्यवंश में उत्पन्न राजा अम्बरीष की भी इन्हीं दुर्वासा जी ने परीक्षा ली थी।[2]

शिव जी का हनुमदवतार

हनुमदवतार में शिवजी ने बड़ी उत्तम लीलाएँ की हैं। इसी अवतार में महेश्वर ने भगवान् राम का परम हित किया था।[3] इस अवतार का विवेचन शतरुद्र संहिता के बीसवें अध्याय में इस प्रकार किया गया है—

एक समय अद्‌भुत लीला करने वाले भगवान् शम्भु को विष्णु के मोहिनी रूप का दर्शन प्राप्त हुआ, तब वे कामदेव के बाणों से आहत हुए की तरह क्षुब्ध हो उठे। उस समय परमेश्वर ने राम कार्य की सिद्धि के लिए अपना वीर्यपात किया। तब सप्तर्षियों ने उस वीर्य को पत्रपुटक में स्थापित कर लिया, क्योंकि शिवजी ने ही रामकार्य के लिए उनके मन में प्रेरणा की थी। तत्पश्चात् उन महर्षियों ने शम्भु के उस वीर्य को रामचनद्र जी के कार्यार्थ गौतम कन्या अञ्जनी में कान के रास्ते स्थापित किया।[4] उस वीर्य से महाबली और पराक्रमयुक्त वानर शरीर वाले हनुमान जी उत्पन्न हुए।[5]

शङ्कर जी ने हनुमदवतार में सबतरह से श्रीराम का कार्य पूरा किया, नाना प्रकार की

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—19 : 25-27
2. वही—19 : 28-29
3. वही—20 : 1-2
4. वही—20 : 3-6
5. वही—20 : 7

लीलाएँ की, असुरों का मान-मर्दन किया, भूतल पर राम भक्ति की स्थापना की और स्वयं भक्ताग्रगण्य होकर सीता-राम को सुख प्रदान किया। भगवान् शिव का यह अवतार जगत् में 'रामदूत' के नाम से भी विख्यात है।[1]

शिव का पिप्पलादावतार

शिव पुराण के अनुसार—एक समय दैत्यों ने वृत्रासुर की सहायता से इन्द्र आदि समस्त देवताओं को पराजित कर दिया था। देवताओं ने ब्रह्मा की शरण में जाकर अपना सारा कष्ट कह सुनाया देवताओं का वह कथन सुनकर ब्रह्मा जी ने सारा रहस्य यथार्थ रूप से प्रकट कर दिया कि 'यह सब त्वष्टा का कार्य है।' त्वष्टा ने ही आप लोगों का बध करने के लिए वृत्रासुर को उत्पन्न किया है। वृत्रासुर के बध के लिए आप लोग दधीचि मुनि से उनकी अस्थियों के लिए याचना करें। वे अवश्य देंगे। पुनः उन अस्थियों से वज्रदण्ड का निर्माण कराके इन्द्र निश्चय ही वृत्रासुर को मार डालेंगे।[2]

विधाता के वचन को सुनकर इन्द्र आदि देवता दधीचि ऋषि के उत्तम आश्रम पर गये। वहाँ उन लोगों ने पत्नी सहित मुनि को प्रणाम किया। मुनि दधीचि विद्वानों में श्रेष्ठ तो थे ही अतः देवों के अभिप्राय को समझने में उन्हें देर न लगी। इसके अनन्तर उन्होंने अपनी पत्नी सुवर्चा को आश्रम से अन्यत्र भेज दिया। सुवर्चा के चले जाने पर इन्द्र ने मुनि से कहा—त्वष्टा द्वारा अपमानित होने के कारण हम लोग आप की शरण में आये हैं। आप अपनी व्रजमयी अस्थियाँ हमें प्रदान करें, क्योंकि आपकी हड्डी से वज्र का निर्माण कराकर मैं उस देवद्रोही का वध करूँगा।[3] इन्द्र के इस प्रकार प्रार्थना करने पर परोपकारी दधीचि मुनि ने अपने स्वामी

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—20 : 38
2. वही—24 : 13-18
3. वही—24 : 19-24

शिव का ध्यान करके अपना शरीर छोड़ दिया और वे तुरन्त ही ब्रह्मलोक को चले गये।[1] विश्वकर्मा ने उनकी रीढ़ की हड्डी से वज्र और ब्रह्मशिर नामक बाण का निर्माण किया।[2] इसी वज्र से इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया था।

दधीचि की पतिव्रता स्त्री सुवर्चा जब आश्रम के भीतर गई तो उन्होंने वहाँ देवताओं के लिए पति को मरा हुआ पाकर देवों को पशु होने का शाप दे दिया।[3] तत्पश्चात् उस पतिव्रता ने पतिलोक में जाने के विचार से एक चिता तैयार की।[4] उसी समय सुवर्चा को आश्वासन देती हुई आकाशवाणी हुई 'हे प्राज्ञे! ऐसा साहस मत करो। तुम्हारे उदर में मुनि का उत्तम तेज वर्तमान है। तुम उसे यत्नपूर्वक उत्पन्न करो। पीछे तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करना, क्योंकि शास्त्र का ऐसा आदेश है कि गर्भवती को अपना शरीर नहीं जलाना चाहिये।'[5] आकाशवाणी को सुनकर सुवर्चा क्षणभर के लिये विस्मय में पड़ गई। परन्तु इस सती साध्वी को तो पतिलोक की प्राप्ति ही अभीष्ट थी। अत: उसने बैठकर पत्थर से अपने उदर को विदीर्ण कर डाला। इसके अनन्तर मुनिवर दधीचि का वह गर्भ बाहर निकल आया। उसका शरीर परम दिव्य और प्रकाशमान था तथा वह अपनी प्रभा से दशों दिशाओं को उद्भासित कर रहा था। वह गर्भ साक्षात् रुद्र का अवतार था।[6] इसके बाद सुवर्चा ने परम समाधि द्वारा पति का ही अनुगमन किया।[7] वह बालक अपनी माता के आदेश से वहीं एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे रहने लगा।[8] यही बालक आगे चलकर 'पिप्पलाद' के नाम से संसार में विख्यात हुआ। महान्

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—24 : 26
2. वही—24 : 29
3. वही—24 : 38
4. वही—24 : 40
5. वही—24 : 41-43
6. वही—24 : 47
7. वही—24 : 53
8. वही—24 : 51

ऐश्वर्यशाली रुद्रावतार[1] पिप्पलाद उसी अश्वत्थ के नीचे लोकों की हितकामना से चिरकालिक तप में प्रवृत्त हुए।

एक बार पिप्पलाद ने 'पद्मा' नाम की युवती को देखा। यह सुन्दरी शिवा के अंश से राजा 'अनरण्य' की पुत्री होकर जन्मी थी।[2] पिप्पलाद ने उस कन्या के साथ विवाह करने का निश्चय करके राजा 'अनरण्य' से उसे माँगा।[3] मुनि के डर से राजा अनरण्य ने अपनी कन्या पद्मा को उनके साथ विदा कर दिया।[4] जंगल में वह युवती अत्यधिक भक्तिपूर्वक मुनि की सेवा करती हुई दाम्पत्य जीवन का उपयोग करने लगी। समय-समय पर पिप्पलाद से पद्मा के दश पुत्र हुए। ये सभी पुत्र पिप्पलाद के समान ही योग्य तपस्वी थे। पिप्पलाद के वर के अनुसार षोडश वर्ष तक के व्यक्तियों एवं शिव के भक्तों को शनिकृत पीड़ा नहीं होती।

शिव के पिप्पलादावतार के द्वारा उक्त शनि-पीड़ा के निवारण के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा सम्पन्न कार्य नहीं बतलाया गया है जो समाज के लिए हितावह कहा जाय। वृद्धावस्था में मुनि पिप्पलाद का गृहस्थी बसाना अवश्य ही संन्यासियों के लिए एक भ्रष्ट मार्ग का प्रदर्शन है। भगवान् के अवतार के द्वारा एसा कोई उदाहरण रखना चाहिये जिसका लोक अनुकरण कर सके किन्तु ऐसा कोई कार्य नहीं होना चाहिए जो लोक के लिए अनुचित उदाहरण बने।

शिव का अश्वत्थामावतार

शतरुद्र संहिता के छत्तीसवें अध्याय में भगवान् शिव के अश्वत्थामावतार का वर्णन किया गया है—महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा अश्वत्थामा भगवान् शंकर के अंशावतार थे।[5]

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—24 : 63
2. वही—25 : 2
3. वही—25 : 8
4. वही—25 : 15
5. वही—36 : 42, 43

धनुर्वेद एवं वेद में निष्णात कौरवों के आचार्य 'द्रोण' कौरवों की सहायता के हेतु भगवान् शंकर को उद्देश्य करके तप किये। उनका उद्देश्य था कि भगवान् शंकर उनके पुत्र के रूप में अवतीर्ण हों। अन्ततोगत्वा उनकी तपस्या से प्रसन्न हुये भगवान् शंकर ने उनके पुत्र के रूप में अवतीर्ण होने का वरदान उन्हें दिया।[1]

समय आने पर सर्वान्तक रुद्र ने अपने अंश से द्रोण के बलशाली पुत्र अश्वत्थामा के रूप में अवतार लिया। पिता की आज्ञा से महाभारत के संग्राम में इन्होंने कौरवों की सहायता की थी। अश्वत्थामा को कौरवों की सहायता करते देखकर युद्ध निपुण भी पाण्डवों ने विजय की आशा छोड़ दी थी। विजय का अन्य मार्ग न देखकर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को शम्भु का दारुण तप करके उनसे अस्त्र प्राप्त करने का उपदेश दिया। यह भगवान् शंकर के 'अस्त्र' और 'वर' का ही परिणाम था कि अर्जन कौरवों को जीतने में समर्थ हो सके।[2] इतना होने पर भी कौरवों की भक्ति के वश में हुये अश्वत्थामा ने अपने प्रताप को उस महायुद्ध में प्रदर्शित ही किया था। शत्रुओं के द्वारा अप्रतिहत अश्वत्थामा ने ही प्रयत्नपूर्वक शिक्षित किये गये पाण्डवों के पुत्रों को विनष्ट किया था।[3]

शिव के योगावतार

लोक कल्याणकारी भगवान् शंकर प्रत्येक कलियुग में योगाचार्यों के रूप में अवतार लिया करते हैं। प्रत्येक अवतार में उनके चार-चार शिष्य भी हुआ करते हैं और इन शिष्यों के शिष्य, प्रशिष्य भीबहुत बतलाये गये हैं इसमें भगवान् शिव के अट्ठाइस अवतार बतलाये गये हैं। अन्य अवतार, जहाँ पर दुष्टों के संहार और भक्तों के संरक्षण के लिये हुआ करते हैं वहीं

---

1. शि० पु०, श० रु० सं०—36 : 11
2. वही—36 : 18
3. वही—36 : 20

पर ये शिव के योगावतार, किसी का निग्रह किये बिना, योगमार्ग का विस्तार कर प्राणियों को निःश्रेयस् का उपदेश देने के लिये हुआ करते हैं।

शिव पुराण की 'वायु संहिता', उत्तर भाग के नवम् अध्याय में तथा शतरुद्र संहिता के चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में इन योगाचार्यों की सूची इस प्रकार दी गई है—

वायु संहिता से

(1) श्वेत, (2) सुतार, (3) मदन, (4) सुहोत्र, (5) कंक, (6) लौगाक्षि, (7) जैगीषव्य, (8) दधिवाहन, (9) ऋषभ मुनि, (10) उग्र, (11) अत्रि, (12) सुपालक, (13) गौतम, (14) वेदशिरामुनि, (15) गोकर्ण, (16) गुहावासी, (17) शिखण्डी, (18) जटामली, (19) अट्टहास, (20) दारुक, (21) लाङ्गुली, (22) महाकाल, (23) शूली, (24) दण्डी, (25) मण्डीश, (26) सहिष्णु, (27) सोमशर्मा, (28) लकुलीश्वर।[1]

शतरुद्र संहिता से

(1) श्वेत, (2) सुतार, (3) दमन, (4) सुहोत्र, (5) कंक, (6) लोकाक्षि, (7) जैगीषव्य, (8) दधिवाहन, (9) ऋषभ, (10) (11) तप, (12) अत्रि, (13) बलि, (14) गौतम, (15) वेदशिरा, (16) गोकर्ण, (17) गुहावासी, (18) शिखण्डी, (19) माली, (20) अट्टहास, (21) दारुक, (22) लाङ्गली भीम, (23) श्वेत, (24) शूली, (25) मुण्डीश्वर, (26) सहिष्णु, (27) सोमशर्मा, (28) लकुली।

स्पष्ट है कि उक्त दोनों स्थलों की योगाचार्य नामावली में पूर्ण ऐकमत्य नहीं है। किन्तु यह मत वैभिन्न वस्तुतः बहुत कम है। बहुत से नामों की प्रतीयमान विभिन्नता में एकमात्र

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—9 : 3-7

लेखक एवं प्रकाशक की अनवधानता एवं प्रमाद ही कारण है। अन्य नामों के विषय में यहाँ कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

उत्तर वायवीय संहिता में तृतीय योगाचार्य का नाम 'मदन' लिखा गया है किन्तु शतरुद्र संहिता में इनका नाम 'दमन' मिलता है? यद्यपि 'मदन' की अपेक्षा 'दमन' नाम अधिक समीचीन प्रतीत होता है। कुछ ऐसे भी योगाचार्यों के नाम हैं जो दोनों सूचियों में, परस्पर एक दूसरे से एकदम भिन्न है। शतरुद्र संहिता में अष्टविंशति योगाचार्यों के स्थान में सप्तविंशति योगाचार्यों के नामों का ही उल्लेख है। दशम आचार्य का नाम दिया ही नहीं गया है।

पंचम अध्याय

शिव पुराण में अन्तर्निहित दार्शनिक तत्त्व

1. शिव पुराण एवं शैव दर्शन
2. परमात्म-शिव
3. शक्ति
4. आत्म-तत्त्व
5. अन्य-तत्त्व
   - (i) सदाशिव-तत्त्व
   - (ii) ईश्वर-तत्त्व
   - (iii) सद्विद्या-तत्त्व
   - (iv) माया और पंचकंचुक
   - (v) बुद्धि आदि त्रिविंशति तत्त्व
   - (vi) षट्विंश तत्त्वों का वर्गीकरण
6. पाश (बन्धन) और मुक्ति
7. शक्तिपात एवं दीक्षा
8. योग
9. सर्ग-प्रतिसर्ग

शिव पुराण में अन्तर्निहित दार्शनिक तत्त्व

दर्शन का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—जिसके द्वारा देखा जाय ''दृश्यते अनेन इति दर्शनम्''। भारतीय-मनीषियों की दृष्टि में 'दर्शन' शब्द का तात्पर्य तत्त्व साक्षात्कार से है। दर्शन मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराकर उसका परम कल्याण करता है। अन्तर्मुखी जिज्ञासा दर्शनशास्त्र को उत्पन्न करती है। जब हम बाहर से भीतर प्रवेश करते हैं अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमन करते हैं, तब हमें जगत्कारणभूत परमतत्त्व की अनुभूति होती है। उस परमतत्त्व का विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है, जिसके फलस्वरूप अनेक दार्शनिक विधाओं ने जन्म लिया।

शिव पुराण एवं शैव दर्शन

शिव पुराण शैव दर्शन एवं मतों का आकार है। सम्पूर्ण शैव दर्शनों की अधिकांश सैद्धान्तिक बातें इसमें कहीं विस्तार के साथ तो कहीं संक्षेप में वर्णित हैं। संक्षेप में ही यहाँ यह देखने का प्रयास किया जायेगा कि किन-किन शैव दर्शनों ने शिव पुराण को प्रभावित किया है।

पाशुपत दर्शन

शैव दर्शनों में 'पाशुपत दर्शन' सर्वाधिक प्राचीन है। पाशुपत आगम महाभारत काल में सुपरिचित थे। वेद के समान ये भी स्वतः प्रमाण थे। इनके अनुयायी इन शास्त्रों का वेद से भी अधिक आदर करते थे।[1] शिव पुराण पाशुपत धर्म एवं दर्शन से सर्वाधिक प्रभावित है।

---

1. 'न्याय सिद्धाञ्जन' की पं० व्रजबल्लभ द्विवेदी लिखित हिन्दी भूमिका, पृ० 7.

"पाशुपतसूत्र" के बहुत से सूत्र शिव पुराण में मन्त्र के रूप में उल्लिखित किये गये हैं।[1] इन सूत्रों में से कुछ का उल्लेख कतिपय शैव उपनिषदों में भी हुआ है। यही कारण है कि इनका उद्धरण करते हुए शिव पुराण 'इतिश्रुतय:' अथवा 'इति श्रुति:' कहता है।[2]

पाशुपत व्रत एवं पाशुपत ज्ञान तथा पाशुपत योग की चर्चा से शिव पुराण के कतिपय स्थल अलंकृत हैं।[3] पाशुपत मत की इस लोकप्रियता का कारण था उसका श्रुति के अनुकूल होना।[4] शिव पुराण के अनुसार शैव दर्शन तथा धर्म के आधारस्तम्भ आगमों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—श्रौत एवं अश्रौत। श्रौत आगम श्रुति के अनुकूल अपने सिद्धान्तों

---

1. भवे भवे नाति भव इति पाद्यं प्रकल्पयेत्।
   वामाय नम इत्युक्त्वा दद्यादाचमनीयकम्॥
   ज्येष्ठाय नम इत्युक्त्वा शुभ्रवस्त्रं प्रकल्पयेत्।
   श्रेष्ठाय नम इत्युक्त्वा दद्याद्यज्ञोपवीतकम्॥
   रुद्राय नम इत्युक्त्वा पुनराचमनीयकम्।
   कालाय नम इत्युक्त्वा गन्धं दद्यात् सुसंस्कृतम्॥—शि० पु०, कै० सं०—7 : 72-74
   तुलना
   भवे भवे नाति भवे। पाशु०—1 : 42
   वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नम:। पाशु—2 : 22
   कायाय नम:। वही—2 : 23
2. ईशान: सर्वविद्यानाभित्याद्या: श्रुतयो प्रिये।
   मत्त: एव भवन्तीति वेदा: सत्यं वदन्ति हि॥—शि० पु०, कै० सं०—3 : 19
   तुलना—ईशान: सर्वविद्यानाम्। —पाशु०—5 :42
3. (क) व्रतं पाशुपतं कृत्वा त्वथर्वशिरसि स्थितम्।—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—6 : 16
   परं पाशुपतं यत्र व्रतं ज्ञानं च कथ्यते॥—वही, पू० खं०—32 : 13
   भगवन् श्रोतुमिच्द्धामों व्रतं पाशुपतं परम।—वही—33 : 1
   (ख) तेषु पाशुपतो योग: शिव प्रत्यक्षयेद् दृढ़म्।—वही—32 : 17
   तस्माच्छ्रेष्टमनुष्ठानं योग: पाशुपतो मत:॥—वही—21 : 18
4. तत्र लीनाश्च मुनय: श्रोतपाशुपतव्रता:।
   व्रतं पाशुपतं श्रोतमथर्वशिरसि श्रुतम्॥—वही—पू० खं० 33 : 2

की स्थापना करते हैं जब कि अश्रौत आगम श्रुति के बिना अपेक्षा किये स्वतंत्र रूप से लिखे गये हैं।[1]

सिद्धान्त शैव दर्शन

स्वतन्त्र रूप से लिखे गये 'कामिक' आदि आगमों की संख्या अष्टादश है। इनके द्वारा जिस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है उसे ''सिद्धान्त शैव दर्शन'' कहते हैं, क्योंकि स्वतंत्र रूप से लिखित ये आगम 'सिद्धान्त' भी कहे गये हैं। सिद्धान्त शैव दर्शन के सिद्धान्तों का प्रभाव शिव पुराण पर बहुत ही स्पष्ट ढंग से पड़ा है। उनका यह प्रभाव पशु, पाश एवं पति (परमात्म-शिव) के वर्णन के अवसर पर देखा जा सकता है।[2] शक्ति के वर्णन के विषय में भी शिव पुराण 'सिद्धान्त शैव' से पर्याप्त प्रभावित है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' अद्वैत दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। काश्मीर में विकसित होने के कारण इसे 'काश्मीर शैव दर्शन' भी कहते हैं। शिव पुराण के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अद्वैत विषयक विचारधारा के विषय में यह पुराण 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' से पर्याप्त प्रभावित है शिव पुराण की पूर्णता के पूर्व अवश्य ही 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' का विकास एवं विस्तार हो चुका था। इस बात का साक्ष्य स्वयं शिव पुराण में ही उपलब्ध है। शिव पुराण की कैलास संहिता में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के तीन ग्रन्थों—''शिवसूत्र[3], शिवसूत्र वार्तिक,[4] एवं विरुपाक्ष

---

1. शैवागमो हि द्विविध: श्रोतोऽश्रौतश्च संस्कृत:।
   श्रुतिसारमय: श्रौत: स्वतंत्र इतरो मत:॥—शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—32 : 11
2. स्वतन्त्रो दशधा पूर्वं तथाऽष्टादशधा पुन:।
   कामिकादिसमाख्याभि: सिद्ध: सिद्धान्तसंज्ञित:॥—वही—32 : 12
3. चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम्।—शि० पु०, कै० सं०—16 : 44
4. इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया।—वही—16 : 46

पंचाशिका''[1] का उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि शिव पुराण के काल तक 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' अपनी पूर्ण प्रौढ़ि को पहुँच चुका था।

इस प्रकार यह परिलक्षित होता है कि शिव पुराण द्वैत एवं अद्वैत उभयविध दर्शनों से पर्याप्त रूप से प्रभावित है। द्वैत दर्शनों में 'पाशुपत दर्शन' विद्येश्वर संहिता एवं वायवीय संहिताओं में तथा 'सिद्धान्त शैव दर्शन' वायवीय संहिताओं में और अद्वैत दर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) कैलाश संहिता में विशेष रूप से वर्णित किया गया है। शिवपुराण में अन्तर्निहित दार्शनिक तथ्यों को निम्नलिखित स्तम्भों के अन्तर्गत वर्णित किया जा सकता है।

---

1. आदाय मालामुत्थाय श्री विरूपाक्ष निर्मिते।
   शास्त्रे पंचाशिके रूपे सिद्धिस्कन्धं जपेच्छनैः॥—वही—19, : 44

परमात्म-शिव

परं ब्रह्म-शिव

शिव पुराण की रुद्र संहिता के सृष्टि खण्ड में कहा गया है कि महाप्रलय के समय स्थावर जंगम सभी विनष्ट हो चुके थे। उस समय केवल अन्धकार था। सूर्य, ग्रह, नक्षत्र मण्डल, चन्द्र, दिन, रात्रि, अग्नि, अनिल, भू, जल आदि कुछ भी न थे। किसी भी शक्ति का पता न था। चतुर्दिक् रिक्तता ही रिक्तता परिव्याप्त थी। उस समय किसी भी प्रकार की चेतनता न थी। यह एक ऐसी अवस्था थी जिसमें चेतन और अचेतन कुछ भी न था। सर्वत्र अन्ध तमस् व्याप्त था। किन्तु ऐसी ही अवस्था में एकमात्र सद्ब्रह्म ही अवशिष्ट था। यह एक ऐसी सत्ता है जो वाणी और मन का कभी भी विषय नहीं हो सकती। उसका न कोई नाम है और न कोई रूप ही। वह न तो स्थूल है और न कृश ही। सत्य तो यह है कि उसकी कोई भी परिभाषा नहीं दी जा सकती। श्रुति भी चकित होकर उसकी सत्ता स्वीकार करती है। यह सत्य, ज्ञान, अनन्त, परानन्द एवं परज्योतिः स्वरूप, अप्रमेय, अनाधार तथा अविकार है। उसकी कोई आकृति भी नहीं है। वह निर्गुण, निष्कल, योगिगम्य, सर्वव्यापी एवं एक कारक है।[1] वह निर्विकल्प, निरारम्भ, मायाशून्य एवं निरुपद्रव भी कहा गया है। वह आदि, अन्त तथा विकास शून्य है। शिव पुराण उसी को परंब्रह्म शिव की संज्ञा से अभिहित करता है।[2]

---

1. अभिधत्ते स चकितं यदस्तीति श्रुतिः पुनः।
   सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दम्परम्महः॥
   अप्रमेयमनाधारमविकारमनाकृति।
   निर्गुणं योगिगम्यं च सर्वव्याप्येककारकम्॥—शि० पु०, रु० सं०, सृ० सं०—6 : 11-12
2. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
   तदेव परमं प्रोक्तं ब्रह्मैव शिवसंज्ञकम्॥—शि० पु०, को० रु० सं०—41 : 14

परंब्रह्म सम्बन्धी उक्त विश्लेषण से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि शिव पुराण में अन्तिम सत्ता, निर्गुण, निष्कल एवं अद्वैत रूप से वर्णित है। यही कारण है कि कैलाश संहिता में शैव सिद्धान्त 'शिवाद्वैत' के नाम से व्याख्यात है।[1] यह अद्वैत शैववाद अपनी प्रक्रिया में कहीं भी द्वैत की भावना को सहन नहीं करता, क्योंकि द्वैत नश्वर होता है और परंब्रह्म अद्वैत एवं अनश्वर कहा गया है।[2]

कुछ काल के पश्चात् परंब्रह्म शिव की इच्छा दो रूपों में विभक्त होने की हुई।[3] अतः उसने लीला से अपनी एक मूर्ति कल्पित की।[4] यह मूर्ति शिव तत्त्व (परमात्म-शिव) कही गई है।[5]

परंब्रह्म शिव एवं परमात्म-शिव एक ही सत्ता के द्विविध रूप हैं। एक ही सत्ता का यह भेद शक्ति के कारण होता है। शक्ति अस्फुट अतः शान्त रहने पर परंब्रह्म शिव एवं शक्ति के सुस्फुट तथा कार्योन्मुख होने पर परमात्म शिव कहा जाता है।[6] शक्ति (कला)[7] के निष्क्रिय रहने के कारण परं ब्रह्म शिव को निष्कल शिव तथा उसके सक्रिय होने के कारण परमात्म-शिव को सकल शिव भी कहा जाता है।[8] इस प्रकार एक ही सत्ता शक्तिकृत भेद के कारण द्विविध रूप को धारण करती है।[9] वस्तुतः निष्कल एवं सकल शिव में भेद न होकर

---

1. अद्वैतः शैववादोऽयं द्वैतं न सहते क्वचित्।—शि० पु०, कै०, सं०—17 : 3
2. द्वैतं च नश्वरं ब्रह्माद्वैतं परमनश्वरम्।—वही—17 : 3
3. कियता चैव कालेन द्वितीयेच्छाऽभवत् किल। शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—6 : 14
4. अमूर्तेन स्वमूर्तिश्च तेनाकल्पि स्वलीलयार।—वही—6 : 15
5. यच्चादौ हि समुत्पन्नं निर्गुणात्परमात्मनः।
   तदेव शिवसंज्ञं हि वेदवेदान्तिनो विदुः॥—शि० पु०, को० रु० सं०—42 : 2
6. निर्गुणत्वे शिवाह्वो हि परमात्मा महेश्वरः।
   परं ब्रह्माऽव्ययोऽनन्तो महादेवेति गीयते॥—शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—4 : 33
7. कला या परमा शक्तिः कथिता परमात्मनः।—शि० पु०, वा० सं., उ० खं०—4 : 29
8. सकलं निष्कलं चेति स्वरूपद्वयमस्ति मे।—शि० पु०, वि० सं०—9 : 30
9. तस्माच्चतुर्गुणः प्रोक्तः शिव एव मुनीश्वराः।
   स एव सगुणो ज्ञेयः शक्तिमत्वाद द्विधाऽपि सः॥—शि० पु०, को० रु० सं०—42 : 21

पारमार्थिक रूप से अभेद ही है।[1] संसार का बृंहण करने के कारण परमात्म-शिव को ब्रह्म भी कहते हैं।

परमात्म-शिव की शक्तिमत्ता

श्रुति के अनुसार ब्रह्म का रूप सत्, चित् एवं आनन्दमय है।[2] आत्मा के लिए प्रयुक्त होने वाला 'सत्' शब्द असत् का निवर्तक है। 'चित्' शब्द से जगत्त्व का निवर्तन होता है। त्रिलिंगवर्ती 'सत्' शब्द यहाँ पुरुष (परमात्मशिव) के लिए प्रयुक्त हुआ है।[3] 'सत्' शब्द प्रकाश का वाचक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्म-शिव प्रकाशात्मा है। ज्ञान शब्द का पर्याय 'चित्' शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है।[4] प्रकाश एवं चित् इन दोनों का मिथुन ही जगत् की कारणता को प्राप्त हुआ है।[5] 'सत्' (परमात्म-शिव) तथा चित् (शक्ति) के संयोग से सर्वदा आनन्द ही होता है।[6] जीव से निवर्तन के लिए ही परमात्म-शिव में सार्वकालिक शक्तित्व स्वीकृत है, अतः जीवाश्रित चित् शक्ति सर्वदा दुर्बल रहती है।[7]

यह सम्पूर्ण विश्व प्रत्यक्ष ही स्त्री-पुरुष रूप दृष्टिगोचर होता है। प्राणियों का शरीर षटकोश रूप है। इसमें तीन कोश तो माता के अंश के एवं तीन पिता के अंश के हैं। इसी

---

1. एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयमेव च।
   स्वर्णं कृताकृतमिव वस्तुभेदो न चैव हि।—शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—49 : 18
2. सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं वदति ब्रह्मण: श्रुति:।
   असन्निवर्तक: शब्द: सदात्मेति निगद्यते॥—शि० पु०, कै० सं०—16 : 25
3. शि० पु०, कै० सं०—16 : 26
4. प्रकाशवाची स भवेत् सत्प्रकाश इति स्फुटम्।
   ज्ञानशब्दस्य पर्यायश्चिच्छब्द: स्त्रीत्वमागत:॥—वही—16 : 27
5. शि० पु०, कै० सं०—16 : 28
6. शिवशक्त्योस्तु संयोगादानन्द: सततोदित:।—वही—19 : 13
7. शि० पु०, कै० सं०—16 : 31

प्रकार सबके शरीर में विद्वानों ने स्त्रीपुंभाव स्वीकार किया है।[1] परमात्म शिव भी, जो कि संसार का कारण है, स्त्रीपुंभावस्वरूप माना गया है।

परमात्म-शिव की परा शक्ति स्वभाविकी एवं विश्व विलक्षणा है। यह एक होते हुए भी भानु की प्रभा की भाँति अनेक रूपों में प्रकाशित होती है।[2] वह्नि से विस्फुलिंग की भाँति इससे विविध शक्तियाँ प्रादूर्भूत होती हैं। यह इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूपा है।[3] यह इस प्रकार हो और यह इस प्रकार न हो—इस प्रकार कार्यों का नियमन करने वाली शक्ति इच्छा शक्ति कही जाती है।[4] बुद्धिरूप होकर कार्य, करण, कारण और प्रयोजन का ठीक-ठीक निश्चय करने वाली शक्ति ज्ञान शक्ति कही जाती है।[5] संकल्परूपिणी परमात्म शिव की इच्छा और निश्चय के अनुसार कार्यरूप सम्पूर्ण जगत् की क्षण भर में कल्पना कर देने वाली शक्ति क्रियाशक्ति कही गयी है।[6] इस प्रकार एक परा शक्ति ही विधा अभिव्यक्त होती है।

परमात्म-शिव की इस स्वाभाविकी शक्ति को विद्या एवं महामाया आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया ये तीन शक्तियाँ पुराणों में शम्भु के तीन नेत्रों के रूप में कल्पित की गयी हैं।[7] वस्तुतः उनके त्रिशूल का आधार यह तीन शक्तियाँ ही हैं।[8] परमात्म शिव की ही भाँति अमनोगोचर तथा तत्त्वातीत होने के कारण यह शक्ति मनोन्मनी नाम से भी

---

1. शि० पु०, कै० सं०—16 : 23
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—7 : 1
3. शि० पु०, कै० सं०—16 : 48-49
4. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—4 : 32
5. **ज्ञानशक्तिस्तु तत्कार्यं करणं कारणं तथा।**
   प्रयोजनं च तत्त्वेन बुद्धिरूपाध्यवस्यति॥—वही—4 : 33
6. वही—4 : 33
7. शि० पु०, कै० सं०—16 : 49
8. लोलीभूतमतः **शक्तित्रितयं** तत्त्रिशूलकम्।—तन्त्रा० प्रथम आ०, श्लोक 4 पर जयरथ की टीका से

कही जाती है। इसकी स्थिति परमात्म शिव के वामभाग में बतलाई गई है।[1] लोक में अर्द्धनारीश्वर रूप की कल्पना में परमात्म शिव का यह शक्तिमान् रूप ही कारण है।

परमात्म शिव का प्रत्येक रूप शक्ति रूप से ही कल्पित है। यही कारण है परमात्म-शिव का सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य एवं व्यापक स्वरूप उनकी पंचविध शक्तियों के रूप में कल्पित किया गया है। ये पंचविध शक्तियाँ परा शक्ति के ही परिणाम हैं। इस प्रकार सर्वकर्तृत्वरूपा, सर्वज्ञत्व-स्वरूपिणी, पूर्णत्वरूपा, नित्यत्व एवं व्यापकत्व स्वरूपिणी परमात्म-शिव की पंचविध शक्तियाँ हो जाती हैं।[2]

परमात्म-शिव के पंचकृत्य

परमात्म-शिव के पाँच प्रकार के जागतिक कृत्य बतलाये गये हैं। सृष्टि, पालन, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह।[3]

1. सृष्टि—संसार की रचना का जो प्रारम्भ है, उसी को सर्ग अथवा 'सृष्टि' कहते हैं।

2. स्थिति अथवा पालन—शिव से पालित होकर सृष्टि का सुस्थिर रूप से रहना ही उसकी 'स्थिति' है।

3. संहार—संसार का विनाश ही 'संहार' है।

4. तिरोभाव—प्राणों के उत्क्रमण को 'तिरोभाव' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—रुद्र, आदि के लोकों को प्राप्त कराने वाला एवं पूर्ण मुक्ति को प्रास कराने वाला।[4]

---

1. स्वशक्त्या वामभागे तु मनोन्मन्या विभूषितः।—शि० पु०, कै० सं०—12 : 19
2. वही—16 : 78-79
3. सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः।
   पंचैव मे जगत्कृत्यं नित्यसिद्धमजाच्युतौ॥—शि० पु०, वि० सं०—10 : 2
4. शि० पु०, कै० सं०—15 : 6 -7

5. अनुग्रह—सृष्टि, स्थिति, संहार एवं तिरोभाव से मुक्ति मिल जाना ही परमात्म-शिव का 'अनुग्रह' है।[1] 'अनुग्रह' भी दो प्रकार का होता है—परमुक्ति का दाता एवं अपरमुक्ति का दाता।[2]

ये पाँच कृत्य परमात्म-शिव में नित्य सिद्ध बतलाये गये हैं। इनमें सृष्टि आदि चार कृत्य संसार का विस्तार करने वाले कहे गये हैं। पंचम कृत्य अनुग्रह मोक्ष का हेतु है। परमात्म-शिव के अनुग्रह से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। अनुग्रह परमात्म शिव में ही अचलभाव से स्थिर रहता है।

ये पंचकृत्य पंचमहाभूतों में भी रहते है—सृष्टि भूतल में, स्थिति जल में, संहार अग्नि में, तिरोभाव वायु में और अनुग्रह आकाश में। पृथिवी से सब की सृष्टि होती है। जल से सब की वृद्धि एवं जीवन-रक्षा होती है। अग्नि सबको जला देता है। वायु सबको एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाता है और आकाश सब को अनुगृहीत करता है।[3]

परमात्म-शिव के उक्त पंचकृत्यों में सृष्टि, स्थिति, संहार एवं तिरोभाव को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और महेश ने तपस्या करके प्राप्त कर लिया है अर्थात् ये चारों देव ही इन चारों कार्यों को सम्पन्न करते हैं। किन्तु 'अनुग्रह' नामक कृत्य परमात्म-शिव के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं प्राप्त कर सकता है।[4] अनुग्रह करने का अधिकार एकमात्र परमात्म शिव को ही है। उक्त चारों कृत्यों के सम्पादन से ही ब्रह्मा आदि देव सृष्टिकर्ता आदि पदों से अभिहित किये जाते हैं।

---

1. शि० पु०, वि० सं०—10 : 3-4
2. शि० पु०, को० रु० सं०, 14 : 28
3. शि० पु०, वि० सं०—10 : 6 - 8
4. वही—10 : 10-11.

परमात्म-शिव की प्रकृति

शिव पुराण की कोटिरुद्र संहिता के 41वें अध्याय में परमात्म-शिव की प्रकृति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि परमात्म-शिव प्रकृति से परे, ज्ञानरूप, अव्यय, साक्षी एवं ज्ञानगम्य है। यह समग्र संसार उन्हीं से प्रादूर्भूत होता है, उन्हीं के द्वारा व्याप्त है तथा अन्त में उन्हीं में लीन भी हो जाता है।[1] ये सत्य, ज्ञान, अनन्त एवं सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप कहे गये हैं। उनका न कोई वर्ण है और न तो उनकी कोई आकृति एवं परिणाम ही है। आकाश की भांति परमात्म-शिव सर्वव्यापक हैं।[2]

पूर्व वायवीय संहिता के तृतीय अध्याय में कहा गया है कि—जिनसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इन्द्र तथा सम्पूर्ण भूतेन्द्रियों के सहित यह समग्र ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, जो कारणों के भी परम कारण हैं और जिनका कहीं भी, कभी भी, कोई कारण नहीं हैं, वे सर्वेश्वर से सम्पन्न एवं स्वयं सर्वेश्वर हैं। जो अकेले ही विश्व के बहुत से निष्क्रिय जन्तुओं में सक्रिय हैं अर्थात् जिनके अभाव में दृश्यमान जगत् की सक्रियता सम्भव नहीं हो सकती, जो एकाकी होते हुए भी बीज को बहुधा करते हैं वही महेश्वर हैं।[3] भगवान् महेश्वर सर्वदा प्राणियों के हृदय में सन्निविष्ट होकर भी दूसरों के द्वारा अलक्ष्य ही बने रहते हैं। वे स्वयं सबको जानते एवं विश्व के अधिष्ठाता हैं।[4]

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—41 : 8 -9.
2. वही—41 : 15
3. एको बहूनां जन्तूनां निष्क्रियाणां च सक्रियः।
   य एको बहुधा बीजं करोति स महेश्वरः॥—शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—3 : 7
4. सदा जनानां हृदये सन्निविष्टाऽपि यः परैः।
   अलक्ष्यो लक्षयन् विश्वमधितिष्ठति सर्वदा॥—वही—3 : 9.

परमात्म-शिव एवं बन्धन

परमात्म-शिव किसी प्रकार के कर्म से सम्बद्ध नहीं होते, वे पूर्णतया निर्मल हैं। त्रिकाल में भी उनमें किसी प्रकार के मल का संयोग नहीं होता है। यही कारण है कि वे स्थावर-जंगमात्मक विश्व के विकास संचालक हैं।

परमात्म-शिव बन्धनरूप प्रकृत्यष्टक को सर्वदा अपने वश में करके स्थित रहते हैं।[1] प्रकृत्यष्टक से होने वाला बन्धन इन्हें कदापि नहीं होता। प्रकृति, बुद्धि, अहंकार एवं पंचतन्मात्राओं को मिलाकर, प्रकृत्यष्टक कहा जाता है।[2] परमात्म-शिव में सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतंत्रता, नित्य ही अलुप्त-शक्तित्व सर्वदा स्वाभाविक रूप से वर्तमान रहता है।

परमात्म-शिव को न तो आणवमल होता है न तो कार्य एवं मायीय ही। मानस एवं इन्द्रियात्मक तथा भूत-सम्बन्धी बन्धनों से भी वे सर्वदा परे हैं। कहने का भाव यह है कि किसी भी प्रकार का बन्धन परमात्म-शिव को कभी भी किसी भी अवस्था में नहीं होता।[3]

अमित तेजस्वी परमात्म-शिव का काल, कला, विद्या, नियति, राग एवं द्वेष कुछ भी नहीं होता है। इनका किसी के भी साथ अभिनिवेश नहीं है। न तो इनका कोई कर्म एवं कर्मविपाक ही होता है। कर्म के फल सुख-दु:ख से भी इनका कोई अपना सम्बन्ध नहीं है। न तो इनका कोई कारण एवं कर्ता ही है और न तो इनका आदि एवं अन्त ही है। इनका कर्म, करण, अकार्य एवं कार्य कुछ भी नहीं है। इनका बन्धु, अबन्धु, नियन्ता, प्रेरक, पति, गुरु, त्राता भी नहीं है। न तो इनके कोई समान ही है और न कोई इनसे अधिक ही है।

जन्म, मरण, विधि, निषेध, मुक्ति, बन्धन आदि भी इनका कुछ नहीं है। उक्त-स्वरूप परमात्म शिव अपनी शक्तियों से इस सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान करके अप्रच्युत भाव से स्थित

---

1. शि० पु०, वि० सं०—18 : 11
2. वही—18 : 4
3. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—6 : 1-2

है, यही कारण है कि इन्हें 'स्थाणु' भी कहा जाता है।[1] ब्रह्मादि सभी देव कालावच्छेदवर्ती हैं, काल के अधीन हैं, जब कि परमात्म-शिव कालावच्छेदवर्जित है,[2] काल की परिधि से परे है।

परमात्म-शिव एवं जगत्

इस संसार में ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब परमात्म-शिव ही हैं नानात्म की कल्पना मिथ्या है।[3] यह भगवान् सृष्टि के पूर्व में भी रहे और सृष्टि के अन्त में भी रहते हैं। सर्वशून्य होने पर परमात्म-शिव की ही सत्ता रहती है। ये सर्वदा शक्तिमत्ता को धारण करते हैं अतः इन्हें शक्तिमान् कहा जाता है। संसार का प्रत्येक कार्य इन्हीं की इच्छा से सम्पन्न होता है। इस संसार का निर्माण करके इनमें प्रविष्ट होकर भी वे इससे दूर ही स्थित रहते हैं, इसमें फँसते नहीं, तथा सर्वदा ही निर्लिप्त एवं चित्स्वरूप बने रहते हैं। जिस प्रकार सूर्यादि की जलादि में प्रतिबिम्बता है, न कि वस्तुतः उनमें उनका प्रवेश है, उसी प्रकार परमात्म-शिव की भी संसार में प्रतिबिम्बता है, न कि यथार्थतः उनका संसार में प्रवेश है। यथार्थ बात तो यह है कि निर्विकारी परमात्म-शिव का प्रवेश इस परिवर्तनशील संसार में हो ही नहीं सकता और इससे भी अधिक यथार्थ बात तो यह है कि परमात्म-शिव ही सम्पूर्ण संसार हैं। समय के द्वारा लगाया गया संसार का पूर्वापर क्रम तो केवल भासित मात्र है। इस जगत् में परमात्म शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

इस संसार में बिना प्रविष्ट हुये कि परमात्म-शिव सब कुछ व्याप्त करके स्थित हैं। वे व्यापक हैं और चतुर्दिक् उन्हीं की ही सत्ता दृष्टिगोचर होती है।[4] जो विलक्षण प्राणी वेदान्त मार्ग का समाश्रयण कर उनके साक्षात्कार के लिए उपाय करता है, वह अवश्य ही उनके दर्शन

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—6 : 8-10
2. वही—6 : 19
3. शि० पु०, को० रु० सं०—43 : 4
4. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—29 : 29-30

रूपी फल का भाजन होता है। इस फल को प्राप्त करके प्राणी अवश्य ही मुक्ति का पात्र होता है। जिस प्रकार प्रत्येक काष्ठ में वर्तमान अग्नि केवल उसके मन्थन कर्ता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो विलक्षण व्यक्ति, इस संसार में, भक्ति आदि साधनों को करता है, वह अवश्य ही कण-कण में व्याप्त परमात्म-शिव का दर्शन करता है। इस संसार में परमात्म-शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। केवल भ्रान्ति के कारण ही परमात्म-शिव नाना रूपों में भासित होते हैं। जिस प्रकार समुद्र, मृत्तिका और सुवर्ण केवल उपाधि के कारण नानात्व को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार परमात्म शिव भी उपाधि के कारण नानात्व को प्राप्त करते हैं न कि वस्तुतः। सत्य बात तो यह है कि कार्य और उसके कारण में कोई भेद ही नहीं है। भेद की प्रतीति तो बुद्धि की भ्रान्ति के कारण होती है, और जब यह भ्रान्ति विनष्ट हो जाती है तब भेद की प्रतीति का भी विनाश हो जाता है।[1]

जगत् की प्रत्येक वस्तु परमात्म-शिव ही है और परमात्म शिव ही सब कुछ है। दृश्यमान जगत् एवं परमात्म-शिव में कुछ भी भेद नहीं है। ऐसी अवस्था में विविधत्व एवं एकत्व के अवलोकन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि भेद होने पर ही ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड में जिन्हें भी क्षर (पाश) एवं अक्षर[2] (पशु अथवा आत्मा) के रूप में जाना जाता है, वे सभी महेश्वर शिव से उत्पन्न हुये और उन्हीं की इच्छा से अस्तित्व में आये हैं। यहाँ तक कि क्षर, अक्षर, सब कुछ स्वयं 'हर' ही है।

पशु के अन्त में माया भी निवृत्त हो जाती है अर्थात् माया की समाप्ति पर यह सम्पूर्ण विश्व और आत्मा भी अदृश्य हो जाते हैं।[3] परमात्म-शिव एक स्वच्छन्दवर्ती चित्रकार की

---

1. शि० पु०, को० रु० सं०—43 : 17
2. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—5 : 14
3. वही—3 : 13

भाँति, इस सम्पूर्ण विश्वरूपी चित्रपट का विस्तार करते हैं, जिसमें नानाविध प्राणियों का प्रदर्शन किया जाता है और अन्त में यह सब आकार पटल उन्हीं में लौट कर लीन हो जाता है।[1] सम्पूर्ण भूत इन्हीं परमात्म-शिव के वश में हैं और ये ही सबके नियोजक हैं। परमात्म-शिव सज्जनों के द्वारा द्रष्टव्य हैं। पतित, मूढ़, दुर्जन एवं कुत्सित प्राणी इन्हें कभी नहीं देख सकते। यह सृष्टि, स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार की होती है। स्थूल सृष्टि को सभी देख सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म का प्रत्यक्ष तो केवल योगिजन ही करते हैं। परन्तु नित्यज्ञान एवं आनन्दस्वरूप तथा अव्यय परमात्म-शिव इन दोनों से परे हैं।

क्षर और अक्षर, जिसे क्रमशः पाश और पशु भी कहा जाता है, ये दोनों ही परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और ये दोनों ही अपनी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अवस्था में परमात्म-शिव के द्वारा संरक्षित रहते हैं अर्थात् विश्वविमोचक परमात्म-शिव व्यक्ताव्यक्त विश्व को धारण करते हैं।[2] तथाकथित नानात्व भी स्वयं परमात्म-शिव के द्वारा व्याप्त है। परमात्म-शिव ही सबके स्वामी एवं आश्रय हैं। यद्यपि वे एक ही हैं तथापि अपनी विविध शक्तियों के द्वारा अपने को विश्व के रूप में प्रकाशित करते हैं। विश्व का निर्माण कर वे एकाकी ही अपनी शक्तियों के द्वारा उसका शासन करते हैं।

जिस प्रकार वृक्ष के मूल सिंचन से उसकी शाखायें एवं अन्य सभी अवयव विकसित होते हैं उसी प्रकार परमात्मा-शिव की पूजा से उनका शरीरभूत जगत् भी विकास अथवा तुष्टि को प्राप्त होता है।[3] सबको अभयदान तथा सब पर अनुग्रह करना परमात्म-शिव की आराधना कही गयी है।[4]

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—3 : 22
2. वही—6 : 9
3. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—3 : 29
4. वही—3 : 30.

अद्वैतवाद की पूर्ण प्रौढ़ता

आचार्य शंकर के द्वारा व्याख्यात अद्वैत वेदान्त की पृष्टभूमि पर विषय की अवतारणा करते हुए शिव पुराण कहता है कि सत्य तो यह है कि यह सम्पूर्ण संसार अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यह अज्ञानाधिष्ठित है। इसमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है। पुराणों में वर्णित परमात्म-शिव के सम्पूर्ण चरित्र स्थिति पर निर्भर केवल कल्पना ही है। वस्तुतः ऐसी कोई भी एक परिभाषा नहीं है, जो परमात्म शिव की यथार्थस्थिति के विषय में बतला सके।[1] अब तक संसार के विकास के विषय में जो कुछ कहा गया है वह सब प्रमाण-गम्यतामात्र है। परमात्म-शिव की सर्वातिशायिनी वास्तविकता तर्क से एकदम परे है।[2] जिसे परमात्म-शिव की उपाधि प्रदान की जाती है वह तो आत्मा के स्वभाव का एक काल्पनिक परमात्मा है।[3] जिस प्रकार अग्नि, काष्ठ से भिन्न होते हुये भी काष्ठ के बिना नहीं देखा जा सकता उसी प्रकार मूर्त्यात्मा से भिन्न होते हुए भी परमात्म शिव उसके बिना नहीं देखे जा सकते।[4]

तटस्थ परमात्म-शिव

इस संसार में जो गौण अथवा अगौण पदार्थ हैं उन सब पर अनुग्रह करने वाले परमात्म-शिव के अच्छे कृत्य (गुणवृत्तियाँ) न गुण के लिए होती हैं और न तो दोष के लिए ही।[5] अर्थात् परमात्म-शिव का अनुग्रह मित्रता अथवा दयालुता के साधारण अच्छे गुणों की भाँति नहीं है। इसे न तो अच्छा ही कहा जाता है और न तो बुरा ही। केवल इसे सम्पूर्ण प्राणियों की हितसाधिका ईश्वरेच्छा ही कहा जा सकता है। यह एक मात्र संसार के मोचन के लिए ही हुआ करता है।[6] परमात्म शिव ही इच्छा का अनुवर्तन करना ही सबसे बड़ा गुण है

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—31 : 9-10
2. वही—31 : 12
3. वही—31 : 13
4. वही—31 : 14
5. वही—31 : 50
6. वही—31 : 51

और सबसे बड़ा गुण परमात्म-शिव का आज्ञानुवर्तन ही है।[1] अतः कहा जा सकता है कि परमात्म-शिव सबको हित में लगाने वाले एवं सब पर अनुग्रह करने वाले हैं, न कि किसी एक पर। इस प्रकार वैयक्तिक हित विशाल मात्रा में मानवता के हित के साथ सम्बद्ध है और यह बात तभी प्रभावशाली बनती है जब कि सभी प्राणी परमात्म-शिव की आज्ञा का अनुवर्तन करें।

प्रेरक परमात्म-शिव

संसार का कोई भी कार्य परमात्म-शिव के बिना नहीं चल सकता। जिस प्रकार अयस्कान्त मणि के बिना लौह खण्ड नहीं चल सकते, उसी प्रकार अचेतन मल माया आदि भी परमात्म-शिव के सान्निध्य के बिना अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकते। परमात्म-शिव अपने सान्निध्य से ही मल आदि के उपकारक होते हैं।[2] संसार के पदार्थों के साथ सर्वथा वर्तमान अकारण यह परमात्म-शिव का सान्निध्य अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञात परमात्म-शिव इस संसार के नित्य अधिष्ठाता हैं।[3] संसार की कोई भी वस्तु परमात्म-शिव के बिना प्रवृत्त नहीं हो सकती। दृश्यमान् जगत् उन्हीं के द्वारा प्रवृत्त होता है तथापि वे मोहित नहीं होते।[4] सर्वतोमुखी परमात्म-शिव की आज्ञात्मिका शक्ति ही इस संसार का नियमन करने वाली है, यह संसार उसी से व्याप्त रहता है तथापि वे (परमात्मा-शिव) दूषित नहीं होते।[5]

परमात्म-शिव मल, माया आदि पाशों में ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त पशुओं को बाँध कर अपना कार्य करवाते हैं। उन्हीं की आज्ञा से प्रकृति पुरुषोचित बुद्धि को उत्पन्न करती है।[6]

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—31 : 52
2. वही— 31 : 88-89
3. वही—31 : 90
4. वही— 31 : 91
5. वही—31 : 92
6. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं, 2 : 14 -16

उन्हीं की आज्ञा से बुद्धि से अहंकार और अहंकार से पंचतन्मात्रायें एवं मन के सहित एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उन्हीं के शासन से पंचतन्मात्रायें पंचमहाभूतों को प्रादुर्भूत करती है। उन्हीं की आज्ञा से समग्र महाभूत ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त देहधारियों की देहसंगति को करवाते हैं अर्थात् देहधारियों को उत्पन्न करते हैं। यह उन्हीं की आज्ञा का परिणाम है कि बुद्धि, अध्यवसाय एवं अहंकार अभिमान करता है। उन्हीं के आदेश से चित्त, चेतन एवं मन संकल्प-विकल्प करता है। उन्हीं के इंगित से श्रोत आदि इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् केवल अपने-अपने विषयों को ग्रहण करतीं तथा कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कर्म को सम्पन्न करती हैं। यह उन्हीं परमात्म-शिव की ही आज्ञा है कि संसार की प्रत्येक वस्तुयें अपने-अपने कार्य में सर्वदा संलग्न रहती हैं। परमात्म शिव की आज्ञा का उल्लंघन किसी भी प्राणी के लिए सम्भव नहीं है।[1]

परमात्म-शिव एवं काल

'काल' संसार का कलन करने वाली परमात्म-शिव की शक्ति है। 'काल' परमात्म शिव की विश्वनियामिका, नियोगरूपा इच्छाशक्ति (बल) है।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में एवं स्वयं शिव पुराण में भी इच्छाशक्ति को 'बल' भी कहा गया है।[3] यही कारण है कि 'काल' को शिव पुराण परमात्म-शिव का परम तेज भी कहता है। तेज एवं बल समान अर्थ के बोधक माने जाते हैं। समय के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला काल तो शिव के तेज रूप काल का स्थूल रूप अर्थात् शरीर है।[4] काल के परमात्म-शिव के अप्रतिहत तेज होने के कारण ही यह अशेष स्थावर-जंगम संसार के लिए अलंघ्य है।[5] यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व 'काल' के वश में

---

1. अविलंघ्या हि सर्वेषामाज्ञा शम्भोर्गरीयसी।—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—2 : 23
2. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—7 : 6-7
3. परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।—श्वेता०—6 : 8
4. कलाकाष्ठनिमेषादि कलाकलितविग्रहम्।
   कालात्मेति समाख्यातं तेजो माहेश्वरं परम्॥—शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०— 7 : 6
5. यदलंघ्यमशेषस्य स्थावरस्य चरस्य च।—शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—7 : 7

है, किन्तु 'काल' विश्व के वश में नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि 'काल' स्वयं परमात्म शिव के वश में है परन्तु परमात्म-शिव 'काल' के वश में नहीं है। वे 'काल' के स्वामी हैं।

संसार, शक्ति एवं परमात्म-शिव

सम्पूर्ण संसार परमात्म-शिव की शक्ति का कार्य है। संसार के मूल कारण परमात्म-शिव अपनी इसी शक्ति से सृष्टि के प्रारम्भ में, संसार का विस्तार करते हैं। सृष्टि की समाप्ति पर महाप्रलय के उपस्थित होने के समय समग्र संसार संकुचित होकर अपने कारण परमात्म-शिव में विलीन हो जाता है। उस समय परमात्म-शिव की यह शक्ति भी कार्य से निवृत्त हो उन्हीं में पूर्णतया विलीन हो जाती है। उस समय परमात्म शिव का परं रूप (परं ब्रह्म शिव) ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है।

सांख्य एवं शिव पुराण की दृष्टि में जगत् का मूल कारण

सांख्य दर्शन भी, जगत् के मूल कारण के रूप में, प्रकृति-पुरुष को स्वीकार करता है। उसके अनुसार तटस्थ पुरुष के सान्निध्य मात्र से प्रकृति संसार का निर्माण करती है। प्रकृति और पुरुष-ये दोनों ही मिलित रूप से संसार की कारणता को प्राप्त होते हैं। उसकी दृष्टि में एक के बिना एक निरर्थक है। निष्प्रयोजन है।

शिव पुराण की दृष्टि में इस संसार का मूल कारण परमात्म-शिव ही हैं। संसार सम्बन्धी प्रत्येक कार्य उनकी शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार संसार के मूल कारण के विषय में शिव पुराण एवं सांख्य प्रायः समान मत रखते हैं।

वस्तुतः सांख्य ने जगत् के मूल कारण प्रकृति पुरुष के सिद्धान्त को इसी वर्णन (सशक्ति शिव के वर्णन) से ग्रहण किया है। किन्तु उसने इस सिद्धान्त की स्थापना विचारयुक्त पृष्ठभूमि

पर की है। ऐसे सिद्धान्त की स्थापना में उसके समक्ष कोई आस्तिक भावना (ईश्वरवाद की भावना) न थी। यदि हम सांख्य की किसी शाखा को सेश्वर मान भी लें तो भी जब हम सम्पूर्ण सांख्य दर्शन को एक साथ मिलाकर देखते हैं तो ईश्वरवाद की भावना पूर्णरूप से निरस्त हो जाती है।

शिव पुराण एवं आचार्य शंकर के जागतिक दृष्टिकोण की तुलना

शिव-पुराण के अनुसार यह सम्पूर्ण संसार परमात्म-शिव का ही रूपक है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को देव-सदृश मानने का यह सिद्धान्त आचार्य शंकर एवं उनके अनुयायियों के वेदान्त के एकेश्वरवादी सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। वेदान्त के अनुसार सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही सत्य एवं वास्तविक सत्ता है, इसके अतिरिक्त संसार के सम्पूर्ण पदार्थ, जिन्हें हम देखते और जानते हैं, ब्रह्म की सत्यता पर आभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उसकी दृष्टि में मृगमरीचिका में प्रतीत होने वाले रजत के समान यह समग्र संसार मिथ्या है और उसके मिथ्यात्व की प्रतीति तब होती है जब तक व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है। किन्तु इस मुक्ति की प्राप्ति के लिए, जिसमें कि सम्पूर्ण संसार का भ्रम की दूर हो जाता है, समय की एक अवधि अपेक्षित होती है।

किन्तु शिव पुराण में तो यही कहा गया है कि स्थावर-जंगमात्मक सम्पूर्ण संसार परमात्म-शिव के विभिन्न वास्तविक स्वरूप हैं और उन्हीं के द्वारा अनुशासित होते हैं। पशुओं (आत्मा) के कल्याण के लिए ही वे (परमात्म-शिव) सम्पूर्ण पदार्थों को उनके लिए निर्धारित कार्यों में संलग्न भी करते हैं और बाद में यह पशु (आत्मा) भी और कुछ न होकर परमात्म-शिव का अंगभूत ही प्रतीत होता है। अमित तेजस्वी परमात्म-शिव की मूर्तियों से ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त हैं, उनके अतिरिक्त इसमें कुछ भी नहीं हैं।[1]

---

1. भगवन् परमेशस्य शर्वस्यामिततेजसः।
मूर्तिभिर्विश्वमेवेदं यथाव्याप्तं तथा श्रुतम्॥—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०— 4 : 1

प्रत्यभिज्ञा के परं शिव

काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि में अन्तिम सत्ता 'चित्' अथवा 'परा संवित्' रूप है। सम्पूर्ण परिवर्तनशील वस्तुओं में यह एक अपरिवर्तनीय सिद्धान्त है। यह एक ऐसा तत्व है जिसमें अहम् (अर्थात् ब्रह्मांश) और 'इदम्' के अविभाज्य संयोग स्वरूप है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के शब्दों में यह 'प्रकाशविमर्शमय' है। इसे अन्तिम सत्ता अथवा परमात्मा परम शिव भी कहा जाता है। यह केवल प्रकाश ही नहीं है जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार में स्थित वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार 'परम शिव' के द्वारा भी इससे अतिरिक्त समग्र पदार्थ प्रकाशित होते हैं। कठोपनिषद् में कहा भी गया है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।"[1]

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अन्तिम सत्ता केवल प्रकाश स्वरूप ही नहीं है, यह विमर्श भी है। इस प्रकार अन्तिम सत्ता न केवल प्रकाश स्वरूप है अपितु यह ऐसा प्रकाश है जो अपने आप में विमर्श भी करता है। हीरक के अन्दर निहित प्रकाश की भाँति यह एकमात्र जड़ प्रकाश नहीं है, अपितु यह वह प्रकाश है जो अपने आप के विषय में परीक्षण भी करता है। अन्तिम सत्ता के द्वारा विहित यह अपने आपका परीक्षण ही 'विमर्श' कहा जाता है, जैसा कि 'क्षेमराज' ने भी अपनी 'पराप्रावेशिका' में इसकी परिभाषा करते हुए इसे 'अकृत्रिमहमिति विस्फुरणम्' कहा है। यह विस्फुरण किसी सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। यह 'इदम्' का तात्कालिक स्फुरण है। यदि यह सत्ता केवल प्रकाश की ही होती है और इसमें विमर्श का अभाव होता तो यह शक्ति शून्य एवं जड़ होती।[2] यह 'इदम्' का विमर्श ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश के लिए उत्तरदायी है।

---

1. कठोपनिषद्—2, 15
2. यदि निर्विमर्शः स्यादनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत॥—पराप्रावेशिका, पृ० :

'चित्' अपने आपको चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में विमर्श करती है। चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में यह आमर्षण ही विमर्श कहा जाता है। यही कारण है कि विमर्श पराशक्ति, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरता, सार, हृदय, स्पन्द आदि नामों से अभिहित किया जाता है।[1]

इस प्रकार यह देखा जाता है कि अन्तिम सत्ता न केवल सांसारिक चैतन्य ही है अपितु यह सांसारिक ब्रह्म सम्बन्धी शक्ति भी है। यह सर्वव्यापक सांसारिक चैतन्य अनुत्तर भी कहा जाता है। यह विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों ही है।

अन्तिम सत्ता अनन्त शक्ति रखती है। संसार का प्रकाशन इसका स्वभाव है। यदि यह अपना प्रकाश न करती तो यह चैतन्य अथवा आत्मा न होकर एक अनात्मीय अथवा निर्जीव पदार्थ होती है। इसी बात को अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि "यदि अन्तिम सत्ता अपने आपको अनन्त रूपों में व्यक्त न कर केवल एक स्वरूप ही बनी रहती तो न तो यह महेश्वरत्व का आश्रय होती और न तो संक्तिव (चैतन्य) का ही।"[2]

इस प्रकार यह देखा गया है कि अन्तिम सत्ता अथवा परम-शिव 'प्रकाश विमर्शमय' है। उस अवस्था में 'अहम्', एवं 'इदम्' अभेदावस्था में रहते है। 'अहम्' प्रकाशधारा एवं इदम् की अनुभूति विमर्शधारा है। यह विमर्श ही स्वातन्त्र्य है, यही पूर्ण इच्छा एवं शक्ति है। यही शक्ति परम-शिव का हृदय कही गयी है।[3] किन्तु शक्ति परम-शिव की एक अन्य धारा (स्वरूप) है। अन्तिम सत्ता के अनुभव में तथाकथित 'इदम्' अन्य कुछ न होकर एकमात्र उसका स्वत्व ही है। इस जगत् में अपने आपका अनुभव करने वाली एक ही सत्ता अथवा

---

1. क्षेमराजकृत पराप्रावेशिका, पृ० 2
2. "अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
   महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्॥"—तन्त्रा 3, आहिन 10
3. "हृदयं परमेशितुः।"—क्षेमराजकृत पराप्रा०, पृ० 1

स्वत्व है। यह शक्ति अथवा विमर्श सन्तोष अथवा प्रसन्नता-रहित नहीं है। सभी संभाव्य पदार्थ इसमें अन्तर्निहित रहते हैं।

शिव पुराण निष्कल एवं सकल शिव को चिदात्मक अर्थात् चैतन्य स्वरूप मानता है।[1] परमात्मा को चैतन्य स्वरूप बतलाते हुए शिव पुराण 'शिवसूत्र' का भी उद्धरण देता है।[2] 'शिवसूत्र' प्रत्यभिज्ञादर्शन का मान्य ग्रन्थ है। इस प्रकार शिव पुराण एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनों ही अपनी-अपनी दृष्टि से अन्तिम सत्ता को चैतन्यस्वरूप मानते हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शन परम शिव में परा शक्ति एवं इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया आदि शक्तियों की सत्ता स्वीकार करता है। इन्हीं शक्तियों में संसार का विस्तार आदि कार्य होता है। किन्तु शिव पुराण के अनुसार अन्तिम सत्ता, जिसे निष्कल शिव कहा जाता है, किसी प्रकार की शक्ति से रहित है। वह पूर्ण निर्गुण, निष्कल एवं क्रिया आदि से रहित है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा में व्याख्यात परम शिव का स्वरूप शिव पुराण में दो स्वरूपों-निष्कल एवं सकल में वर्णित है।

द्वैतवादी शैवदर्शन और परमात्म शिव

द्वैतवादी शैवदर्शन, समग्र संसार का स्वामी होने के कारण परमात्म-शिव को 'पति' कहता है। इसके अनुसार भी 'पति' एक ही हैं। वे मलों से रहित एवं राग-द्वेष-शून्य हैं। वे सभी के प्रति कृपालु, चेतन एवं सूक्ष्मग्राही हैं। वे सभी के प्रेरक हैं। उनकी स्वतंत्रता स्वाभाविक है। वे कारण रहित एवं सबके कारण हैं। उनके संकल्प मात्र से संसार प्रादूर्भूत होता है। उनकी शक्ति उनमें अभेद सम्बन्ध से रहती है। द्वैतवादी शैवदर्शन शिव एवं शक्ति में भेदाभेद स्वीकार करता है।[3] इनके अनुसार हेतु, शास्त्र एवं योगियों के प्रत्यक्ष से सिद्ध संसार

---

1. अद्वितीयमनाद्यन्तमविकाशं चिदात्मकम्।—शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—6 : 13
2. चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम्।—शि० पु०, कै० सं०—16 : 44
3. अनन्यापि विभिन्नात: शम्भो: सा समवायिनी।
   स्वाभाविकी च तन्मूला प्रभा भानोरिवामला॥—रत्नत्रय—302

का प्रत्याख्यान (अवास्तविकता) असम्भव है।[1] इस प्रकार संसार की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हुए भी द्वैतवादी पति एवं संसार में अभेद नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में पति एवं संसार दो वस्तुयें हैं।

द्वैतवादी शैव दर्शन की दृष्टि से स्वीकृत, अन्तिम सत्ता, शक्तिमान् शिव (पति), शिव पुराण के परमात्म-शिव, जिन्हें शक्तिमान् शिव भी कहा गया है, से पूर्ण साम्य रखते हैं, किन्तु शिव पुराण अन्तिम सत्ता (परमात्म-शिव अथवा पति) की एक अन्य भी धारा मानता है, जिसे निर्गुण एवं निष्कल शिव कहा जाता है और जो परमात्म-शिव (शक्तिमान शिव) से भी परे सबके मूल कारण के रूप में वर्तमान है। इसके अतिरिक्त शिव पुराण संसार की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसे परमात्म शिव से अभिन्न मानता है। उसकी दृष्टि में दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। किन्तु द्वैतवादी शैव दर्शन तो संसार की वास्तविकता मानते हुए भी उसे शक्तिमान शिव से भिन्न ही मानता है। इस प्रकार दोनों में परमात्म-शिव (पति) के विषय में न तो पूर्ण एक मत है और न तो परमात्म-शिव (पति) एवं संसार के विषय में ही।

---

1. **यथास्वं हेतुभिः शास्त्रैः प्रत्यक्षैरपि योगिनाम्।**
प्रसिद्धानध्वनः शुद्धान्, प्रत्याचष्टे कथं सुधीः॥—रत्नत्रय—144

शक्ति

शिवत्व एवं शक्तित्व का समवाय ही परमात्म शिव अथवा सकल शिव है।[1] परमात्म-शिव की शक्ति को उनकी इच्छा भी कहते हैं।[2] जिस प्रकार व्यक्ति की इच्छा उसमें अभेद सम्बन्ध से रहती है, उसी प्रकार परमात्म-शिव की इच्छारूपा शक्ति उनमें अभिन्न होकर वर्तमान रहती है। परमात्म-शिव में शक्ति की स्थिति स्वाभाविक है,[3] यही कारण है कि उनका शक्ति से विप्रयोग कभी भी नहीं होता।[4]

वस्तुतः परमात्म-शिव और शक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। शक्ति के बिना परमात्म-शिव की कल्पना ही असम्भव है। परमात्म-शिव (सकल शिव) के अस्तित्व में आने का एकमात्र कारण शक्ति[5] (कला) ही है। ये दोनों ही अभिन्न हैं। जैसे शिव हैं वैसी ही देवी हैं और जैसी देवी हैं वैसे ही शिव हैं। चन्द्र एवं चन्द्रिका की भाँति इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है।[6]

जिस प्रकार प्रभा के बिना भानु नहीं हो सकता और भानु के बिना प्रभा नहीं हो सकती उसी प्रकार शक्ति और परमात्म-शिव की भी परस्परापेक्षा है। परमात्म-शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना परमात्म-शिव नहीं रह सकते।[7] जिस प्रकार चन्द्रिका के बिना चन्द्र

---

1. एवं शिवत्वं शक्तित्वं परमात्मनिदर्शितम्।—शि० पु० कै० सं०—16 : 33
   शिवशक्तिसमायोगः परमात्मेति निश्चितम्॥—वही—16 : 54
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—31 : 22
3. अपरे तु पराशक्तिः शिवस्य समवायिनी। शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०— 29 : 33
4. नहिं शक्तिमतः शक्त्या विप्रयोगोऽस्ति जातुचित्।—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—7 : 21
5. कला या परमा शक्तिः कथिता परमात्मनः।—वही—4 : 29
6. यथा शिवस्तथा देवी यथा देवी तथा शिवः।
   नानयोरन्तरं विद्याच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥—वही—4 : 9
7. वही—4 : 11-12

प्रकाशित नहीं हो सकता, उसी प्रकार विद्यमान भी परमात्म-शिव शक्ति के बिना प्रकाशित नहीं हो सकते।[1] शक्ति के बिना परमात्म-शिव का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। प्राणियों की भक्ति एवं मुक्ति के विषय में परमात्म-शिव शक्ति के द्वारा ही समर्थ होते हैं।[2]

वस्तुतः शक्ति शिव (परमात्म-शिव) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अपितु यह शिव (परमात्म-शिव) ही है। संसार के निर्माण के लिए एक ही सत्ता (परमात्म-शिव) अपने आपको कर्ता एवं कारण दो रूपों में विभक्त कर लेती है। कर्ता एवं कारण के रूप में यह भेद कार्यानुरूप ही कल्पित होता है।[3] यह शक्ति, शिव (परमात्म-शिव) से व्यतिरिक्त नहीं है। तथापि कार्यानुरूप कल्पित भेद को मानकर ही एक ही सत्ता में (परमात्म-शिव) शिव-शक्ति भाव व्यवहृत होता है। एक ही सत्ता के कर्ता एवं कारण उभयविध-रूपों का पृथक रूप से समझाने के लिए ही परमात्म-शिव से शक्ति के प्रादुर्भाव की कल्पना की गयी है।[4]

परमात्म-शिव में नित्य सम्बन्ध से रहने वाली यह शक्ति ही, इच्छा शक्ति, आज्ञाशक्ति,[5] शैवीशक्ति[6], पराशक्ति आदि नामों से अभिहित की जाती है। समस्त कार्यरूप जगत् की मूल प्रकृति होने के कारण इसे मूल प्रकृति[7] भी कहा जाता है।

शक्ति का स्वभाव—परमात्म-शिव की यह शक्ति एक, परा, चिन्मयी एवं शिवसंश्रया कही गयी है।[8] यतः शक्ति एवं परमात्म-शिव में अभेद है, अतः परमात्म-शिव के सम्पूर्ण गुण शक्ति में भी स्वीकार किये जाते हैं। यही कारण है कि शक्ति को परमात्म-शिव की समान

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—4 : 10
2. वही—4 : 13
3. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—29 : 32
4. शि० पु०, रु० सं० सृ० खं०—6 : 19
5. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—31 : 28
6. वही—उ० खं०—18 : 37
7. वही—पू० खं०—29 : 7
8. आद्या सैका परा शक्तिश्चिन्मयी शिवसंश्रया। वही—4 : 13

धर्मिणी कहा गया है।[1] यह शक्ति शैवी, परा, विद्या, दिव्या, पंचार्थसंज्ञिता, (कार्य, कारण, योग, विधि एवं दुखान्तरूपा) तथा पशु-पाश से परे बतलाई गई है।[2] विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह न तो आत्म सम्बन्धिनी है और न तो माया तथा विकार ही हैं, न तो बन्धन है और न मुक्ति ही। यह बन्धन मुक्ति विधायिनी परमात्म-शिव की अव्यभिचारिणी शक्ति सर्वेश्वर्य की पराकाष्ठा है।[3] परमात्म-शिव के तत्तद्भाव इसमें भी वर्तमान रहते हैं।[4]

विश्व-विलक्षणा, परमात्म-शिव की स्वाभाविकी यह शक्ति एक होते हुए भी भानु की अमल प्रभा की भाँति अनेक रूपों से प्रकाशित होती है। अग्नि से चिनगारी की भाँति इससे ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया आदि अनन्त शक्तियाँ नि:सृत होती हैं।[5] वस्तुतः यह ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया रूपा ही है।[6] यथार्थ बात तो यह है कि एक ही शक्ति संसार से निखिल कार्यों का संपादन करती है। तत्तत्कार्यों के अनुरूप ही इस एक परा शक्ति के ही अनेक नाम हो जाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर शिव पुराण में कहा भी गया है कि प्रसवधर्मिणी यह शक्ति परमात्म-शिव की इच्छा से अपने को बहुत प्रकार से विभक्त कर संसार का निर्माण आदि कृत्य करती है।[7]

शक्ति और जगत्—परमात्म-शिव की इच्छा की अनुयायिनी यह परा शक्ति स्थिर एवं चर समग्र संसार का निर्माण करती है।[8] परा शक्ति परमात्म-शिव की इच्छा रूपा ही है। अतः

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—4 : 14
2. वही—31 : 164
3. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—29 : 29
4. वही—29 : 30
5. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—7 : 1, 2
6. वही—7 : 6
7. वही—4 : 15
8. वही—4 : 30

जहाँ पराशक्ति परमात्म-शिव की इच्छा के अनुसार कार्य करती है वहाँ परमात्म-शिव का प्राधान्य प्रदर्शित करना प्रधान उद्देश्य रहता है। परमात्म-शिव के संयोग से संसार का प्रसव करने के कारण शक्ति को माता भी कहा जाता है।[1]

सम्पूर्ण संसार का निर्माण करके यह शक्ति संसार में उसी प्रकार से व्याप्त रहती है जैसे आत्मा से शरीर व्याप्त रहता है। यही कारण है कि सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक संसार शक्तिमय कहा गया है।[2] यह समग्र संसार शक्ति से उत्पन्न होता है और अन्त में जाकर शक्ति में ही विलीन भी हो जाता है।[3]

जिस प्रकार प्रेरित कर्ता 'लूता' (मकड़ी), स्वतंत्रकर्ता, परमात्म-शिव से प्रेरित होकर उपादान कारणभूत अपने शरीर से तन्तुजाल का निर्माण करती है और जाल का कर्ता कारण एवं उपादान कारण-दोनों ही, लूता ही होती है। उसी प्रकार परमात्म-शिव से प्रेरित होकर संसार का निर्माण अथवा विस्तार करने के कारण शक्ति संसार का कर्ता कही गयी है। इस प्रकार यह संसार का स्वतंत्रकर्ता न होकर प्रेरित कर्ता ही है, क्योंकि परमात्म-शिव की प्रेरणा के अनुसार ही यह संसार का निर्माण करती है।[4] इसके अतिरिक्त संसार के निर्माण का आधारभूत पदार्थ शक्ति ही है। शक्ति से ही संसार का विस्तार होता है। अत: यह संसार का उपादान कारण भी है।[5] इस प्रकार शक्ति में जगत् का कर्तृत्व एवं कारणत्व दोनों ही उपपन्न होता है। यही कारण है कि शक्ति को जगत् का कर्ता-कारण एवं उपादान कारण दोनों ही बतलाया गया है।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—4 : 37
2. वही—4 : 28-29
3. वही—31 : 7, 8
4. वही—34 : 16
5. वही—34 : 16

शक्ति पाश-विच्छेदिका

परमात्म-शिव की ही भांति, अपने ही गुणों से निगूढ़ रहने वाली यह शक्ति साक्षात् पशुओं (आत्मा)के पाश की विच्छेदिका बतलाई गई है।[1] जब शक्ति के द्वारा पशुओं (आत्मा) के पाश काट दिये जाते हैं, तभी दिव्य नेत्र वाले पशु, सम्पूर्ण कारणों के भी कारण, शक्तिमान शिव (परमात्म-शिव) को देखने में समर्थ होते हैं।[2] यह शक्ति माया के द्वारा सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड को मोहित करती है और लीलापूर्वक बिना परिश्रम के ही, इसे मुक्त भी करती है।[3]

यद्यपि पशुओं (आत्मा) के पाश को काटने वाले परमात्म-शिव ही हैं, तथापि यह कार्य शक्ति के द्वारा भी सम्पन्न बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि परमात्म शिव-शक्ति के बिना प्राणियों को फल देने में समर्थ नहीं होते हैं।[4] उन्हें पशुओं (आत्मा) के बन्धन को काटने के लिए शक्ति की अपेक्षा होती है। यही कारण है कि परमात्म-शिव की भाँति शक्ति भी पाश-विच्छेदिका कही गयी है। शत्रुओं के हाथ से मातृभूमि की मुक्तिसेना ही करती है, किन्तु सैन्य का संचालन करने के कारण सेना के ही साथ, सेनापति को भी मुक्ति दिलाने का श्रेय दिया जाता है। ठीक यही बात, पाश के विच्छेदन के लिए, परमात्म-शिव एवं शक्ति के विषय में भी चरितार्थ होती है।

यथार्थ बात तो यह है कि शक्ति के बिना शिव (परमात्म-शिव) शवमात्र हैं। वे कुछ भी नहीं कर सकते।[5] शिव पुराण में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्ति की शम्भु (परमात्म-

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—7 : 16
2. वही—7 : 17
3. वही—7 : 9
4. वही—31 : 19
5. अनुग्रहेण मूर्तेन शववत् किं नु साध्यते।
   तस्माच्छक्त्यात्ममूर्तेन सर्वं साध्यं महेशवत्॥—शि० पु०, कै० सं०—22 : 14

शिव) के त्रिनेत्र[1] के रूप में कल्पना कर उक्त बात का ही समर्थन किया है। शक्ति, ज्ञानशक्तिरूपा, क्रियाशक्तिरूपा एवं इच्छाशक्तिरूपा है। नेत्र के बिना पुरुष कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता। वह अन्ध है और उसके द्वारा कोई भी लौकिक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। ठीक यही बात परमात्म-शिव के विषय में भी जाननी चाहिए।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शक्ति

प्रत्यभिज्ञादर्शन, जिसे अद्वैतवादी शैव दर्शन भी कहा जाता है, शिव एवं शक्ति में पूर्ण अभेद मानता है। उसके अनुसार जब शिव सृष्टिकार्योन्मुख होते हैं तब उन्हें शक्ति की संज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् अपने रचनात्मक रूप में शिव ही शक्ति कहे जाते हैं। शक्ति परमात्मा शिव का 'अहं' विमर्श है। शिव की सृष्टि के लिए उन्मुखता ही शक्तिपद वाच्य है (अर्थात् शक्ति है)। ठीक इसी भाव को 'महेश्वरानन्द' जी ने अपनी 'महार्थमंजरी' में बड़ी ही सुन्दरता के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्त्तुं चोन्मुखो भवन्।

शक्ति स्वभाव: कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लास:॥

अर्थात् भगवान् शिव इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूपी त्रिकोण हृदय को आनन्द से पूर्ण करके जब संसार को जानने एवं करने की इच्छा करते हैं तब वे शक्ति कहे जाते हैं।

अद्वैत दर्शन एक ही शक्ति को इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इन तीन नामों से अभिहित करता है, अर्थात् शक्ति को इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूपा मानता है।[2]

---

1. ज्ञानक्रियेच्छारूपं हि शम्भोर्दृष्टित्रयं विदु:।—शि० पु०, कै० सं०—16 : 49
2. इत्थमेकस्या एव पारमेश्वर्या: शक्ते, इच्छा-ज्ञान-क्रियाव्यपदेश:।—स्पन्द, प्रथम निष्पन्द। कारिका पर रामकण्ठाचार्य की विवृत्ति।

शिव पुराण एवं अद्वैत शैव दर्शन दोनों ही शिव एवं शक्ति में पूर्ण अभेद मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि एक ही सत्ता अवस्था एवं कार्य के अनुरूप शिव एवं शक्ति कही जाती है। दोनों ही शक्ति को इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया रूपा मानते हैं और दोनों ही इस संसार की शक्ति प्रचय भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह देखा जाता है कि शिव पुराण एवं अद्वैत दर्शन में शक्ति के विषय में सैद्धान्तिक साम्य है।

द्वैत दर्शन में शक्ति

द्वैतवादी शैव दर्शन शक्ति को परमात्म-शिव से पृथक् नहीं मानता है।[1] वह उसे शिव स्वरूप ही मानता है। उसका मत यह है कि शिव एवं शक्ति में चन्द्र एवं चन्द्रिका की भाँति परस्पर भेद का अभाव है और यही सत्य भी है तथापि धर्मी एवं धर्म में भेद का व्यवहार तो होता ही है और यह व्यवहार भी वास्तविक है। 'शक्ति' शक्तिमान, शिव का एक धर्म ही है।

जिस प्रकार मसूर नामक धान्यविशेष सजातीय अंगुष्ठ से किसी आकार से भिन्न होता है, उसी प्रकार शिव एवं शक्ति में किसी अन्य प्रकार के अन्तर न रहने पर भी धर्मी एवं धर्म की दृष्टि से भेद तो सिद्ध ही है। यहाँ पर सजातीयता के कारण ऐक्य स्वीकार कर ऐसा दृष्टान्त दिया गया है। वस्तुतः अंगुष्ठ एवं मसूर में भेद ही है। इसी प्रकार शिव एवं शक्ति में धर्मी एवं धर्म के रूप में भेद रहने पर भी तादात्म्य सम्बन्ध से कोई भेद नहीं है।[2]

द्वैतवादी शैव दर्शन के अनुसार कुम्भकार आदि जो भी कर्ता हैं, उनमें करण के बिना कर्तृत्व नहीं देखा जाता। इसी प्रकार इस जगत् के कर्ता शिव का भी कोई कारण होना चाहिए।

---

1. स हि देवः समावृत्य स्वशक्त्याऽनन्यभूतया।—रत्न०—119
2. अनन्याऽपि तथा शम्भोर्विभिन्ना शक्तिरिष्यते।
   यथा मसूरा त्वङ्गुष्ठान्नापि भिन्नोक्तहेतुभिः॥—रत्न—300

यह करण शक्त्यात्मक ही है। 'श्री मन्मृगेन्द्र' आगम में भी कहा गया है कि भगवान् शिव का करण शक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है।[1]

शक्ति के विषय में शिव पुराण एवं द्वैतवादी दर्शन में अन्य तात्त्विक समता के रहने पर भी शिव के साथ उसके (शक्ति के) अभेद एवं भेद को लेकर मतभेद है। शिव पुराण परमात्म-शिव एवं शक्ति में अभेद ही मानता है और यदि उसे कहीं भेद का दिखलाना ही होता है तो वह उसे 'अपरे तु' अर्थात् अन्य का मत कहकर उल्लिखित करता है।[2] किन्तु द्वैतवादी शैव दर्शन तो शिव में शक्ति की सत्ता स्वीकार करते हुए दोनों में भेदा-भेद का सिद्धान्त स्वीकार करता है। सबसे अधिक विचित्र बात तो यह है कि 'भानु एवं प्रभा' तथा 'चन्द्र एवं चन्द्रिका' का उदाहरण एक (द्वैतवादी) भेद दिखलाने के लिये उपस्थित करता है तो दूसरा (शिव पुराण) अभेद बतलाने के लिए वस्तुतः शिव पुराण एवं द्वैतवादी शैव दर्शन-दोनों ही-शक्ति को संसार का कारण मानते हैं।

---

1. करणं च न शक्त्यन्यदिति।—श्री मन्मृगेन्द्र, पतिलक्षणपरीक्षा प्रकरण
2. अपरे तु पराशक्तिः शिवस्य समवायिनी।
   प्रभेव भानोश्चितद्रूपा भिन्नैवेति व्यवस्थितिः॥—शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—29 : 34

आत्म-तत्त्व

आत्मा को पशु, पुरुष एवं अक्षर भी कहा गया है।[1]आत्मा और यह सम्पूर्ण संसार पूर्णरूप से परमात्म शिव ही है।[2] जिस समय पर-पुरुष अर्थात् परमात्म-शिव परमैश्वर्य पूर्वक अपने रूप को माया से संकुचित कर अशेष पदार्थों के ग्राहक होते हैं, उस समय उनको आत्मा (पुरुष) कहा जाता है। यही कारण है कि श्रुति भी कहती है । तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्' (उस शरीर को रचकर स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ)। यह संकुचित अतएव पुरुष रूप परमात्म-शिव ही माया से मोहित होकर संसारी (संसार बन्धन में बंधा हुआ) पशु कहलाता है। शिवत्व के ज्ञान से शून्य होने के कारण पशु की बुद्धि नाना कर्मों में आसक्त हो मूढ़ता को प्राप्त होती है।[3]

जब परमात्म-शिव संकुचित होकर आत्मा बन जाते हैं तब उनकी ज्ञान एवं क्रिया आदि शक्तियाँ भी संकुचित होकर किंचिन्मात्र हो जाती हैं। परमात्म-शिव की अपरिमित शक्तियों का संकुचित होकर किंचिन्मात्र रूप में परिणत होना ही पशु अर्थात् आत्मा वर्ग का लक्षण है। परमात्म-शिव की अपरिमित शक्तियों का यह संकोच ही बन्धन कहा जाता है।[4] शक्ति का परिमितत्त्व एवं अपरिमितत्त्व ही आत्मा और परमात्म-शिव के बीच की विभाजक रेखा है। इस विभाजक रेखा की परिसमाप्ति पर आत्मा और परमात्म-शिव में कोई भेद अवशिष्ट नहीं रह जाता।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—31 : 73
2. श्रुतिराह मुने तस्मात् प्रपंचात्मा सदाशिवः।—शि० पु०, कै० सं०—17 : 34
3. अयमेव ही संसारी मायया मोहितः पशुः।
   शिवज्ञानविहीनो हि नानाकर्मविमूढधीः॥—वही—16 : 75
4. वही—16 : 46, 47

आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रमाण

आत्मा प्रत्येक शरीर में स्वतः प्रकाश है। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि 'मैं हूँ'। परन्तु इस 'मैं' के साथ इतने प्रकार के अर्थ जुड़े हुये हैं कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप निश्चय करने के लिये विश्लेषण और तर्क की आवश्यकता है।

इस विषय की विवेचना के लिये एक प्रणाली है, शब्दार्थ का विश्लेषण। 'मैं' कभी-कभी शरीर के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे 'मैं मोटा हूँ।' कभी-कभी 'मैं' का व्यवहार ज्ञानेन्द्रिय के अर्थ में किया जाता है, जैसे 'मैं सोचता हूँ'। कभी-कभी 'मैं' से कर्मेन्द्रिय का बोध होता है—'जैसे मैं लंगड़ा हूँ।'

किन्तु शरीर आदि की आत्मता का खण्डन करते हुए शिव पुराण कहता है कि—बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर से व्यतिरिक्त, विभू, ध्रुव कोई आत्मा है, किन्तु उसके लिए हेतु देना बड़ा ही दुर्गम है।[1] फिर भी इतना तो निश्चय है कि बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीर आत्मा नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्धि का ज्ञान अनियत है और एक अंग में पीड़ा होने पर सम्पूर्ण शरीर में उसका अनुभव नहीं होता। अर्थात् अनियत ज्ञान होने से बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती और एक अंग में व्यथा होने पर सम्पूर्ण शरीर में उसका अनुभव न होने से शरीर एवं इन्द्रियाँ आत्मा नहीं बन सकतीं।[2]

अतः वेदों एवं उपनिषदों में अनुभूत पदार्थों का स्मर्ता, अशेष पदार्थों का ज्ञाता, अन्तर्यामी आत्मा कहा गया है।[3] यह सम्पूर्ण संसार आत्मा में है और शाश्वत यह आत्मा सर्वत्र व्यापत होकर वर्तमान है, तथापि कहीं भी किसी के द्वारा यह (आत्मा) व्यक्तरूप में नहीं देखा

---

1. बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो व्यतिरेको विभुर्ध्रुवम्।
   अस्त्येव कश्चिदात्मेति हेतुस्तत्र सुदुर्गमः॥—शि० पु०, वा० सं०, पु० खं०—5 : 43
2. वही—5 : 44
3. वही—5 : 45

जाता। यह आत्मा न तो चक्षुग्राह्य है और न तो यह (आत्मा) अपर इन्द्रियों का ही विषय हो सकता है। यह महान आत्मा केवल प्रदीप्त मन के द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है।[1] यह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न तो यह कहीं से ऊपर ही रहता है, न तिर्यक् और न नीचे ही। यह चल शरीर में अशरीर, स्थाणु एवं अव्यय रूप से वर्तमान रहता है। धीर पुरुष विचार करने से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर पाते हैं। जो लोग आत्मा को बुद्धि एवं शरीर तथा इन्द्रिय स्वरूप समझते हैं, उनका दर्शन असम्यक् है।[2]

आत्मा का क्षणिक सम्बन्ध

विभिन्न योनियों में भ्रमण करने वाले आत्मा का न तो कोई होता है और न ही यह किसी का है। स्त्री, पुत्र एवं बन्धुओं के साथ आत्मा का उसी प्रकार क्षणिक संगम है जैसे एक पथिक का अन्य पथिक के साथ होता है। यह सम्बन्ध स्थायी नहीं होता। जैसे सागर की लहरियों से दो काष्ठ संगम को पाकर पुनः वियुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार सांसारिक समागम अर्थात् भूत समागम भी अस्थायी है[3]

इस प्रकार विभिन्न योनियों में भ्रमण करता हुआ आत्मा शिव ज्ञान से विहीन और नानाकर्म विमूढधी होकर सुख एवं दुःख का भोग करता है। आत्मा की यह अवस्था तब तक बनी रहती है जब तक कि उसे अपने चैतन्य स्वरूप का बोध नहीं होता।

मल-मायादि पाश एवं आत्मा

अविनाशी[4] यह आत्मा माया से आवृत्त होकर[5] ही असुख को सुख, अनात्मा को

1. शि० पु०, वा० सं०, पु० खं०—5 : 47
2. वही—5 : 50
3. वही—5 : 59
4. वही— 5 : 14, 16
5. वही—5 : 18, 20

आत्मा अर्थात् अपना रूप समझने लगता है। आत्मा का चैतन्य माया से आवृत्त कर लिया जाता है। यही कारण है कि उसे अपने स्वरूप के विषय में भ्रम होता है। मायादि मल अर्थात् आणवमल, मायीयमल एवं कर्ममल आत्मा की सत्य प्रकृति को इस प्रकार आच्छादित कर लेते हैं कि उसे अपने स्वरूप का तब तक ज्ञान नहीं होता जब तक कि उस पर ईश्वर की कृपा न हो जाय। ईश्वर की कृपा होने पर जब आत्मा की मल से विशुद्धि हो जाती है तब वह स्वत: शिवता को प्राप्त कर लेता है।[1]

आत्मा की मल-मायादि के द्वारा आवृत्ति पूर्वजन्मोपत्त कर्म के कारण होती है। कर्म के फल भोग के लिये ही यह आवृत्ति होती है और मल के क्षीण होने पर यह आवृत्ति समाप्त हो जाती है।[2] आत्मा बन्धन (पाश) की अवस्था में कला, विद्या, राग, काल एवं नियति को भोगता हुआ आनन्द का अनुभव करता है।[3] वह अपने अच्छे अथवा बुरे कर्मों के फलों का उपभोग करता हुआ कभी आनन्दित होता है तो कभी दु:खित भी होता है। भोग से कर्म का विनाश होता है। भोग ही अव्यक्त कहा गया है।[4]

आत्मा के साथ मलों का संयोग कब से प्रारम्भ हुआ यह नहीं कहा जा सकता, अर्थात् आत्मा के साथ मल का संयोग अनादि है, किन्तु आत्मा की मुक्ति के साथ इस संयोग का विनाश अवश्य होता है।[5] भावातिशय (ईश्वर की प्रेमाधिक्य) से प्राप्त परमात्म-शिव के प्रसाद से ही मलक्षय होता है।

जिस प्रकार परमात्म-शिव स्वभावत: विमल हैं, उसी प्रकार जीव संज्ञा वाले आत्मा

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—5 : 28
2. वही—5 : 22
3. वही—5 : 25
4. भोग: कर्म विनाशाय भोगमव्यक्तमुच्यते।—वही—5 : 27
5. अनादिमल भोगान्तमज्ञानात्मसमाश्रयम्॥—वही—5 : 26

स्वभावत: मलिन हैं। इस स्वाभाविक मलिनता के कारण ही आत्मा जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में घूमा करते हैं। आत्मा के साथ कर्म एवं माया का संयोग संसार कहा गया है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि जन्म एवं पुनर्जन्म धारण करना ही संसार है।[1] परमात्म-शिव और आत्मा के बीच विभाजक रेखा अंकित करते हुए कहा गया है कि परमात्म शिव किसी प्रकार के कर्म से सम्बद्ध नहीं है। वे पूर्णतया निर्मल हैं। यही कारण है कि वे स्थावर जंगमात्मक विश्व के विकास संचालक (हेतु) हैं। आत्मा की अपवित्रता (मल) स्वाभाविक अर्थात् निज है न कि आगन्तुक।[2] यदि यह आगन्तुक होता तो किसी को भी किसी भी कारण से बन्धन प्राप्त हो जाता।

आत्मा की मलकृति विभिन्न श्रेणियाँ

यद्यपि सभी आत्मा में आत्मता समान रूप से वर्तमान रहती है तथापि उनकी (आत्मा की) वृद्धावस्था एवं मुक्तावस्था को लेकर उनमें परस्पर भेद का व्यवहार किया जाता है। वृद्ध जीवों में भी कुछ लोग लय और भोग के अधिकार के अनुसार उत्कृष्ट और निकृष्ट होकर ज्ञान और ऐश्वर्य आदि की विषमता को प्राप्त होते हैं अर्थात् कुछ लोग अधिक ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त होते हैं तथा कुछ लोग कम।[3] कोई मूर्त्यात्मा होते हैं और कोई साक्षात् परमात्म-शिव के समीप विचरण करने वाले होते हैं। मूर्त्यात्मा में कोई तो परमात्म-शिव स्वरूप हो षट् अध्वा के ऊपर स्थित होते हैं। कोई अध्वाओं के मध्यमार्ग में महेश्वर होकर रहते हैं और कोई अध्यवाओं के निम्न भाग में रुद्ररूप में स्थित होते हैं। परमात्म-शिव के समीपवर्ती स्वरूप में भी माया से परे होने के कारण उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट भेद से तीन

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—31 : 59
2. वही—31 : 60
3. वही—31 : 61

श्रेणियाँ होती हैं—वहाँ निम्नस्थान में आत्मा की स्थिति है, मध्यम स्थान में अन्तरात्मा की स्थिति है और जो सब से उत्कृष्ट श्रेणी का स्थान है, उसमें परमात्मा की स्थिति है। ये ही क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कहलाते हैं। इस प्रकार कोई जीव (आत्मा) परमात्मपद का आश्रय लेने वाले होते हैँ, कोई अन्तरात्मपद पर और आत्मपद पर प्रतिष्ठित होते हैं।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि वृद्धावस्था में स्थित आत्मा अपनी विभिन्न विकास की अवस्थाओं के आधार पर विभिन्न रूप से ज्ञान और शक्ति को धारण करते हैं।

आत्मा के साथ सम्बद्ध मल भी 'आम' और 'पक्व' द्विविध होता है। मल के 'आम' रहने पर आत्मा की अधरता रहती है और क्रमशः पक्व होने पर उसकी (आत्मा की) उत्तरता होती है।[1] मल के त्रिविध भेद हैं—आणवमल, मायीयमल, कार्ममल के कारण आत्मा भी त्रिविध-एकमलात्मक, द्विमलात्मक एवं त्रिमलात्मक हो जाते हैं। इनमें एकमल वाले श्रेष्ठ, द्विमल वाले मध्यम और त्रिमल वाले अधम कहे गये हैं। त्रिमल एवं द्विमल आत्मा क्रमशः द्विमल एवं एकमल वाले आत्मा से अधिष्ठित होते हैं।[2] इस प्रकार विश्व का औपाधिक भेद कल्पित किया गया है।[3] स्पष्ट ही यह सब भेद मल के कारण कल्पित किया जाता है।

ब्रह्मादि स्थावरान्त आत्मा है

शैव दर्शन में परमात्म-शिव को इतनी अधिक महत्ता प्रदान की जाती है कि उनके (परमात्म-शिव के) अतिरिक्त और सब देवों को, चाहे लोक या साहित्य में उन्हें बड़ा से बड़ा स्थान क्यों न उपलब्ध हो, पशु (आत्मा) ही कहा गया है।[4] शैव दर्शन की अपनी यह

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०,31 : 72
2. वही—31 : 73
3. इत्थमौपाविको भेदो विश्वस्य परिकल्पितः।—वही—31 : 74
4. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—2 : 11

विशिष्टता है कि वह संसार के सभी पदार्थों को, चाहे वे स्थावर हों अथवा जंगम, आत्मा (पशु) मानता है। विद्वानों का मत है कि यह आत्मा (जीव) शिव की विविध लीलाओं का साधन है। अज्ञ और अपने सुख एवं दु:ख के विषय में अनीश यह आत्मा (जन्तु) ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरक हो जाता है।[1]

आत्मा के विकास में उसके स्वभाव का महत्त्व

यद्यपि इस संसार का चिदचिदात्मक सब कुछ परमात्म-शिव के द्वारा हित में नियुक्त किया जाता है, किन्तु वैशिष्ट्य यह है कि अपने-अपने स्वभाव की प्रतिबन्धकता के कारण सभी एक साथ हित को नहीं प्राप्त करते हैं।[2] जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के द्वारा कमलों को एक साथ विकसित होने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु अपने-अपने स्वभाव के अनुरोध के कारण सभी कमल एक साथ नहीं विकसित होते, उसी प्रकार शिव के द्वारा हित में लगाये जाने पर भी सभी आत्मा उसमें नहीं संलग्न होते। इससे यह प्रमाणित होता है कि पदार्थों का स्वभाव भी भावी अर्थ का कारण होता है।[3] जिस प्रकार अग्नि संयोग अंगार को द्रवित न कर केवल सुवर्णमात्र को ही द्रवित करता है, उसी प्रकार परमात्म-शिव की कृपा भी उन्हीं पशुओं (आत्मा) पर प्रभाव कारिणी ही मुक्त करती है, जिनके मल का परिपाक हो चुका होता है और जो आत्मा अभी पक्वमल नहीं हुए होते उनकी मुक्ति नहीं होती। वस्तुओं के विकास के क्षेत्र में उनकी (वस्तुओं की) स्वाभाविक प्रकृति मुख्य प्रतिबन्धक का कार्य करती है। यदि कोई वस्तु स्वभावत: अवस्थान्तर को प्राप्त कराई जा सकती है तभी परमात्म-शिव की इच्छा भी उसे अवस्थान्तरित करा सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ईश्वरेच्छा तभी प्रभावकारिणी होती है जब वस्तु की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी उसका सहयोग करे।

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—5 : 63
2. वही—31 : 54
3. वही—31 : 54

ऊपर के विवरण से यह प्रश्न उठने का अवसर ही नहीं रहता कि सब कुछ करने में समर्थ परमात्म-शिव बिना दु:ख दिये भी जब पशुओं को मुक्त करने में समर्थ हैं तब क्यों उनको दु:ख की अवस्था से जाने को बाध्य करते हैं।[1] यह सम्पूर्ण संसार दु:ख ही है। ऐसी अवस्था में दु:ख कैसे अदु:ख किया जा सकता है, क्योंकि स्वभाव नहीं बदला जाता है। वस्तु की स्वाभाविक अवस्था अथवा स्वभाव के द्वारा परमात्म-शिव की अनन्त शक्तिमत्ता सीमित कर दी जाती है और उसी के अनुसार परमात्म-शिव की इच्छा भी कार्य करती है। मल स्वभावत: मोहात्मक एवं दु:खात्मक होते हैं, ऐसी अवस्था में उन्हें दु:ख रहित करना सम्भव नहीं है। अत: पूर्णरूप से मल से मुक्ति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा दु:ख भोगता हुआ संसार, जन्म एवं पुनर्जन्म के क्रम से अवश्य ही यात्रा करे। जिस प्रकार रोगी वैद्य की इच्छा मात्र से नीरोग नहीं हो जाता, अपितु वैद्य रोगार्त को भेषज से ठीक करता है, उसी प्रकार स्वभावत: मलिन एवं स्वभावत: दु:खी आत्मा को परमात्म-शिव अपने औषध-विधान के द्वारा दु:खों से मुक्त करते हैं। इस संसार रोग की औषध एकमात्र ज्ञान ही है।[2] यह आत्मा और ब्रह्म (शिव) के अभेदबोध स्वरूप होता है। जब आत्मा को परमात्म-शिव के साथ अपने अभेद रूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसका संसार रोग भी समाप्त हो जाता है।[3] यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि संसार के कारण एवं संसार रूपी रोग के वैद्य परमात्म-शिव ही रोग के भी कारण हैं, क्योंकि रोग (दु:ख) तो स्वभावसिद्ध है, ऐसी अवस्था में किसी को उसका कारण होने की आवश्यकता नहीं है। पुरुषों (आत्मा) का मल स्वाभाविक है और यह मल ही उनको (पुरुषों को) संसार में भ्रमण कराता है।[4]

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—31 : 82
2. वही—31 : 81
3. शि० पु०, रू० सं०, स० खं०—23 : 13
4. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं, 31 : 87

अन्य-तत्त्व

1. सदाशिव-तत्त्व

शक्ति (बिन्दु) से सदाशिव तत्त्व की उत्पत्ति बतलाई गयी है।[1] इनमें क्रियाशक्ति की वर्तमानता रहने पर भी ज्ञानशक्ति की प्रबलता रहती है।[2] सदाशिव तत्त्व को परमात्म-शिव की मूर्ति कहा गया है।[3] शिव पुराण 'सदाशिव' तत्त्व से ही संसार का प्रारम्भ मानता है। जागतिक परिधि सदाशिव तत्त्व से प्रारम्भ कर भूमि पर्यन्त मानी गयी है।[4]

काश्मीर शैव दर्शन और सदाशिव तत्त्व—

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार सदाशिव तत्त्व परम शिव के 'इदम्' (संसार) अंश को स्वीकार करने वाली इच्छा ही है। इसमें इच्छा की प्रधानता रहती है। इस अवस्था का अनुभव होता है 'मैं हूँ', यत: 'हूँ' (अस्तित्व) ऐसा अनुभव इस अवस्था में दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया जाता है, यही कारण है कि यह सदाख्य तत्त्व के नाम से भी जाना जाता है, (सत् माने होना) किन्तु 'हूँ' (सत्ता अथवा अस्तित्व) को 'इदम' की अपेक्षा रहती है, (मैं हूँ, किन्तु क्या हूँ? मैं हूँ यह संसार)। यही कारण है कि इस अवस्था का अनुभव होता है कि 'मैं यह (संसार) हूँ., किन्तु यह 'इदम्' का अनुभव अस्फुट ही रहता है। अब भी 'अहम्' (ब्रह्म) की ही प्रधानता रहती है। चैतन्य की गम्भीरता से एक अविस्पष्ट विचार सम्बन्धी सांसारिक अनुभूति होती है।

परमात्म-शिव एवं शक्ति तत्व में 'अहम्' अंश (ब्रह्मांश) का ही एकमात्र भान होता है, किन्तु सदाशिव तत्त्व में दोनों अंशों (अहन्ता एवं इदन्ता) का भान होता है तथापि 'इदम्'

---

1. नादाद्विनि:सृतो बिन्दुर्बिन्दोर्देव: सदाशिव:।—शि० पु०, वा० सं०, पु० खं०—4 : 20
2. ज्ञानक्रियाशक्तियुग्में ज्ञानाधिक्ये सदाशिव:।—वही कै० सं०—16 : 71
3. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—3 : 1, 3
4. सदाशिवादिकीटान्तरूपस्य जगत: स्थिति:।—शि० पु०, कै० सं०—16 : 4

अंश अस्फुट तथा 'अहम्' अंश प्रबल रहता है। इस अवस्था में 'इदम्' अथवा 'संसार' उसी प्रकार अस्पष्ट रहता है, जैसे कि एक कलाकार अपनी प्रारम्भिक रचना के किसी चित्र की एक अस्पष्ट कल्पना अपने मन में रखता है।

शिव पुराण एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन दोनों ही सदाशिव तत्त्व को, तत्त्वों के क्रम में, तृतीय स्थानीय मानते हैं। अत: दोनों की दृष्टि में इसका प्रादुर्भाव शक्ति-तत्त्व से होता है। शिव पुराण के अनुसार सदाशिव तत्त्व में ज्ञान-शक्ति की प्रबलता मानी गयी है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा के अनुसार इस तत्त्व में इच्छा की प्रधानता रहती है। परन्तु सदाशिव की शक्ति के विषय में दोनों शिव पुराण एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन में वैमत्य रहने पर भी उद्देश्य में कुछ भी अन्तर नहीं है। शिव पुराण सदाशिव तत्त्व में ज्ञानशक्ति की प्रबलता मानकर संसारांश के ज्ञान की सत्ता, चाहे वह अस्पष्ट रूप में ही क्यों न हो, उनमें (सदाशिव तत्त्व में) स्वीकार करता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी सदाशिव तत्त्व मानता है। इस प्रकार उद्देश्य में कुछ भी उल्लेखनीय अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों शिव पुराण एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन सदाशिव में उक्त शक्तियों को मानकर संसारांश की ओर ही बढ़ते हैं।

2. ईश्वर-तत्त्व

सदाशिव तत्त्व से महेश्वर, जिसे ईश्वर तत्त्व भी कहा जाता है, का प्रकाशन होता है।[1] यह चतुर्थ तत्त्व के रूप में परिगणित है।[2] इसकी उत्पत्ति सदाशिव के सहस्रांश से बतलाई गयी है। इन्हें वायु का अधिपति कहा जाता है।[3] इनके वामभाग में 'माया' नामक शक्ति सर्वदा वर्तमान रहती है अर्थात् इनकी शक्ति का नाम 'माया' है। इनमें क्रियाशक्ति (जगदंश) का

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—4 : 20
2. वही—4 : 18-20
3. शि० पु०, कै० सं०—15 : 3

प्राबल्य रहता है।[1] ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति की सहकारिणी होकर इनमें वर्तमान रहती है।

प्रत्यभिज्ञा एवं ईश्वर-तत्त्व—

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार अन्तिम सत्ता के विकास क्रम में 'इदम' (संसार) अंश कुछ अधिक स्फुट हो जाता है।[2] यहाँ पर यह स्पष्ट रूप से संसार का उन्मेष हो उठता है। इस अवस्था में निर्मित होने वाले जगत् की एक अस्पष्ट धारणा बन चुकी होती है। 'राजानक आनन्द' अपने 'षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोहविवरण' में कहते हैं कि 'अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः।'' इस अवस्था में संसार स्पष्ट रूप से भासित होने लगता है, यही कारण है कि इस तत्त्व में ज्ञानशक्ति प्रबल हो उठती है।

अन्य तात्विक साम्य के रहने पर भी शिव पुराण तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन 'ईश्वर तत्व' में किस शक्ति की प्रबलता रहती है, इस विषय में वैषम्य रखते हैं। शिव पुराण के अनुसार इसमें क्रियाशक्ति प्रबल रहती है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा के अनुसार इसमें ज्ञानशक्ति की ही प्रधानता रहती है। किन्तु इस वैषम्य के रहने पर भी दृष्टिकोण में कुछ भी अन्तर नहीं है, क्योंकि शिव पुराण इस तत्त्व में क्रियाशक्ति की प्रबलता मानकर इसमें जगदंश को कार्यान्वित अर्थात् प्रबल बतलाना चाहता है जबकि प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी इसमें ज्ञानशक्ति स्वीकार कर सांसारिक अंश को स्पष्ट रूप से भासित बतलाना चाहता है। इस प्रकार दोनों के सिद्धान्त में अन्तर होने पर भी उद्देश्य में साम्य है।

---

1. शि० पु०, कै० सं०—15 : 4
2. ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक विश्वं ग्राह्यम्—प्रत्यभिज्ञा० तृतीय सूत्र की व्याख्या

3. सद्विद्या अथवा शुद्धविद्या तत्त्व

शुद्ध विद्या का प्रादुर्भाव ईश्वरतत्त्व से होता है।[1] इस तत्त्व में ज्ञान एवं क्रिया नामक दोनों ही शक्तियाँ समान रूप से प्रबल रहती है।[2] तत्त्वों के क्रम में इसका पंचम स्थान है। इस तत्त्व से सम्बद्ध प्राणी सर्वज्ञ हुआ करते हैं। आत्मा की सर्वज्ञता सर्वप्रथम यही प्रकाशित होती है, यही कारण है कि यह शुद्ध-विद्यातत्त्व के नाम से अभिहित की जाती है। अथवा इस श्रेणी पर पहुँच कर पदार्थों का यथार्थ सम्बन्ध अनुभूत, इस कारण से इसे शुद्ध विद्या के नाम से जानते हैं।

द्वैतदर्शन और शुद्धविद्या —

द्वैतवादी शैवदर्शन के अनुसार शुद्ध विद्यातत्त्व में ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है।[3]

अद्वैत दर्शन और शुद्ध विद्या—

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार शुद्ध-विद्यातत्त्व में क्रियाशक्ति की प्रधानता रहती है।[4] इस दर्शन के अनुसार इस तत्त्व में अनुभव के 'इदम्' एवं 'अहम्' ये दोनों ही अंश 'समधृत तुलान्याय' से समान रूप से स्फुट होकर रहते हैं।[5]

शुद्ध विद्या तत्त्व में किस शक्ति की प्रधानता मानी जाय इस विषय में पुराण तथा अद्वैत अथवा द्वैत दर्शन में परस्पर ऐकमत्य नहीं है। तीनों तीन दृष्टिकोण रखते हैं। किन्तु इस तत्त्व में क्रियाशक्ति की प्रधानता स्वीकार करते हुये भी अद्वैत दर्शन यह मानता है कि इसमें अनुभव के 'इदम्' एवं 'अहम्' दोनों ही अंश समान रूप से स्फुट होकर रहते हैं। इसी बात का समर्थन

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—4 : 20
2. वही कै० सं०—16 : 72
3. तत्व प्रकाशिका, 30
4. 'प्रत्यभिज्ञा हृदय' की 'जयदेव सिह कृत प्रस्तावना'
5. वही—

शिव पुराण में भी होता है, क्योंकि वह इस तत्त्व में ज्ञान एवं क्रिया अर्थात् ब्रह्मज्ञान (अहम्) तथा जगदंश (इदम्) को समान रूप से स्वीकार करता है।

4. माया और पंचकचुक

शुद्ध-विद्यातत्त्व के अनन्तर माया तत्त्व को परिगणित किया जाता है।[1] इसे महेश्वर (ईश्वरतत्त्व) की शक्ति कहा गया है। माया अनन्त के संयोग से काल, नियति, कला, विद्या की सृष्टि करती है और पुनः कला से राग और पुरुष का प्रादुर्भाव होता है।[2] किन्तु कैलाश संहिता के त्रयोदश अध्याय में माया से ही काल, राग, कला, विद्या एवं नियति के प्रादूर्भाव की बात कही गयी है।[3] इन्हीं को पंचकंचुक भी कहते हैं।[4] परमात्म-शिव की सत्य प्रकृति पर आवरण डालने के कारण इन्हें कंचुक कहा जाता है।[5] यह माया ही पुरुष (पशु अथवा आत्मा) के ऊपर एक आवरण डाल देती है, जिसके प्रभाव के कारण वह अपनी वास्तविक प्रकृति को विस्मृत हो जाता है। इस प्रकार माया वैभिन्य की भावना उत्पन्न करती है।[6]

'माया' शब्द 'माङ्माने' धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ होता है—किसी वस्तु को परिच्छिन्न करना। यह अनुभव को संकुचित बनाती है और ब्रह्मांश को संसार से और संसार से ब्रह्मांश को अलग करती है। सद्विद्या तक अनुभव सार्वभौम होता है, वहाँ समग्र संसार समवेत रूप से भासित होता है, किन्तु माया के कार्य-क्षेत्र के भीतर संसार की समवेत रूप से अनुभूति न होकर व्यस्त रूप से अनुभूति होती है। एक-एक वस्तुयें अलग-अलग प्रतिभासित

---

1. शि० पु०, कै० सं०—16 : 73
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—4 : 22
3. शि० पु०, कै० सं०, 13 : 28, 29
4. एतत्पंचकमेवास्य पंचकंचुकमुच्यते।—वही—13 : 30
5. एतत्पंचकमेवास्य स्वरूपावारकत्वतः।
   पंचकंचुकमाख्यातमन्तरङ्गं च साधनम्॥—वही—16 : 84
6. स्वांगरुपेषु भावेषु मायातत्त्वविभेदधीः।—वही 16 : 79

होती हैं। यही से संकोच प्रारम्भ होता है। आत्मा के ऊपर माया एक आवरण डाल देती है, जिसके प्रभाव के कारण वह अपनी वास्तविक प्रकृति को विस्मृत हो जाता है। शिव पुराण माया को बन्धन (पाश) का एक भेद मानता है।

पंचकंचुक और उनके कार्य —

1. **कला**—यह परमात्म-शिव की सर्वकारिता (सर्वकर्तृत्व) को संकुचित कर किंचित्कर्तृत्व के रूप में परिवर्तित कर देती है। इसके कारण परमात्म-शिव का सामर्थ्य संकुचित हो जाता है।

2. **विद्या**—यह परमात्म-शिव की सर्वज्ञता को संकुचित कर उसे स्वल्पज्ञता में रूपान्तरित कर देती है।

3. **राग**—यह परमात्म-शिव की पूर्णत्वरूपा शक्ति को संकुचित कर उसमें किसी वस्तु की इच्छा को उत्पन्न करती है।

4. **काल**—यह परमात्म-शिव की नित्यता को कम करता है और उन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य में 'काल' की परिधि में ले आता है।

5. **नियति**—यह परमात्म-शिव की व्यापकता को अवच्छिन्न करती है। यह मेरा कर्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है, इस बात की नियामिका शक्ति 'नियति' कही गयी है।[1]

पुरुष—

परमात्म-शिव अपने आप को माया का विषय बनाते हुये उसके पंचकंचुक को धारण कर पुरुष (पशु अथवा आत्मा) बन जाते हैं। पुरुष को पशु भी कहा जाता है।

प्रकृति—

माया का द्विधा परिणाम होता है—(1) पंचकंचुक (2) प्रकृति। प्रकृति त्रिगुणात्मक एवं माया का कार्य कही गयी है।[2] इस प्रकृति को तत्व-चिन्तकों (सांख्यमतानुयायियों) ने संसार

---

1. शि० पु०, कै० सं०—16 : 78 -83
2. मायातः पुनरेवाभूदव्यक्तं त्रिगुणात्मकम्।—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—4 : 23

का कारण बतलाया है। उनके अनुसार यह समग्र संसार अन्त में उसी में जाकर लीन भी होता है। वे इसे अव्यक्त कारण, त्रिगुण, प्रधान आदि नामों से भी जानते हैं।[1] यह प्रकृति अपने आपको सुख, दुःख एवं विमोह के रूप में प्रकट करती है। प्रकृति के स्वयं के प्रकाशन का जो ढंग है उसे कला कहते हैं।[2] सत्व , रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न कहे गये हैं।[3] त्रिगुण, प्रकृति में, सूक्ष्म रूप से उसी प्रकार स्थित रहते हैं, जिस प्रकार तिल में तेल अव्यक्त रूप से स्थित रहता है। शिव पुराण के प्रकृति विषयक विवरण से उसकी एकता निश्चित होती है।[4]

सांख्य की दृष्टि में प्रकृति—

सांख्य प्रकृति को हेतुरहित, नित्य, व्यापी, अक्रिय अर्थात् व्यापक होने के कारण संसरण रहित, एक, अनाश्रित एवं निरवयव अर्थात् शब्द, स्पर्श आदि से रहित, त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मी मानता है।[5] सांख्य के अनुसार त्रिगुण की साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम बुद्धि कही गयी हे। सम्पूर्ण संसार इसी प्रकृति से उत्पन्न एवं अन्त में इसी में विलीन भी हो जाता है।

शिव पुराण तत्त्वों के विषय में अवश्य ही सांख्य से पर्याप्त प्रभावित हुआ है। इस बात की सूचना उसने प्रकृति के वर्णन के अवसर पर 'यदाहुस्तत्त्वचिन्तकाः' कह कर दी है। इतना होते हुये भी उसने यथावसर अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है। सांख्य प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानता है और उसका प्रथम परिणाम बुद्धि को स्वीकार करता है। किन्तु शिव

---

1. अव्यक्तं कारणं यत्तत् त्रिगुणं प्रभवाप्ययम्।
   प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुस्तत्वचिन्तकाः।—शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—5 : 32
2. वही—5 : 33
3. वही—5 : 34
4. वही—32 : 31
5. सांख्याकारिका 10, 11

पुराण प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानते हुए उससे तीनों गुणों की उत्पत्ति भी बतलाता है। स्पष्ट ही यह एक बिल्कुल नया सिद्धान्त है। इस सिद्धानत की उपलब्धि अति प्राचीन सांख्य शास्त्र में भी नहीं होती। यह सिद्धान्त सांख्य से एकदम भिन्न है। इसके अतिरिक्त सांख्य प्रकृति को हेतुरहित अतएव नित्य तथा अनाश्रित भी मानता है। अत: यह अनित्य तथा आश्रित भी है। ये कुछ नये सिद्धान्त शिव पुराण के अपने हैं। इनके अतिरिक्त शेष बातों में दोनों में साम्य है।

द्वैतवादी शैव दर्शन और प्रकृति—

द्वैतवादी शैव दर्शन प्रकति को त्रिगुण का कारण मानता है। वह 'त्रिगुण' की साम्यावस्था ही प्रकृति है। सांख्य के इस सिद्धान्त का खण्डन करता है। अपने पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए शैव दर्शन कहता है कि—वे सभी वस्तुयें, जो अचेतन और अधिक हैं, अवश्य ही अपना एक कारण रखती हैं। उदाहरण के रूप में हम अपना सामान्य अनुभव ही रखते हैं। गुण अचेतन और अधिक है, अत: उनका अवश्य कोई कारण होना चाहिए। इनका जो कारण है वह प्रधान के नाम से जाना जाता है।

जहाँ तक सांख्य के सिद्धान्त का खण्डन कर प्रकृति से त्रिगुणों की उत्पत्ति का प्रश्न है शिव पुराण एवं द्वैतवादी शैव दर्शन में पूर्ण साम्य है। दोनों ही प्रकृति को 'अनभिव्यक्तलक्षण तथा उससे त्रिगुणों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह देखा जाता है कि जो दार्शनिक सिद्धान्त अति प्राचीन काल से शिव पुराण में बीज रूप में स्थित थे उन्हीं का विकास परवर्ती दार्शनिकों ने किया है।

शिव पुराण तथा शैव दर्शन प्रकृति से त्रिगुण की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसी अवस्था में तत्वों की संख्या षट्त्रिंशत (36), जो शिव पुराणादि को सम्मत है।[1] नहीं निश्चित की जा

---

1. शिवतत्त्वादिभूम्यन्तं तत्त्वाध्वा समुदाहृत:।
षड्विंश (त्रिंश) संख्ययोपेत: शुद्धाशुद्धोभयात्मक:।—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—17 : 4

सकती। यह सप्तत्रिंशत् तक पहुँच जायेगी। शिव पुराण एवं शैव दर्शन, सांख्य की भाँति, बुद्धि से लेकर पृथ्वी पर्यन्त त्रिविंशति (23) तत्त्व[1] मानते हैं। इस प्रकार शैव सम्प्रदाय यह मानता हे कि शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त षटत्रिंशत् तत्त्व हैं। वस्तुतः सांख्य की पंचविशति-तत्त्व कल्पना अति प्राचीन है। बाद के सभी तत्त्व चिन्तकों ने उसका अनुसरण किया है। स्वयं शिव पुराण सांख्य से पर्याप्त प्रभावित है। तत्त्वों की इस संख्या सम्बन्धिनी अनुपपत्ति को कार्य एवं कारण में अभेद विवक्षा मानकर समाहित किया जाता है। इसी बात का समर्थन द्वैतवादी शैवदर्शन भी करता है।

5. बुद्धि आदि त्रिविंशति तत्त्व

बुद्धि की उत्पत्ति के विषय में शिव पुराण एकमत नहीं रखता। वह कभी इसकी उत्पत्ति गुणों से बतलाता है[2] तो कभी इसे प्रकृति का परिणाम कहता है।[3] किन्तु सिद्धान्ततः इसका द्वितीय पक्ष ही प्रबल निश्चित होता है, क्योंकि उसका भी उल्लेख कई बार हुआ है।[4] इसके साथ ही सांख्य की तत्त्व कल्पना अत्यधिक प्राचीन होने के कारण दार्शनिकों के द्वारा यथावत् ग्रहण कर ली गयी है। उसमें कुछ परिवर्तन दिखलाना उत्साही दार्शनिकों का ही प्रयत्न था, जो अपने दर्शन में कुछ नवीनता प्रदर्शित करना चाहते थे। उनका यह प्रयत्न अहङ्कार के विषय में भी देखा जाता है। अहङ्कार को बुद्धि से समुद्भूत त्रिविध गुणों का भी परिणाम कहा गया है। दार्शनिकों का यह प्रयत्न त्रिविध अहङ्कार को देखकर ही किया गया है। किन्तु शिव पुराण के अधिक स्थल बुद्धि से ही अहङ्कार की उत्पत्ति बतलाते हैं।

वस्तुतः शिव पुराण में सांख्य की तत्त्व कल्पना को यथावत् स्वीकार करने पर भी

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पु० खं०—32 : 31
2. गुणेभ्यो बुद्धिरुत्पन्ना वस्तुनिश्चयकारिणो।—शि० पु०, कै० सं०—17 : 9
3. प्रधानात् प्रथमं जज्ञे बुद्धिः ख्यातिर्मतिर्महान्।—वही—वा० सं०, पू० खं०—10 : 13
4. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—1 : 6, 43

प्रकृति से त्रिगुणों की उत्पत्ति के अतिरिक्त बुद्धि एवं अहङ्कार के विषय में दो प्रकार के विचार इसमें उपलब्ध होते हैं। एक तो अविकल रूप में सांख्य सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, जो यथार्थ एवं न्याय संगत प्रतीत होता है, दूसरा कुछ परिवर्तित सिद्धान्त, उत्साही दार्शनिकों का कार्य है।

6. षट्विंश तत्त्वों का वर्गीकरण

शिव पुराण शिव तत्त्व से लेकर भूमि पर्यन्त के षट्त्रिंशत् तत्त्वों को (जगत् को) तीन श्रेणियों में विभक्त करता है—शुद्ध, शुद्धाशुद्ध एवं अशुद्ध[1]। किन्तु वह स्पष्ट रूप से यह निर्णय नहीं करता कि कौन-कौन से तत्त्व किस-किस श्रेणी से सम्बद्ध हैं। तथापि इतना निश्चित है कि शिवतत्त्व (परमात्म-शिव) शक्तितत्त्व, सदाशिव तत्त्व, ईश्वरतत्त्व, शुद्धविद्यातत्त्व—ये पाँच तत्त्व शुद्धाध्वा के अन्तर्गत माने गये हैं, क्योंकि शुद्ध विद्या तक के तत्त्वों में दैवी सम्पत्ति पूर्ण सुरक्षित एवं निष्कलुष बनी रहती है, सांसारिक वातावरण उसे दूषित नहीं करता। माया, माया के कार्यभूत पंचकंचुक (कला, विद्या, राग, काल, नियति) तथा पुरुष—ये सात शुद्धाशुद्धाध्वा के अभ्यन्तर कहे गये हैं, क्योंकि इस श्रेणी में माया के द्वारा शिव के अंशभूत पदार्थों में भेद की बुद्धि उत्पन्न करने तथा दैवी सम्पत्ति के संकुचित तथा सांसारिक वातावरण से कलुषित होने पर भी दैवी सम्पत्ति, चाहे वह क्षीण ही क्यों न हो बनी रहती है। पुरुष, पंचकंचुक तथा माया अन्य कुछ न होकर संकुचित हुये परमात्म-शिव तथा संकुचित हुई उनकी शक्तियाँ ही हैं। शुद्धाशुद्धध्वा दैवी सम्पत्ति तथा भौतिक वातावरण का संगमस्थल है यही कारण है कि यह अध्वा शुद्धाशुद्ध माना जाता है। इनके अतिरिक्त प्रकृत्यादि पृथिव्यन्त तत्त्व अशुद्धाध्वा के भीतर माने गये हैं। इन तत्त्वों के अशुद्ध कहे जाने का कारण यह है कि ये पूर्ण रूप से दैवी सम्पत्ति से रहित भौतिक पदार्थ हैं। ये ही आत्मा (पशु) के भोग्य कहे गये हैं।[2] ये पूर्ण रूप से जड़ तथा

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—17 : 4
2. प्रकृतिस्थः पुमानेष भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।—शि० पु०, कै० सं०—17 : 6

मलिन हैं।

यहाँ सर्वाधिक विलक्षण बात यह है कि षट्त्रिंशतत्त्वों के प्रतिपादक स्वयं शिव पुराण में ही एक स्थल पर एकपंचाशत् (51) तत्त्वों का परिगणन किया गया है। इन तत्त्वों में, पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रायें, पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), सात त्वगादि धातु (त्वक्, असृग्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र), पाँच वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान), मन, बुद्धि, अहंकार, त्रिविध गुण, प्रकृति पुरुष, राग, विद्या, कला, नियति, काल, माया, शुद्ध विद्या, महेश्वर, सदाशिव, शक्ति तथा शिव तत्त्व के नाम गिनाये गये हैं।[1]

सात त्वगादि धातुओं एवं पाँच प्राणों को भी तत्त्वों में परिगणित करने का सिद्धान्त निश्चय ही शिव पुराण के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। यह शिव पुराण का अपना नया सिद्धान्त है।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पु० खं०—33 : 12-15

पाश (बन्धन) और मुक्ति

पाश—

शिव पुराण अपने दार्शनिक विवेचन में पति, पशु, (आत्मा), एवं पाश पर विशेष बल देता है। उसके अनुसार, प्रत्येक सुखार्थी पुरुष को पति, पशु एवं पाश पर उत्कृष्ट निष्ठा करनी चाहिए।[1] यह पाश ही की प्रभुता है कि शुद्ध निरंजन, आत्मा अपने को देह आदि मानता हुआ एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमण करता हुआ फिरता रहता है।

मल एवं पाश समान अर्थ के वाचक हैं।[2] पाश का अर्थ होता है बन्धन।[3] पाश (मल) प्रधानतया तीन प्रकार का माना गया है—आणव, मायीय एवं कार्म।

आणवमल—

आत्मा 'अणु' भी कहा जाता है।[4] पूर्णत्व के अभाव के कारण परिमित हो जाने से ही आत्मा को अणु कहा गया है। आत्मा के द्वारा अपने आप में पूर्णत्व का अभाव माना जाना आणवमल कहा जाता है। पशुपति शिव की कृपा से आत्मा जब अपने आपको पूर्ण मानने लगता है तब तो वह चिद्‌धन परमात्म-शिव (पति शिव) ही हो जाता है।[5] आत्मा में पूर्णत्व का अभाव उस समय आता है जब वह अपने आपको और इस समग्र संसार को परमात्म-शिव से भिन्न मानने लगता है और जब उसका यह अज्ञान विनष्ट हो जाता है तब वह अपने आपको और सम्पूर्ण जगत् को पति, परमात्म-शिव से अभिन्न मानता है। तब उसे कभी मोह

1. शि० पु०, वा० सं०, पु० खं०—5 : 10
2. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—17 : 28
3. वही—6 : 1
4. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—32 : 42
5. शि० पु०, को० रु० सं०—43 : 10

नहीं होता है।[1] इस अपूर्णम्मन्यता को आणव मल स्वीकार करके ही दीक्षा-संस्कार के समय गुरु शिष्य को पूर्ण अतः शिव पति स्वरूप होने की भावना का उपदेश करता है।[2]

मायीय मल—

'आणवमल' से आवृत्त हुआ आत्मा आगे मायीय मल के द्वारा और अधिक संकुचित कर दिया जाता है। मायीयमल माया के द्वारा उपस्थित किया जाता है और यह भी एक संकोचावस्था है। इसके कारण आत्मा अपने आपको शरीरादि समझने लगता है।[3] माया आत्मा के ऊपर एक आवरण डाल देती है जिससे वह शक्ति दरिद्र हो सांसारिक वस्तुओं में अनुराग करने लगता है। माया के प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक के चतुर्विंशति परिणाम भी आत्मा के लिए बन्धन कहे गये हैं।[4]

कार्ममल—

आणवमल एवं मायीयमल के द्वारा संकुचित एवं संसारी बना हुआ आत्मा शुभाशुभ कर्मों को करता हुआ आनन्द एवं दुःख का अनुभव करता है। उसके द्वारा सम्पादित ये कर्म ही बन्धन कहे गये हैं। अतः मुक्ति के अभिलाषी को चाहिए कि वह पुण्यात्मक एवं अपुण्यात्मक उभयविध-कर्मों का परित्याग कर दे।[5] किन्तु ऐसी अवस्था में संसार यात्रा ही असम्भव हो जायेगी, अतः उक्त कथन का संशोधन करते हुए पुनः पुराणकार ने व्याख्या की कि फल की कामना से किया गया कर्म बन्धन कहा गया है न कि निरुद्देश्य कर्म। अतः मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को कर्मफल का त्याग करना चाहिए अर्थात् निःस्पृह होकर कर्म करना

---

1. शि० पु०, कै० सं०—16 : 75-77
2. वही—19 : 45
3. वही—16 : 73
4. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—2 : 13-14
5. वही—10 : 41

चाहिए।[1] जब तक फलाभिलषित कर्मों का चक्र चलता रहता है तब तक उन कर्मों के फल भोग के लिए आत्मा को जन्म एवं पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। यही कर्म की प्रतिबन्धकता है।

इन मलों का परिणाम है कि 'आत्मा' एक जन्म से दूसरे जन्म में चक्कर खाता फिरता है। इस प्रकार यह मल ही आत्मा के जन्म एवं पुनर्जन्म का कारण होता है। यह मल ही आत्मा के संसार रोग में हेतु कहा गया है। संसार के परम कारण, भिषक्, पति शिव ने इस संसार-रोग की दवा एकमात्र ज्ञान को कहा है। ज्ञान ही ऐसा साधन है जिससे सम्पूर्ण मल दूर होते हैं।[2]

द्वैतदर्शन में पाश—

द्वैतदर्शनों में 'नकुलीश पाशुपतदर्शन' मल की व्याख्या करते हुए कहता है कि आत्माश्रित जो दुष्ट भाव है, वही मल कहा गया है।[3] इस मल के पांच भेद बतलाये गये हैं—मिथ्याज्ञान, अधर्म, विषयों में आसक्ति के हेतु अर्थात् विषय का सन्निधान आदि च्युति अर्थात् सदाचार से भ्रष्ट होना, पशुत्व का मूल अर्थात् भीवभाव को प्राप्त कराने वाला अनादि संस्कार। ये मल विवेक के द्वारा त्याज्य कहे गये हैं।[4]

मल के विषय में शिव पुराण एवं पाशुपत दर्शन एक दूसरे से पूर्ण भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। शिव पुराण के अनुसार मल के त्रिधा भेद होते हैं तो पाशुपत दर्शन के अनुसार पाँच। किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो दोनों में भेद बहुत कम हो जाता है। पाशुपत दर्शन के मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति हेतु और पशुत्वमूल, शिव पुराण के त्रिधा मलों में ही

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—10 : 42
2. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—31 : 80, 81, 87
3. आत्माश्रितो दुष्टभावो मलः। सर्वदर्शन संग्रह
4. मिथ्याज्ञानमधर्मश्चासक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा।
   पशुत्वमूलं पंचैते तन्त्रे हेया विविक्तितः॥—सर्वदर्शन संग्रह

गतार्थ हो जाते हैं। शिव पुराण के अनुसार माया तत्त्व विभेद की बुद्धि उत्पन्न करता है,[1] यही पाशुपत का मिथ्याज्ञान है। आसक्तिहेतु, विषयों में अनुरंजन कराने वाले[2] राग के अन्दर समाविष्ट हो जाता है। यह राग शिव पुराण के अनुसार माया से उत्पन्न पंचकंचुक का एक भेद है। अधर्म का समावेश कार्ममल में होता है और पाशुपत का पशुत्व मूल अन्य कुछ न होकर आणवमल है, क्योंकि दोनों पशुत्वमूल एवं आणवमल ही जीवत्व-प्रापक अनादि संसार कहे गये हैं। इस प्रकार बाह्यरूप से प्रतीत होने वाला दोनों का भेद, वस्तुतः सूक्ष्म विचार करने पर समाप्त प्राय हो जाता है।

शैवदर्शन और पाश—

सर्वदर्शनसंग्रह में वर्णित 'शैव दर्शन' में पाश के चार भेद बतलाये गये हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति।[3] मल शब्द की व्याख्या शैव दर्शन में वही की गयी है जो पाशुपत दर्शन में उपलब्ध होती है।[4] पाश के अन्य भेदों की व्याख्या इस प्रकार है—कर्म—धर्माधर्म रूप कर्म, माया—सबका मूल कारण, यही अविद्या, प्रधान एवं प्रकृति आदि के नामों से भी जानी जाती है। रोधशक्ति-मल में वर्तमान, आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर आवरण डालने वाला, सामर्थ्य है।

किन्तु 'तत्त्वप्रकाश' की 'तात्पर्यदीपिका' नामक टीका में दो प्रकार से पाश का वर्णन मिलता है। प्रथम प्रकार के अनुसार अर्थपंचक—मल, कर्म, सूक्ष्म, स्थूल माया अर्थात् माया और माया से उत्पन्न सम्पूर्ण संसार और तिरोधानकरो शक्ति अर्थात् आत्मा का स्वाभाविक शक्ति का अवरोधक मल का सामर्थ्य ही पाश है। यह व्याख्या सर्वदर्शनसंग्रह के शैव दर्शन में वर्णित

---

1. शि० पु०, कै० सं०—16 : 73
2. वही—16 : 81
3. पाशश्चतुर्विधः। मलकर्ममायारोधशक्तिभेदात्।—सर्वदर्शन
4. सर्वदर्शनसंग्रह में शैवदर्शन।

पाश की व्याख्या से पूर्ण सामंजस्य रखती है। अन्तर यही है कि यहाँ माया का दो भेद—सूक्ष्म एवं स्थूल—किया गया है और वहाँ नहीं। द्वितीय प्रकार के अनुसार अध्वपंचक—तत्त्वाध्वा, भुवनाध्वा, कलाध्वा, वर्णाध्वा, पदाध्वा और मन्त्राध्वा को पाश कहा गया है।

सर्वदर्शन संग्रह में वर्णित शैवदर्शन में पाश के जो भेद—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति बतलाये गये हैं, उनमें प्रथम तीन शिव पुराण के आणवमल कार्ममल एवं मायीयमल से प्रायः साम्य रखते हैं। यद्यपि शैव दर्शन में, पाशुपत दर्शन की भाँति, मल के पाँच भेद—मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्तिहेतु, च्युति तथा पशुत्वमूल-बतलाये गये हैं, किन्तु इनमें प्रधान जो मिथ्याज्ञान एवं पशुत्वमूल है वह आणवमल के अन्तर्गत ही समाहित हो जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य भेद जैसा कि पाशुपत दर्शन की तुलना के अवसर पर निर्दिष्ट किया गया है, अन्य मलों में ही समाविष्ट हो जाते हैं। रोधशक्ति नामक अन्तिम और पंचम भेद अनावश्यक है क्योंकि आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर आवरण डालना मायीय मल से ही गतार्थ हो जाता है।

प्रत्यभिज्ञा और पाश—

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार मल (पाश) त्रिविध—आणव, मायीय एवं कार्म होता है। आणवमल के कारण आत्मा अपने को अपूर्ण मानने लगता है। मायीय मल के कारण आत्मा अपने आपको शरीरादि समझने लगता है। कार्ममल शुभ और अशुभ रूप कर्म ही है।[1]

शिव पुराण एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन मल के त्रिविध भेदों एवं उनकी व्याख्या के विषय में साम्य रखते हैं। दोनों का दृष्टिकोण एक ही है।

मुक्ति

आत्मा किस प्रकार मुक्ति प्राप्त कर सके, यही प्रत्येक आस्तिक भारतीय दर्शन एवं

---

1. प्रत्यभिज्ञा० 9 कारिका की व्याख्या

वांगमय का उद्देश्य है। शिव पुराण में भी तत्त्व-ज्ञान का अनुसंधान इसलिये किया जाता है कि उसके द्वारा जीवन के लक्ष्य की उपलब्धि हो सके। मुक्ति का वर्णन विभिन्न दर्शनों एवं मतों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। मुक्ति एवं मुक्ति-प्राप्ति के साधनों का वर्णन यहाँ के दर्शनों का सर्वस्व रहा है।

शिव पुराण में द्वैत एवं अद्वैत, द्विविधि, दर्शनों का विवरण प्राप्त होता है। कैलास संहिता में प्रधान रूप से अद्वैत दर्शन का वर्णन किया गया है। किन्तु वायवीय संहिता में द्वैत दर्शन की ही प्रबलता दृष्टिगोचर होती है।

शिव पुराण के अद्वैत दर्शन के अनुसार मुक्ति—

कैलास संहिता में वर्णित अद्वैत दर्शन अपनी मुक्ति विषयक अनुभूति में औपनिषदिक विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित है। यहाँ कुछ महावाक्यों को उद्धृत किया जा रहा है, जिनसे आत्मा एवं परमात्मा, पशुपति में अद्वैत विषयक सिद्धान्त का समर्थक होता है, 'अहं ब्रह्माऽस्मि' 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म'।

इन महावाक्यों से यही समर्थित होता है कि आत्सा और पति शिव में कुछ भी अन्तर नहीं है। शक्तिपात (पशुपति का अनुग्रह) के अनन्तर, दीक्षा के बाद, प्रारब्धकर्म की परिसमाप्ति होने पर साधक पांच भौतिक शरीर का परित्याग कर परमात्म-शिव में विलीन हो पूर्ण शिव ही हो जाता है।[1] यही पर मुक्ति की अवस्था है।

अद्वैत दर्शन के अनुसार मुक्ति दो प्रकार की होती है—पर एवं अपर।[2] पर मुक्ति पूर्ण **पशुपति शिव ही हो** जाना है और इस अवस्था को पहुँचने पर आत्मा कभी पुनः इस जगत् में **जन्म नहीं ग्रहण करता है।[3] अपर मुक्ति** की अवस्था में आत्मा का अभ्युदय होता है। वह

1. शि० पु०, कै० सं०— 21 : 8
2. वही—14 : 28
३. वही 21 : 31

(आत्मा) पशुपति के गाणपत्य (गणपति की अवस्था) को प्राप्त कर शिव के समान शरीर को धारण करता है। ऐसी अवस्था में उसके मृगचर्म, टंक, त्रिशूल, त्रिनेत्र, चन्द्रशकल, जटा में गंगा का प्रवाह, अविहत गति वाले विमान, ये सभी शिव के समान होते हैं। वरदान देने का अधिकार भी उसे प्राप्त रहता है।[1]

द्वैत दर्शन के अनुसार मुक्ति—

वायवीय संहिता में प्राय: द्वैत दर्शन का प्रतिपादन हुआ है, जिससे यही प्रतीत होता है कि मुक्त होने पर आत्मा ब्रह्म (पशुपति शिव) में नहीं विलीन होता है, किन्तु पशुपति शिव के समान हो जाता है। उसे शिव साधर्म्य की उपलब्धि होती है। इस शिव साधर्म्य की प्राप्ति से प्राणी जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। उसके पुण्य पाप सभी विनष्ट हो जाते हैं। वह निरंजन हो जाता है। संसार के कारण मल-माया आदि पाश भी समाप्त हो जाते हैं। आत्मा संसार से पूर्णरूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[2] द्वैत दर्शन के अनुसार यही पर मुक्ति है।

द्वैत दर्शन के अनुसार अपर मुक्ति में आत्मा विद्येश्वर (शुद्ध विद्या के निवासी आत्मा) आदि के पद को प्राप्त करता है। वह (आत्मा) वहाँ बहुत से भोगों को भोग कर एक बार पुन: जन्म धारण करता है और पुन: शिव की कृपा को प्राप्त कर शिव साधर्म्य को प्राप्त करता है और वह वहाँ से पुन: कभी नहीं लौटता।[3] इस प्रकार द्वैतवादी दर्शन के अनुसार विद्येश्वरादि पद की प्राप्ति अपर मोक्ष और शिव साधर्म्य पर-मोक्ष है। अपर मोक्ष का प्राप्तकर्ता एक बार पुन: जन्म ग्रहण करता है किन्तु पर मोक्ष का भागी व्यक्ति संसार के चक्र से पूर्णरूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

शिव पुराण में वर्णित अद्वैत दर्शन की मुक्ति विषयक धारणा तथा द्वैतदर्शन की मुक्ति

---

1. शि० पु०, कै० सं०—21 : 22, 23
2. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—32 : 22
3. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—28 : 27-29

विषयक धारणा में महान् अन्तर है। द्वैत दर्शन जिस शिव साधर्म्य को पर-मुक्ति कहता है वह तो अद्वैत दर्शन के अनुसार अपर मुक्ति है। इस शिव साधर्म्य में आत्मा के उपकरण वाहन आदि सभी पशु-पति शिव के समान हो जाते हैं। इस अवस्था में पहुँचा हुआ आत्मा अनुग्रह को छोड़कर सब कुछ करने में समर्थ होता है। अनुग्रह करना एकमात्र पशुपति शिव का कार्य है।[1]

मुक्ति विषयक एक अन्य विवरण—

इसके अतिरिक्त शिव पुराण में, मुक्ति का एक और वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार मुक्ति के पांच भेद माने गये हैं—सारूप्य मुक्ति, सालोक्य मुक्ति, सान्निध्य मुक्ति, सायुज्य मुक्ति और कैवल्य मुक्ति।[2]

सालोक्य-मुक्ति—

जब परमात्म-शिव की कृपा से कर्मजनित शरीर अपने वश में हो जाता है, तब व्यक्ति परमात्म-शिव के लोक में निवास का सौभाग्य प्राप्त करता है। इसी को सालोक्य मुक्ति कहते हैं।[3]

सान्निध्य-मुक्ति—

जब तन्मात्राएँ वश में हो जाती हैं, तब जीव परमात्म-शिव का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। यही सान्निध्य मुक्ति है। इस अवस्था को पहुँचे हुए जीव के आयुध और क्रिया आदि सब कुछ परमात्म-शिव के समान हो जाते हैं।[4]

सारूप्य अथवा सार्ष्टि मुक्ति—

परमात्म-शिव के महाप्रसाद के प्राप्त होने पर बुद्धि भी वश में हो जाती है। बुद्धि

1. शि० पु०, वि० सं०, 10 : 5, 11
2. शि० पु०, को० रु० सं०—41 : 3, 7
3. शि० पु०, वि० सं०—18 : 18-19
4. वही—18 : 20

प्रकृति का कार्य है। बुद्धि का वश में होना सार्ष्टि मुक्ति कही गयी है।[1]

सायुज्य-मुक्ति—

जब भगवान् परमात्म-शिव के अनुग्रह से प्रकृति भी वश में हो जाती है, उस समय परमात्म-शिव का मानसिक ऐश्वर्य बिना प्रयत्न के ही प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञता और तृप्ति आदि जो परमात्म-शिव के ऐश्वर्य हैं, उन्हें प्राप्त कर मुक्त पुरुष अपने आत्मा में विराजमान होता है। यही सायुज्य मुक्ति है।[2]

कैवल्य मुक्ति—

यह मुक्ति असमान्य मुक्ति है। साधारण मनुष्यों के लिए यह दुर्लभ है।[3] शिवज्ञान के उदित होने पर अर्थात् आत्मा, परमात्म-शिव ही है ऐसा ज्ञान होने पर ब्रह्म, परमात्म-शिव की प्राप्ति होती है अर्थात् जीव परमात्म-शिव ही हो जाता है।[4] यही कैवल्य मुक्ति है।

उपर्युक्त मुक्त के पाँच भेद द्विधा—पर एवं अपर रूप से वर्गीकृत किये जा सकते हैं। प्रथम चार भेद—सालोक्य मुक्ति, सान्निध्य मुक्ति, सारूप्य मुक्ति और सायुज्यमुक्ति—अपर मोक्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये सब अपरमोक्ष के ही प्रकार हैं। अन्तिम कैवल्य नामक मुक्ति परमुक्ति है। इस अवस्था में जीव (आत्मा) अपने आप में तथा सर्वत्र केवल भाव (शिव भाव) का अनुभव करता है।

इस प्रकार शिव पुराण में शैव दर्शनों से सम्मत मुक्ति के द्विधा-वर्गीकरण पर एवं अपर ही वर्णित किये गये हैं। अन्य वर्गीकरण इन्हीं दो वर्गीकरणों में समाहित हो जाते हैं।

---

1. शि० पु०, वि० सं०—18 : 21
2. वही—18 : 22-23
3. शि० पु०, को० रु० सं०—41 : 7
4. वही—41 : 15, 16

शक्तिपात एवं दीक्षा

दीक्षा की अनिवार्यत—

शैव सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा के बिना मुक्ति ही सम्भव नहीं है। षडध्व का परिशोधन अर्थात् षडध्व की व्याप्ति का परिज्ञान रूप जो संस्कार है उसे ही दीक्षा कहते हैं।[1] इस संसार को शिव-संस्कार भी कहते हैं।[2] किन्तु कोई भी गुरु किसी भी साधक (पशु) को तब तक दीक्षित नहीं करता जब तक कि उसमें शक्तिपात (परमात्म-शिव का अनुग्रह) न हो चुका हो। शक्तिपात के बिना दीक्षा, षडध्व का परिशोधन, आदि कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते।[3] शैव सम्प्रदाय में साधक के ऊपर हुई परमात्मा-शिव की कृपा को शक्तिपात के नाम से अभिहित किया जाता है।

शक्तिपात के हेतु साधना की आवश्यकता—

यह शक्तिपात अथवा अनुग्रह किसी चपलता का परिणाम नहीं है। इसके लिए कई वर्षों यहाँ तक कि कई जन्मों की नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार परम देवता के कण्ठाश्लेष के लिए पुष्पों को पहले कण्टक पर आवास करना पड़ता है, उसी प्रकार मुक्ति लाभ की पूर्वपीठिका—अनुग्रह की प्राप्ति के लिए साधक को श्रुति-स्मृति तथा विशेष रूप से आगम के द्वारा प्रतिपादक मार्ग पर चलना होता है। पाशुपत व्रत का पालन, भस्म स्नान, त्रिपुण्ड तथा रुद्राक्ष धारण, प्राणायाम, शौचादि नित्यकर्म एवं अपने अभीष्ट देव के साथ एकाग्रता पंचाक्षर जप आदि के दीर्घकालिक अभ्यास से साधक भी (पशु) परमात्म शिव

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—15 : 4-5
2. वही—15 : 2
3. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—29 : 27

के अनुग्रह को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[1] परमात्म-शिव के अनुग्रह से पशु की सर्वत्र अभीष्ट सिद्धियाँ हुआ करती है। यही कारण है कि सभी साधक (पशु) अन्त में सम्पूर्ण साधनों के द्वारा परमात्म शिव का प्रसाद प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।[2] परमात्म-शिव का प्रसाद प्राप्त करना धर्म कहा गया है। इस धर्म का मार्ग-प्रदर्शन वेद के द्वारा किया जाता है।[3]

शक्तिपात का क्रम—

शक्तिपात (अनुग्रह) का क्रम अविवक्षित है। जिसकी जैसी योग्यता होती है उसमें वैसा शक्तिपात (अनुग्रह) होता है।[4] भाव यह है कि मुक्ति प्राप्त के क्रम में व्यक्ति की योग्यता के अनुसार भिन्नता भी होती है। कोई गर्भावस्था में मुक्त होता है तो कोई तरुणावस्था में मुक्ति लाभ करता है। कोई वृद्ध होकर मुक्त होता है तो कोई तिर्यक् योनि में ही मुक्त हो जाता है। मुक्ति का यह क्रम व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर होता है।[5] जब किसी का मल परिपक्व हो जाता है तब उसमें शक्तिपात होता है और उसकी मुक्ति होती है।

शक्तिपात की दुर्निवारता—

शिव पुराण के अनुसार शक्तिपात के बिना कोई भी साधक न तो ठीक से तत्त्वों को जानता है और न उनकी प्राप्ति एवं विवृद्धि (क्रमिक-विकास) को ही जानता है।[6] जिस व्यक्ति में शक्तिपात नहीं हुआ रहता उसकी शुद्धि नहीं होती। न तो उसे विद्या तथा सिद्धि की ही उपलब्धि होती और न तो वह मुक्ति का ही भाजन होता है।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—33 : 23-27
2. वही—3 : 31
3. वही—3 : 32
4. वही—3 : 41
5. वही—3 : 42
6. वही—29 : 27

शक्तिपात का लक्षण एवं साधक के भेद—

गुरु को चाहिए कि वह पूर्णरूप से हुये शक्तिपात के लक्षणों को देखकर ज्ञान अथवा क्रिया के द्वारा शिष्य का विशोधन करे।[1] प्रबोध एवं आनन्द का सम्भव ही शक्तिपात का लक्षण है, क्योकि परमा शक्ति भी प्रबोध एवं आनन्द स्वरूपणी ही है।[2] अन्त:करण में अलौकिक विकार का प्रादुर्भाव ही आनन्द एवं बोध का लक्षण है। अन्त:करण का यह विलक्षण विकार शरीरिक कम्प, रोमांच, स्वर एवं नेत्र आदि अंगों में विकार के द्वारा जाना जाता है। शक्तिपात की अवस्था को प्राप्त हुये साधक को मुहुर्मुहु: आकस्मिक आनन्द आदि की उपलब्धि भी हुआ करती है। ये कम्प आदि शक्तिपात के अव्यभिचारी लक्षण हैं। इन भावों की मन्दता, मध्यता एवं तीव्रता से मुमुक्षुओं के भी मन्द, मध्य एवं उत्तम तीन वर्ग बन जाते हैं।[3]

शिष्य एवं गुरु का परस्पर परीक्षण—

शक्तिपात के अनन्तर गुरु उक्त लक्षणों के द्वारा साधक का परीक्षण करके उसे दीक्षित करता है। किन्तु इस स्थल पर साधक, जिसे शिष्य भी कहा गया है, को भी अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है। सम्भव है कोई ऐसा भी गुरु साधक को दीक्षित करने का प्रयास करे, जो वस्तुत: उक्त कार्य का अधिकारी न हो। अत: शिष्य (साधक) को चाहिए कि वह शिवार्चन आदि कृत्यों में गुरु के साथ रह कर उक्त कम्प, रोमांच आदि लक्षणों के द्वारा गुरु की भी परीक्षा करे, जिनसे कि गुरु साधक में शक्तिपात होने का परीक्षण करता है।[4]

शिव पुराण शिष्य एवं गुरु शब्द की मीमांसा करते हुये कहता है कि शिक्षणीय होने के कारण साधक को शिष्य कहा जाता है। शिक्षा कार्य गौरवपूर्ण कार्य है, इसको सम्पन्न करने

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं० 15 : 14
2. वही 15 : 16
3. वही 11 : 37
4. वही—15 : 18

वाला गौरव का भागी होता है। इसी गौरव के कारण शिक्षक को गुरु कहा जाता है।[1]

गुरु की महिमा इस संसार में सर्वातिशायिनी है। परमात्म-शिव और गुरु में कोई भिन्नता नहीं है। गुरु साक्षात् परमात्म शिव कहा गया है।[2] गुरु सर्वदेवात्मक एवं सर्वमन्त्रात्मक होता है। अत: उसकी आज्ञा का पालन पूर्ण प्रयत्न के साथ करना चाहिये। कल्याण की कामना करने वाला साधक यदि मन से भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता तो वह ज्ञान-सम्पत्ति का भागी होता है। शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के समक्ष उनकी बिना आज्ञा के कोई कर्म न करे। गुरु के गृह में शिष्य को यथेष्ट आसन भी नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि गुरु गृह साक्षात् देवमन्दिर कहा गया है।

शिव पुराण गुरु की प्रबल भक्ति का विधान अवश्य करता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह अन्ध-श्रद्धा का प्रतिपादक है। उसका कथन है कि यदि गुरु गुणवान्, प्राज्ञ एवं परमानन्द का भासक तथा तत्त्ववेत्ता अर्थ च शिव में संलग्न चित्त वाला है, तभी वह मुक्ति का दाता होता है अन्यथा नहीं। जो आचार्य तत्त्ववेत्ता हैं वे ही मुक्त एवं मोचक हैं।[3] जो लोग तत्त्व से हीन हैं अर्थात् जिन्हें तत्त्वों का ज्ञान नहीं है उन्हें बोध एवं आत्मपरिग्रह नहीं होता है। आत्म परिग्रह से विनिर्मुक्त गुरु पशु ही कहा जाता है, अत: उसकी प्रेरणा से साधक शिष्य का पशुत्व विनिवृत्त नहीं होता है।[4] अत: तत्त्ववेत्ता अतएव मुक्त आचार्य ही मोचक कहा गया है। सर्वलक्षण सम्पन्न, सर्वशास्त्रविज्ञ एवं सम्पूर्ण उपाय तथा विधियों का ज्ञाता भी यदि तत्त्वहीन है तो वह निष्फल है।

गुरु को भी चाहिये कि वह स्वाश्रित **ब्राह्मण शिष्य** की एक वर्ष, क्षत्रिय शिष्य की दो

---

1. **शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०**—15 : 19
2. **वही**—15 : 20
3. **वही**—15 : 36, 39
4. **वही**—15 : 44

वर्ष एवं वैश्य शिष्य की तीन वर्ष तक परीक्षा करे। यह परीक्षा प्राण एवं द्रव्य की याचना से, योग्य अथवा अयोग्य आदेशों से एवं उत्तम को अधम तथा अधम को उत्तम कार्य से संयोजित कर की जा सकती है। इन कार्यों से और डाटने एवं मारने पर भी जो शिष्य विषाद को नहीं प्राप्त होते हैं, वे ही संयत तथा शुद्ध शिष्य शिव संस्कार (दीक्षा अथवा षडध्व शुद्धि) के योग्य माने गये हैं। अहिंसक, दयावान्, सर्वदा तत्पर मनवाले, अमानी, बुद्धिमान्, स्पर्धा न करने वाले, प्रियम्वद, ऋजु, स्वच्छ, विनीत, स्थिरचेता, शौच एवं वर्णाचार से सम्पन्न, शिवभक्त, द्विजाति साधक, यथान्याय, शोधन एवं ज्ञान-प्रदान के पात्र हुआ करते हैं।

दीक्षा के भेद

शिव पुराण में दीक्षा के तीन भेद बतलाये गये हैं—(1) शाम्भवी दीक्षा, (2) शाक्ती दीक्षा, (3) मान्त्री दीक्षा।[1]

शाम्भवी दीक्षा—

शाम्भवी दीक्षा में गुरु के आलोकन, स्पर्श एवं सम्भाषण मात्र से प्राणियों में पाश की क्षयकारिणी संज्ञा (चेतना) सद्यः समुत्पन्न होती है। पुनः पाश के विनाश की दृष्टि से, शाम्भवी दीक्षा दो प्रकार की बतलाई गयी है—तीव्र एवं तीव्रतरा। जिसके द्वारा सद्यः निवृत्ति होती है वही तीव्रतरा शाम्भवी दीक्षा है। तीव्रा शाम्भवी दीक्षा पुरुष के पाप की अत्यन्त विशोक्षिका कही गयी है।[2]

शाक्ती दीक्षा—

जिस दीक्षा में गुरु योग मार्ग के द्वारा ज्ञानचक्षु अथवा मन से शिष्य के शरीर में प्रवेश

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—15 : 16
2. वही—15 : 8-9

करके संस्कार करता है, वह शाक्ती दीक्षा कही गयी है।[1] यह दीक्षा गुह्य होने के कारण यहाँ नहीं वर्णित है। यह एकमात्र गुरु-परम्परा से ज्ञातव्य है।[2]

मान्त्री दीक्षा—

मान्त्री दीक्षा को क्रियावती दीक्षा भी कहते हैं। इस विधि के अनुसार कुण्ड एवं मण्डप का बाह्य प्रदेश में निर्माण कर, शनैः-शनैः कर्मकाण्डपूर्वक शिष्य का संस्कार किया जाता है।[3] यह क्रियावती दीक्षा ही शिव पुराण में संक्षेप में कही गयी है।[4] मान्त्री दीक्षा का प्रमुख अंग है षडध्व-प्रक्रिया। इसका ज्ञान एवं इसके अनुसार शुद्धि प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। शिष्य के संस्कार कर्म में षडध्व-प्रक्रिया सर्वाधिक महत्त्वशाली एवं लोक प्रसिद्ध तथा किसी न किसी रूप से अन्य दर्शनों के द्वारा भी स्वीकृत है।

षडध्व-प्रक्रिया—

परमात्म-शिव का समाश्रयण करने वाली जो शक्ति है वही परा-शक्ति के नाम से जानी जाती है।[5] यह सम्पूर्ण शक्तियों की समष्टिभूता है। यह परा-शक्ति ही विभाग स्वरूपा को षडध्व के रूप में विजृम्भित होती है।[6] षडध्व के अन्तर्गत तीन शब्दाध्वा एवं तीन अर्थाध्वा आते हैं। शब्दाध्वा के अन्तर्गत वर्णाध्वा, पदाध्वा एवं मन्त्राध्वा आते हैं। अर्थाध्वा के अन्तर्गत कलाध्वा, तत्त्वाध्वा तथा भुवनाध्वा परिगणित होते हैं।[7]

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—15 : 10
2. वही—15 : 73
3. वही—15 : 11
4. वही—15 : 74
5. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—29 : 5
6. वही—29 : 8
7. वही—29 : 11-12

कलाध्वा—

निवृत्तिकला, प्रतिष्ठाकला, विद्याकला, शान्तिकला एवं शान्त्यतीता कला, इन्हीं पांच को मिलाकर कलाध्वा कहा जाता है। अन्य पाँच अध्वा इन्हीं पांच कलाओं से व्याप्त रहते हैं।[1] कलाध्वा व्यापक एवं अन्य अध्वा व्याप्य माने गये हैं। सर्ग के प्रारम्भ में परा प्रकृति ही निवृत्यादि पंचकलाओं के रूप में परिणमित होती है। कलाओं में भी परस्पर यथोत्तर व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है।[2]

कैलास संहिता के षोडश अध्याय में कहा गया है कि पराशक्ति से चित् शक्ति प्रकट होती है। चित् शक्ति से आनन्द शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, आनन्द शक्ति से इच्छा शक्ति का उद्‌भव हुआ है, इच्छाशक्ति से ज्ञान शक्ति और ज्ञान शक्ति से पांचवीं क्रिया शक्ति प्रकट हुई है। इन्हीं से निवृत्ति आदि पाँच कलायें उत्पन्न हुई हैं।[3] उसी स्थल पर यह भी कहा गया है कि शिव से ईशान, ईशान से तत्पुरुष, तत्पुरुष से अघोर, अघोर से वामदेव, वामदेव से सद्योजात का प्रादुर्भाव हुआ है। इन्हीं को पंच ब्रह्म भी कहते हैं। इन्हीं पाँच ब्रह्म से क्रमशः शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा एवं निवृत्ति कलायें उत्पन्न हुई हैं।[4] परमात्म-शिव में वर्तमान अनुग्रह, तिरोभाव, सृष्टि, स्थिति एवं संहार नामक पंचकृत्यों का हेतु पंच कलायें ही हैं।[5]

तत्त्वाध्वा—

शिव तत्त्व से लेकर भूमि पर्यन्त तत्त्वाध्वा कहा गया है। सभी षट्‌त्रिंशत् तत्त्व शुद्ध एवं

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—29 : 17
2. वही—29 : 18
3. शि० पु०, कै० सं०—16 : 54-55
4. वही—16 : 59-60
5. वही—16 : 61

अशुद्ध एवं शुद्धाशुद्ध तीन वर्गों में विभक्त किये जाते हैं।[1] सम्पूर्ण तत्त्व कलाओं से व्याप्त होते हैं।

भुवनाध्वा—

आधार से लेकर उन्मनान्त (शुद्ध विद्या तत्त्व के एक भुवन पर्यन्त) भुवनाध्वा कहा गया है। भुवनाध्वा के अन्तर्गत साठ भुवन आते हैं। इसके अतिरिक्त भुवनाध्वा के कोई भेद एवं उपभेद नहीं होते हैं।[2] सम्पूर्ण भुवन तत्त्वों से व्याप्त होते हैं। इनमें परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध होता है।

वर्णाध्वा—

वर्णाध्वा के अन्तर्गत पंचाशत् क्षकारादि अकारान्त वर्ण आते हैं। ये सभी वर्ण रुद्र स्वरूप हैं।[3] वर्ण एवं भुवनों का परस्पर व्याप्य-व्यापक रूप सम्बन्ध है। वर्ण व्याप्य हैं और भुवन व्यापक। समग्र वर्ण भुवनों में ही उपलब्ध होते हैं। अतः इनका उक्त सम्बन्ध बतलाया गया है।

पदाध्वा—

शिव पुराण के अनुसार पदाध्वा अनेक भेदों से सम्पन्न हैं। शिव पुराण इन भेदों का विशेष विवरण नहीं प्रस्तुत करता। पद वर्णों से व्याप्त हैं, क्योंकि विद्वानों ने वर्ण समूह को ही पद बतलाया है।

मन्त्राध्वा—

मन्त्राध्वा सम्पूर्ण उपमन्त्रों एवं परम विद्या के द्वारा व्याप्त रहता है। षडक्षर रूप

---

1. **शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०**—17 : 4
2. **वही**—17 : 5
3. **वही**—17 : 6

महामन्त्र मन्त्राध्वा के अन्तर्गत नहीं गिना जाता।[1] सम्पूर्ण मन्त्र, वाक्य रूप होने के कारण, पदों से व्याप्त रहते हैं। इनका परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध रहता है।

शैवी पराशक्ति से समुद्भूत वागर्थमय षड्विध अध्वा ही यह निखिल जगत् है।[2] अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् षडध्वमय ही है। षडध्व-परिशोधन से मनुष्य पूजा आदि कृत्यों में भली-भाँति अधिकृत हो जाता है, अतः इसे संस्कार भी कहा गया है।[3]

शिव पुराण के अनुसार प्रत्येक मुमुक्षु को षडध्व प्रक्रिया का सम्यक् ज्ञान एवं षडध्व-परिशोधन संस्कार का ज्ञान आवश्यक है। इसके बिना प्राणी की शुद्धि असम्भाव्य है। अध्वव्याप्ति के परिज्ञान के बिना साधक का शुद्धयर्थ प्रयत्न न केवल निष्फल होता है अपितु वह नरक का भागी भी होता है।[4]

जो व्यक्ति षडध्व के अन्तर्गत वर्तमान व्याप्य-व्यापक भाव को तत्त्वतः नहीं जानता वह अध्वशोधन के योग्य नहीं है। जिस व्यक्ति ने षड्विध अध्वा के रूप को नहीं जाना है वह उसकी व्याप्य-व्यापकता को नहीं जान सकता है। अतः अध्व स्वरूप एवं उसके अन्तर्गत व्याप्य-व्यापकता को यथावद् ज्ञात कर ही अध्व विशोधन करना चाहिए।

दीक्षा का महत्त्व

दीक्षा-संस्कार सम्पूर्ण पापों को उसी प्रकार जला डालता है, जैसे अग्नि सुवर्ण के कालुष्य को भस्म कर देता है। शिव के द्वारा परिभाषित होने से इसे शिव संस्कार भी कहते हैं। इस संस्कार से विज्ञान दिया जाता है और पाशरूप बन्धन क्षीण होता है, अतः इस संस्कार को

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—17 : 7
2. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—29 : 36
3. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं, 15 : 4
4. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—29 : 25-26

दीक्षा भी कहते हैं।[1]

इस प्रकार शक्तिपात होने पर नि:श्रेयस् प्राप्ति की कामना वाला साधक परमात्म-शिव की इच्छा से अधिगत गुरु को प्राप्त करके, उनके द्वारा विहित दीक्षा से, अपने त्रिविध मलों को विच्छिन्न करके मुक्त होता है। योग्य गुरु साधक को सविधि दीक्षित करके निर्मल परमात्म-शिव से संयुक्त करता है।

द्वैत शैवदर्शन में शक्तिपात एवं दीक्षा—

द्वैत शैव दर्शन शक्तिपात एवं दीक्षा को मुक्ति का मूल कारण मानता है। 'रत्नत्रय' में 'सिद्धान्त-सेवन' (शैव दर्शन के सिद्धान्त) को शक्तिपात का लक्षण कहा गया है।[2] यहाँ भी शक्तिपात को दीक्षा से पूर्वभावी आवश्यक विधान स्वीकार किया गया है।[3]

'रत्नत्रय' श्लोक 146 एवं 147 पर 'अघोर शिवाचार्य' की टीका में 'दीक्षा' को ही एकमात्र मोक्ष का हेतु माना गया है। यद्यपि उक्त श्लोक में दीक्षा, चर्या, ज्ञान एवं योग को समान रूप से भोग एवं मोक्ष का हेतु माना गया है। तथापि उक्त टीकाकार का कथन है कि चर्या एवं योग का अनुष्ठान ज्ञान के बिना सम्पन्न ही नहीं हो सकता और ज्ञान भी दीक्षा के बिना पुरुषों को मुक्त करने में सक्षम नहीं है, अत: मानना पड़ेगा कि दीक्षा ही मोक्ष का हेतु है।

'श्रीमत्षट्साहस्त्रिका' में भी कहा गया है कि पुरुष के चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली दीक्षा ही मोक्षदायिनी है।[4] जब आत्मा का पूर्णत: मल परिपाक हो जाता है तभी दीक्षा होती है और यह दीक्षा ही कर्मक्षय के द्वारा मोक्ष का हेतु है। मल के पूर्णत: परिपाक होने पर ही

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—15 : 3, 5
2. रत्नत्रय—श्लोक 12 और उस पर अघोर शिवाचार्य की टीका
3. वही
4. दीक्षैव मोक्षदा पुंसां चिदभिव्यक्तिकारिणी।—श्रीमत्षट्साहस्त्रिका

परमात्म-शिव (पशुपति) की अनुग्राहिका का शक्तिपात होता है। आत्मा मल के विनष्ट हो जाने पर आवरण विमुक्त हो जाता है और तभी इसका सर्वज्ञत्वादि रूप प्रकाशित होता है।[1] मल के प्रशान्त होने पर ही दीक्षा नामक परमात्म-शिव (पशुपति) की शक्ति के द्वारा स्पृष्ट होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।[2]

शिव पुराण एवं द्वैत दर्शन-दोनों ही मुक्ति के लिए शक्तिपात एवं दीक्षा को अनिवार्य मानते हैं। दोनों का कहना है कि शक्तिपात के बिना दीक्षा एवं दीक्षा के बिना मुक्ति सम्भव ही नहीं है। दोनों ही यह मानते हैं कि मुक्त आचार्य ही दीक्षा देने का अधिकारी है। अन्तर इतना ही है कि द्वैतवादी स्पष्ट रूप से कहता है कि अपर मुक्त ब्राह्मण गुरु बनने का अधिकारी है, जब कि शिव पुराण एकमात्र इतना ही कहता है कि गुरु को मुक्त और ब्राह्मण होना चाहिए।

अद्वैत दर्शन में शक्तिपात एवं दीक्षा—

अद्वैत दर्शन के अनुसार मुक्ति के लिए क्रमशः शक्तिपात एवं दीक्षा अनिवार्य माने गये हैं। अद्वैत दर्शन शक्तिपात के तीन भेद करता है—तीव्र शक्तिपात, मध्यम शक्तिपात एवं मन्द शक्तिपात। जो लोग पूर्व जन्म के उत्तम संस्कार को रखते हैं, वे लोग उस संस्कार के कारण तीव्र शक्तिपात प्राप्त करने के लिए अत्यधिक योग्य पात्र होते हैं। ऐसे लोग बिना कठिन साधना के ही मुक्त हो जाते हैं। जो लोग पूर्ण योग्य पात्र नहीं होते वे मध्यम शक्तिपात प्राप्त करते हैं। यह शक्तिपात उन्हें एक 'गुरु' का अन्वेषण करने के लिए प्रभावित करता है, अर्थात् उन्हें एक गुरु की आवश्यकता पड़ती है। गुरु की यह आवश्यकता 'दीक्षा' एवं योग विधि प्राप्त करने के लिये होती है। एक उचित समय पर ऐसे लोग भी मुक्ति को प्राप्त करते हैं। जो लोग इससे भी कम योग्य पात्र होते हैं, वे 'मन्दशक्तिपात' प्राप्त करते हैं। यह उनमें आध्यात्मिक ज्ञान एवं ध्यान के लिए एक सत्य एवं पवित्र उत्कण्ठा उत्पन्न कर देता है। ऐसे लोग भी समय के पूरा होने पर

---

1. 'रत्न०' श्लोक 12 पर 'अघोर शिवाचार्य' की टीका से।
2. 'रत्न०' श्लोक 313 पर 'अघोर शिवाचार्य' की टीका।

मुक्ति को प्राप्त करते हैं।[1]

शिव पुराण एवं अद्वैतवादी दर्शन-दोनों ही शक्तिपात, शक्तिपात के त्रिधा भेद एवं दीक्षा के विषय में समान मत रखते हैं। दोनों ही मुक्ति के लिये शक्तिपात एवं दीक्षा को अनिवार्य मानते हैं। गुरु का अपूर्व महत्त्व शिव पुराण की भाँति अद्वैत दर्शन में भी स्वीकार किया गया है। अद्वैत दर्शन गुरु को मुक्ति का उपाय कहता है।[2]

---

1. 'प्रत्यभिज्ञा०' में 'जयदेव सिंह' कृत भूमिका।
2. 'गुरुरुपाय:' 'शिवसूत्रविम०' में उद्धृत शिवसूत्र।

योग

जो साधक शरीर, इन्द्रिय एवं मन के समस्त बन्धनों से रहित, शुद्ध आत्मा का दर्शन करना चाहते हैं उनके लिये योग एक महान साधन है। आत्मोन्नति के साधन रूप में योग की महत्ता को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। यहाँ तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति एवं पुराण सभी में योग विषयक चर्चा समुपलब्ध है।[1] जब तक प्राणियों का चित्त अथवा अन्तः करण पूर्ण स्वच्छ और सुस्थिर नहीं होता तब तक वे धर्म अथवा दर्शन के वास्तविक रहस्य को नहीं जान सकते। कोई भी व्यक्ति शुद्ध हृदय एवं सुस्थिर मन से ही इन गूढ़ रहस्यों का पता लगाने में समर्थ हो सकता है। आत्म-शुद्धि के लिये योग ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसके द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तर-उभयविध-शरीर शुद्ध हो जाता है। यही कारण है कि समग्र भारतीय दर्शन (केवल चार्वाक को छोड़कर) अपने-अपने सिद्धान्तों का यौगिक रीति से, ध्यान, धारणा आदि के द्वारा प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट अनुभव करने के लिए साधक को प्रेरित करते हैं।

शिव पुराण में शैव धर्म के चार पाद बतलायें गये हैं—ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग।[2] पशु, पाश एवं पति का ज्ञान ही 'ज्ञान' कहा गया है। गुरु के उपदेश के अनुसार षडध्व शुद्धि की विधि से की गयी क्रिया ही 'क्रिया. है। पशुपति-शिव (परमात्म-शिव) के द्वारा विहित, वर्णाश्रमप्रयुक्त, उनके (पशुपति के) अर्चनादि का अनुष्ठान ही 'चर्या' कही गयी है।[3] पशुपति शिव (परमात्म शिव) के द्वारा कथित मार्ग से अन्तःकरण की वृत्तियों को (चित्तवृत्तियों को) विषयान्तर से निरुद्ध कर, एकमात्र पशुपति शिव में ही, निश्चल रूप से लगाने की जो क्रिया है उसी का नाम 'योग' है।

---

1. कठोपनिषद् 2 : 11 : 18
2. ज्ञानं क्रिया च चर्या च योगश्चेति सुरेश्वरि।
   चतुष्पादः समाख्यातो मम धर्मः सनातनः॥—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—10 : 30
3. वही—10 : 31-32

योग के प्रकार

योग का वर्गीकरण द्विधा किया जाता है। प्रथम वर्गीकरण के अनुसार योग पाँच प्रकार का होता है—1. मन्त्रयोग, 2. स्पर्शयोग, 3. भाव योग, 4. अभाव योग, 5. महायोग। इनमें महायोग सबसे परे है।

मन्त्रयोग—

मन्त्रों के अभ्यासवश, जो मन की वृत्ति, मन्त्र के वाच्यार्थ गोचर होकर स्थिर हो जाती है उसी का नाम 'मन्त्रयोग' है।[1]

स्पर्श योग एवं भाव योग—

प्राणायाम युक्त उक्त मनोवृत्ति 'स्पर्श योग' कही जाती है और यदि यही स्पर्शयोग मन्त्र के स्पर्श से रहित हो तो 'भाव योग' कहा जाता है।[2]

अभावयोग—

जिसमें सारा विश्व तिरोहित रूप हो जाता है, उसे 'अभाव योग' कहते हैं, क्योंकि उसमें (उस अवस्था में) विद्यमान वस्तु का भी आभास नहीं रहता है।[3]

महायोग—

जिसमें उपाधिरहित, शिवस्वभाव का ही चिन्तन किया जाता है वही मनोवृत्ति 'महायोग' कही जाती है।[4]

दूसरे वर्गीकरण के अनुसार योग त्रिधा होता है—1. ज्ञानयोग, 2. क्रियायोग, 3. भक्ति योग।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 8
2. वही—37 : 9
3. वही—37 : 10
4. वही—37 : 11

ज्ञान योग—

चित्त का आत्मा के साथ संयोग ही 'ज्ञानयोग' कहा गया है।[1]

भक्ति योग—

अभीष्ट देव के साथ (शिव अथवा शक्ति के साथ) आत्मा का एकीकरण ही 'भक्तियोग' कहा गया है।[2]

क्रियायोग—

चित्त का बाह्यार्थ संयोग (किसी मूर्ति आदि से संयोग) ही 'क्रियायोग' कहा गया है। शास्त्रों के अनुसार कर्म से भक्ति, भक्ति से ज्ञान एवं ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर योग, पूर्वयोग के उपकारक होते हैं। इनमें ज्ञानयोग ही सर्वश्रेष्ठ निर्दिष्ट किया गया है।

अष्टांग एवं षडंग योग—

यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही विद्वानों के द्वारा योग के आठ अंग माने गये हैं।[3]

आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि संक्षेप में ये ही योग के षडंग कहे गये हैं।[4] इन सब का पृथक्-पृथक् लक्षण शिवशास्त्र, शिवागम, विशेष करके 'कामिक' आदि में, योगशास्त्र तथा कुछ पुराणों में भी वर्णित है।

1. यम—

योग का प्रथम अंक है 'यम'। इसके निम्नलिखित अंग हैं—1. अंहिसा, 2. सत्य, 3.

---

1. शि० पु०, उ० सं०—51 : 8
2. वही—51 : 9
3. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 14, 15
4. वही—37 : 16

अस्तेय, 4. अपरिग्रह, 5. ब्रह्मचर्य। साधक के लिये इनका साधन अनिवार्य है, अत: मन को सबल बनाने के लिए शरीर का सशक्त बनाना अत्यावश्यक है। जो व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों पर विजय प्राप्त नहीं करते, उनका मन एवं शरीर सबल नहीं रह सकता। इसी प्रकार जब तक मानव का मन पापवासनाओं से परिपूर्ण और चंचल रहता है तब तक वह किसी विषय पर चित्त एकाग्र नहीं कर सकता। अत: योग या समाधि के साधक को सभी आसक्तियों और कुप्रवृत्तियों से विरत होना आवश्यक है।

2. नियम—

योग का दूसरा अंग 'नियम' या सदाचार पालन है। इसके निम्नलिखित अंग हैं—1. शौच (वाह्य शुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि जैसे स्नान और पवित्र भोजन के द्वारा तथा आभ्यन्तर शुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता, आदि के द्वारा), 2. सन्तोष (अर्थात् उचित प्रयास से जितना ही प्राप्त हो उससे सन्तुष्ट रहना), 3. तप (जैसे सर्दी-गर्मी आदि सहने का अभ्यास), 4. स्वाध्याय (नियमपूर्वक धर्मग्रन्थों का अध्यन करना), 5. ईश्वर प्राणिधान (ईश्वर का ध्यान और उन पर अपने को छोड़ देना)।

3. आसन—

'आसन' शरीर का साधन है। इसका अर्थ है शरीर को ऐसी अवस्था में रखना जिससे निश्चल होकर सुख के साथ देर तक रह सकते हैं। 'आसन' नाना प्रकार के होते हैं। शिव पुराण में आठ प्रकार के आसन बतलाये गये हैं—(1) स्वस्तिक, (2) पद्म, (3) मध्येन्दु, (4) वीर, (5) योग, (6) प्रसाधित, (7) पर्यंक, और (8) यथेष्ट।[1] इनका अभ्यास एकमात्र पुस्तकों के आधार पर न होकर, किसी योग्य गुरु के निर्देशन में होना चाहिए। चित्त के स्थैर्य के लिए शरीर का भी अनुशासन उतना ही आवश्यक है जितना कि मनका, यदि शरीर किसी प्रकार

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 20

की व्याधि से आक्रान्त है तो समाधि लगाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। यही कारण है कि योग सम्बन्धी वांगमय आरोग्य साधन के लिए बहुत से नियम निर्धारित करता है, जिससे शरीर समाधि क्रिया के योग्य बन सके। शरीर एवं मन को शुद्ध तथा सबल बनाने के लिए तथा दीर्घायुष्य के लिए ग्रन्थों में नाना प्रकार के नियम उपनियम उपदिष्ट हैं। योगासन शरीर को निरोग एवं सबल बनाये रखने के लिए उत्तम साधन हैं। इन आसनों के द्वारा सभा अंग, विशेषत: स्नायुमण्डल, इस प्रकार वश में किये जा सकते है कि वे मन में किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न कर सकें।

4. प्राणायाम—

स्वदेहज वायु ही 'प्राण' कहा गया है। इसका निरोधन ही 'आयाम' है। अर्थात् 'प्राणायाम' का अर्थ है श्वास का नियंत्रण। इस क्रिया के तीन अंग होते हैं—(1) पूरक (पूरा श्वास भीतर खींचना), (2) कुम्भक (श्वास को भीतर रोकना), और (3) रेचक (नियमित विधि से श्वास छोड़ना)। 'प्राणायाम' करने में न तो शीघ्रता करनी चाहिये और न विलम्ब ही। योग साधक को चाहिये कि वह क्रमयोग (क्रमश:) से उद्यत होकर इसका अभ्यास करे। श्वास के व्यायाम से हृदय पुष्ट होता है और उसमें बल आता है। इस बात को चिकित्सा विज्ञान भी स्वीकार करता है। किन्तु योग इससे भी आगे बढ़कर प्राणायाम को चित्त की एकाग्रता के लिए निर्देश करता है, क्योंकि इसके द्वारा शरीर एवं मन में दृढ़ता आती है। जब तक श्वास की क्रिया चलती रहती है तब तक चित्त भी उसके साथ चंचल रहता है। जब श्वास वायु की गति स्थगित हो जाती है तब मन में भी स्थिरता आ जाती है अथवा निष्पन्दता आ जाती है। इस तरह 'प्राणायाम' के अभ्यास से योगी बहुत देर तक अपना श्वास रोक सकता है और समाधि की अवधि को बढ़ा सकता है।

'प्राणायाम' द्विविध होता है—अगर्भ और सगर्भ। जप एवं ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम 'अगर्भ' एवं जप तथा ध्यानपूर्वक किया गया प्राणायाम 'सगर्भ' कहा जाता है। अगर्भ

की अपेक्षा सगर्भ प्राणायाम शतगुणा अधिक महत्त्वशाली बतलाया गया है। अतः योगी लोग सगर्भ प्राणायाम ही करते हैं।[1] प्राण को वश में कर लेने पर देह के अन्य वायु भी जीत लिये जाते हैं।

5. प्रत्याहार—

सांसारिक वस्तुओं में लगे हुए मन का प्रत्यावर्तन ही 'प्रत्याहार' कहा गया है, अर्थात् प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों को अपने-अपने बाह्य विषयों से खींचकर हटाना और उन्हें मन के वश में रखना। जब इन्द्रियाँ पूर्णतः मन के वश में आ जाती हैं तब वे अपने स्वाभाविक विषयों से हटकर मन की ओर लग जाती हैं। इस अवस्था में, आंख, कान के सामने सांसारिक विषयों के रहते हुये भी हम उन्हें देख सुन नहीं सकते। रूप, रस, गंध, शब्द या स्पर्श का कोई भी प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। यह अवस्था बहुत ही कठिन है, तथापि असंभव नहीं। एतदर्थ अत्यन्त दृढ़ संकल्प और घोर इन्द्रिय निग्रह की साधना आवश्यक है।

6. धारणा—

संक्षेप में चित्त का स्थानबन्ध ही 'धारणा' है। चित्त को स्थिरतापूर्वक लगाने के लिये एकमात्र परमात्म शिव ही स्थान हैं, दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि शिवातिरिक्त सभी वस्तुयें दोष त्रयात्मक हैं। धरणा से मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है। अतः धारणा के अभ्यास से मन को धीर करना चाहिये। यही योग की असल कुंजी है। इसी को सिद्ध करने वाला समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है।[2] धारणा ही उचित अवस्था में मन एक क्षण के लिए भी अपने लक्ष्य शिव, से विचलित नहीं होता है।

---

1. अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
   जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्॥
   अगर्भाद्गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
   तस्मात् सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्॥—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 33, 34

7. ध्यान—

ध्यै चिन्तायां, अर्थात् चिन्तार्थक 'ध्यै' धातु से ध्यान शब्द की निष्पत्ति हुई है। अत: अव्याक्षिप्त मन से शिव-विषयक, मुहुर्मुह: चिन्ता का ही नाम 'ध्यान' है। ध्येय में अवस्थित चित्त का प्रत्ययान्तर रहित सदृश प्रत्यय (अपने को शिव समान मानना) ही ध्यान कहा गया है। [1] इस संसार में सब कुछ छोड़कर देवाधिदेव शिव ही परम ध्येय (ध्यान करने योग्य) कहे गये हैं।

'ध्यान' के द्वारा विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले भिन्न-भिन्न अंशों या स्वरूपों का बोध होता है, तदन्तर अविराम ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण चित्त सामने आ जाता है और उस वस्तु के असली रूप का दर्शन हो जाता है। इस तरह योगी के मन 'ध्यान' के द्वारा ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का प्रयोजन, इन चारों बातों को जानकर ही योग वेत्ता को योगाभ्यास करना चाहिए। 'ध्यान' करने वाले पुरुष को ज्ञानवैराग्यसंपन्न, श्रद्धालु, क्षमावान, निर्मम एवं सदा उत्साही होना चाहिए। जप से श्रान्त होने पर 'ध्यान' करना चाहिये और ध्यान से श्रान्त होने पर पुन: जप करना चाहिये। इस प्रकार 'जप' और 'ध्यान' में लीन रहनेवाले व्यक्ति को शीघ्र ही योग की सिद्धि होती है।

परमात्म-शिव का तत्तत्स्थानों में आसन एवं ध्यान—साधक को नासाग्र, नाभि, कण्ठ, तालुरन्ध्र, भ्रूमध्य, ललाट, मूर्द्धा, आदि स्थानों में कमलासन पर विराजमान शिव एवं शक्ति की कल्पना कर उनका ध्यान करना चाहिए। उनका परमासन सावरण तथा निरावरण भी होता है। परमात्म-शिव का कमलासन द्विदल, षोडशार, द्वादशार, दशार, षडस्र अथवा चतुरस्र होना

---

2. धारणा नाम चित्तस्य स्थानबन्ध: समासत:। श० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 48
1. अव्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानं नाम तदुच्यते।
ध्येयावस्थितचित्तस्थ सदृश: प्रत्ययश्च य:॥—वही—37 : 52

चाहिये। भ्रू (भौंह) के मध्य का कमलासन द्विदल एवं विद्युत की भाँति उज्ज्वल होना चाहिये। इसी प्रकार से अन्य, विभिन्न रूप से पत्र संख्या वाले, कई कमलासनों की कल्पना की गयी है, यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इन कमलों के पर्ण मूल से लेकर अवसान तक वर्ण (ककरादि अक्षर) से अंकित होने चाहिये, अर्थात् ये अक्षर ही उन कमलों के पर्ण रूप में कल्पित होने चाहिये। किसी कमलासन पर ककरादि टकारान्त वर्ण होने चाहिये तो किसी पर डादि फान्त वर्णों का उल्लेख कल्पित होना चाहिए। इसी प्रकार बहुत सी विधियाँ वहाँ लिखी हैं।

षट्चक्र—कैलाश संहिता के अनुसार कमलासनों की संख्या छह है। इन्हीं को षट्चक्र भी कहते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—1. मूलाधार, 2. स्वाधिष्ठान, 3. मणिपूरक, 4. अनाहत, 5. विशुद्ध, और 6. आज्ञाचक्र।[1] ये षट्चक्र विद्युत कोटि के समान प्रकाशनमान्, सर्वतेजोमय एवं उत्कृष्ट बतलाये गये हैं। इन्हीं के बीच सच्चिदानन्द विग्रह, परमात्म-शिव का ध्यान करना चाहिये।

ध्यान का क्रम—योग मार्ग पर आगे की ओर बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि ध्यानकर्ता शिवशास्त्र में विनिश्चित विभिन्न प्रकार की स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम शिव की मूर्तियों का पहले ध्यान करे। ध्यान का यह क्रम उत्तरोत्तर सूक्ष्मावस्था की ओर बढ़ता है। ये मूर्तियाँ चारों ओर से दीप्यमान, शुद्धदीप—शिखाकार, अपनी शक्ति से पूर्णमण्डित, अंगुष्ठमात्र अथवा इन्दुरेखा समाकार अथवा तारारूप अथवा नीवार शूकसदृश (तिन्नी धान की नोक की तरह), विससूत्राभ (कमल-दण्ड के सूत की तरह आभावाला) अथवा कदम्बगोलकाकार अथवा तुषारकणिकासदृश होनी चाहिए। ब्रह्मादि सदाशिवान्त, जैसा कि तत्तत्, चक्रनिरूपण के प्रसंग में बतलाया गया है, अथवा भव आदि शिव की अष्टमूर्तियां भी पहले ध्यान का विषय हो सकती हैं, क्योंकि ये भी परमात्म-शिव की स्थूल-मूर्तियाँ ही कही गयी है। मन की स्थिरता के

---

1. शि० पु०, कै० सं०—4 : 7, 8

लिये, कुछ लोग स्थूल ध्यान करते हैं। जब मन स्थूल वस्तु पर निश्चल हो जाता है तब वह सूक्ष्म पर स्थिर होता है। अत: साधक को सर्वप्रथम स्थूल लक्ष्य पर ही मन को लगाना चाहिए।

सविषय एवं निर्विषय ध्यान—इस प्रकार आदि में ध्यान सविषय होना चाहिए। सविषय ध्यान में प्रवीण होने पर निर्विषय ध्यान का अवलम्बन करना चाहिए।[1] किन्तु शिव पुराण का कहना है कि विद्वान् पुरुषों का मत तो यही है कि 'निर्विषय ध्यान' होता ही नहीं।[2] ध्यान के विषय में कहा गया है कि बुद्धि की कोई सन्तति ही है, जिसे ध्यान कहा जाता है।[3] अत: निर्विषयक ध्यान में केवल बुद्धि ही प्रवर्तित (प्रवाहित) होती है।[4]

परमार्थत: जिसे निर्विषय ध्यान कहा जाता है वह सूक्ष्माश्रय ध्यान ही है न कि निर्विषय। अथवा परमात्म शिव के किसी विशेष रूप का आश्रयण कर किया गया ध्यान सविषय एवं निराकारात्मसंवित्ति ही निर्विषय ध्यान कहा गया है। यही सविषय एवं निर्विषय ध्यान क्रमश: सबीज एवं निर्बीज ध्यान भी कहा गया है।

प्राणायाम से शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति एवं प्रसाद तथा शम की उपलब्धि होती है। ध्यान एवं प्राणायाम के परिणामस्वरूप मन एकदम निर्मल हो जाता है और शिव सम्बन्धी विचार मुहुर्मुहु: उसमें तरंगित होने लगते हैं। जैसा पहले भी कहा गया है कि 'ध्यान' अन्य कुछ न होकर बुद्धि प्रवाह रूप ही है। उक्त ध्यान के एकमात्र अवलम्बन ध्येय, स्वयं शम्भु शिव ही, विद्वानों के द्वारा कहे गये हैं।[5] ध्यान के द्वारा प्रसन्नता और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं। अत: कल्याणार्थी को अवश्य ही ध्यान के अवलम्बन का प्रयत्न करना चाहिये। इस संसार में ध्यान से

---

1. ध्यानमादौ सविषयं ततो निर्विषयं जगु:—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—39 : 4
2. तत्र निर्विषयं ध्यानं नास्तीत्येव सतां मतम्।—वही—39 : 5
3. बुद्धेर्हि सन्तति: काचिद्ध्यानमित्यभिधीयते।—वही—39 : 5
4. तेन निर्विषया बुद्धि: केवलेह प्रवर्तते।—वही—39 : 6
5. वही—39 : 19

अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरी वस्तु नहीं है। ध्यान करने वाले साधक परमात्म-शिव को बहुत अधिक प्रिय हैं अपेक्षा उनके जो कि केवल धार्मिक कृत्य का ही संपादन करते हैं अर्थात् अन्य धार्मिक कृत्यों की अपेक्षा ध्यान बहुत श्रेष्ठ है। अत: शिव पुराण का मत है कि नि:श्रेयस्-सिद्धि के लिए प्राणी अवश्य ध्यान करे।[1]

8. समाधि—

योग साधन की अन्तिम सीढ़ी है 'समाधि'। 'समाधि' से सर्वत्र प्रज्ञालोक प्रवर्तित होता है।[2] समाधि के अर्थमात्र (ध्येयमात्र) का आभास होता है। उस समय अपने स्वरूप का बिल्कुल ही भाव नहीं होता तथा योगी की स्थिति एकदम स्तिमित उदधि के समान होती है।[3] समाधिस्थ योगी न कुछ सुनता है, न किसी वस्तु का आघ्राण करता है। वह न तो बोलता और न देखता ही है। उसे किसी भी स्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता और न तो उसका मन संकल्प एवं विकल्प ही करता है। वह अभिमान भी नहीं करता। उसकी स्थिति पूर्णरूप से काष्ठवत् होती है। इस प्रकार से परमात्म-शिव में आत्मा का विलीनीकरण ही समाधिस्थ होता है।[4]

जिस प्रकार निर्वात् स्थान में स्थापित दीपक कभी भी स्पन्दित नहीं होता उसी प्रकार समाधिनिष्ठ व्यक्ति भी उससे विचलित नहीं होता। इस प्रकार से उत्तम योग का अभ्यास करने वाले योगी के सम्पूर्ण विघ्न शनै: शनै: विनष्ट हो जाते हैं।

योगगत विघ्न— जब योगी 'योग' का अभ्यास प्रारम्भ करता है तब उसके मार्ग में बहुत से विघ्न उत्पन्न होकर उसे मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी अवस्था में उनको बिना वश में किये उद्देश्य सिद्धि असम्भव है। अत: उन पर विजय प्राप्त करना योगी के

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—39 : 28
2. वही—37 : 61
3. वही—37 : 62
4. एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते।—वही—37 : 65

लिए अनिवार्य है।

सामान्य विघ्न— योग में उत्पन्न होने वाले कुछ विघ्न ये हैं—आलस्य, तीव्र व्याधियाँ, प्रमाद, स्थानसंशय (ध्येय सन्देह), अनवस्थितचित्तत्व, अश्रद्धा, भ्रान्ति-दर्शन, दु:ख, दौर्मनस्य, विषयों की ओर आकर्षण। ये दश योगाभ्यासी के लिए अन्तराय कहे गये हैं। आलस्य दैहिक एवं चित्त सम्बन्धी द्विविध होता है। दोष (सम्भवत: आलस्य) धातु-वात, पित्त, कफ-के वैषम्य से उत्पन्न होता है और व्याधियाँ कर्मदोष से उत्पन्न होती हैं।[1]

योग साधना के उपायों का उपयोग न करना ही प्रमाद है। ध्येय के विषय में संशय होना ही स्थानसंशय कहा गया है। मन की अप्रतिष्ठा अनवस्थिति कही गयी है। योगमार्ग में, भावरहित वृत्ति ही अश्रद्धा कही गयी है। विपर्यस्त मति का ही नाम भ्रान्ति है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाला, चित्त सम्बन्धी दु:ख, आध्यात्मिक दु:ख कहा गया है। पुराकृत कर्मों के परिणामस्वरूप शारीरिक दु:ख ही आधिभौतिक दु:ख कहा गया है। वज्र, अग्नि एवं विषादि से उत्पन्न होने वाला दु:ख आधिदैविक दु:ख कहा गया है।[2] इच्छा के विघात से उत्पन्न होने वाला क्षोभ ही दौर्मनस्य कहा गया है विचित्र विषयों में विभ्रम होना ही लोलता है।

सिद्धि सूचक विघ्न– इन विघ्नों के शान्त होने पर योगासक्त योगी के मार्ग में सिद्धिसूचक दिव्य उपसर्ग प्रवर्तित होते हैं अर्थात् सिद्धिसूचक अन्य विघ्न उपस्थित होते हैं।[3] ये विघ्न निम्न हैं—प्रतिभा, श्रवण, वार्ता, दर्शन, आस्वाद, वेदना। ये षड् (छ:) उपसर्ग योग के व्यय के लिये हुआ करते हैं।

इस तरह शिव पुराण में योगियों की बहुत सी दिव्य सिद्धियाँ वर्णित हैं। उनका वर्णन **अत्यधिक विस्तृत एवं अनावश्यक होने के** कारण यहाँ नहीं किया जा रहा है। ये सिद्धियाँ,

---

1. धातुवैषम्यजा दोषा व्याधय: कर्मदोषजा:।—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—38 : 3
2. वही—38 : 7
3. वही—38 : 9

जिन्हें शिव पुराण में उपसर्ग की संज्ञा दी गयी है, योगी को योग से, महायोग से, जिसे शिवतादात्म्य कहते हैं, की ओर बढ़ने में बाधक होती हैं। इनके प्रलोभन में पड़कर साधक अपने चरम लक्ष्य से वंचित रह जाता है। यही कारण है कि योग दर्शन (पुराण-वर्णित एवं पातंजल योग दर्शन) का कड़ा आदेश है कि साधक इन सिद्धियों के लोभ में कभी भी न पड़े। जो इन सिद्धियों को तृण के समान समझ कर इनका परित्याग कर देता है, उसे ही परायोग सिद्धि की प्राप्ति होती है।[1] योग का लक्ष्य मुक्ति-प्राप्ति है। साधक को अलौकिक ऐश्वर्यों की चकाचौंध में नहीं पड़ना चाहिये, नहीं तो वह पथभ्रष्ट हो जाता हे। साधक को चाहिये कि वह सिद्धियों को फेर में न पड़कर आगे बढ़ता जाय और अन्तिम लक्ष्य (पूर्ण मुक्ति) तक पहुँच जाय।

पातंजल योग से शिव पुराण योग की तुलना—

शिव पुराण में वर्णित योगांगों एवं पातंजल योगसूत्र में वर्णित योगांगों की विधियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। शिव पुराण योग की अधिकांश बातों के लिए पातंजल योगसूत्र का ऋणी है। इस बात की सूचना स्वयं शिव पुराण में ही उपलब्ध है। अन्य तात्त्विक समता के अतिरिक्त पातंजल योगसूत्र को स्पष्ट शब्दों में वहाँ निर्देश भी किया गया है। किन्तु कहीं-कहीं शिव पुराण पातंजल योगसूत्र से एक भिन्न दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ शिव पुराण में बतलाया गया है कि 'पर' प्राणायाम के समय साधक को जल्प, भ्रमण एवं मूर्छा आदि होता है। इसी तरह कई शारीरिक विकार भी वहाँ बतलाये गये हैं। किन्तु पातंजल योगसूत्र में ऐसी बातें घटित नहीं होतीं और न इनका वहाँ वर्णन ही है।

शिव पुराण और पातंजल योगसूत्र में दूसरा वैभिन्य वहाँ दृष्टिगोचर होता है, जहाँ पर शिव पुराण में कहा गया है कि योगी (साधक) जब योग की मुद्रा में बैठे तो वह अपनी दृष्टि

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—38 : 44

को नासिकाग्र पर एकत्रित करे और इतस्तत: दिशाओं की ओर अपनी दृष्टि न ले जाय। पातंजल योगसूत्र में योग की इस मुद्रा का वर्णन नहीं किया गया है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक उल्लेख्य अन्तर यह है कि पतंजलि का योगसूत्र, सर्वप्रथम, मन को स्थूल जागतिक पदार्थों पर केन्द्रित होने को कहकर, पुन: तन्मात्राओं, इन्द्रियों एवं अहंकार पर क्रमश: बढ़ने (केन्द्रित होने) की सम्मति देता है तब शिव पुराण के शैवयोग का योगी शिव स्वभाव का ही ध्यान करता है। योगशास्त्र में भी यह कहा गया है कि कोई योगी, इस क्रम से न बढ़कर, ईश्वर का ही ध्यान कर सकता है। और इस ईश्वर के ध्यान से ही कोई योगी मोक्ष लाभ कर सकता है। योगशास्त्र के अनुसार योगी का ध्यानाभ्यास द्विधा होता है। प्रथम तो यह है कि वह सीधे ईश्वर का ध्यान कर सकता है और दूसरी पद्धति यह है कि योगी ध्यान की क्रमिक सीढ़ियों (श्रेणियों) से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम की ओर बढ़ता हुआ अन्त में अपने को पूर्णरूप से प्रकृति में विलीन कर देता है जिससे कि पुन: इस संसार में उसका आगमन न हो। मन के उक्त क्रमिक विकसित होते हुए ध्यान का परिणाम यह होता है कि मन पर पड़े सांसारिक प्रभाव शनै: शनै: समाप्त हो जाते हैं। इससे ईश्वर साक्षात्कार करने में सारल्य होता है।

नादानुसन्धान—

उमा संहिता के षड्विंशति अध्याय में कालवंचन (कालविजय) के प्रसंग में नादानुसन्धान का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया गया है। यत: नादानुसन्धान-प्रक्रिया योग का एक अंग है, अत: यहाँ उसका वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

योग के जानकार मनुष्य को चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्रजा के सो जाने पर दीपक रहित अन्धकाराच्छन्न, स्थान में, सुन्दर आसन पर आसीन हो, श्वास रोककर योग का अभ्यास करे।[1]

---

1. शि० पु०, उ० सं०—26 : 24

इस प्रसंग में योगी को चाहिए कि वह सर्वप्रथम एक मुहुर्त तक, तर्जनी नामक अंगुली से अपने कानों को खूब ढक कर रक्खे। ऐसा करने से वह्नि समुद्भव शब्द सुनाई पड़ता है।[1] शास्त्रकारों के अनुसार यह अनाहत ध्वनि सुषुम्णा नाड़ी में सुनी जाती है। कहीं-कहीं तो अंगुष्ठ से कर्ण का, तर्जनी से नेत्र का, अन्य अवशिष्ट अंगुलियों से नासापुट एवं मुख के भी आच्छादन की बात कही गयी है।[2] जो साधक नित्य इसी प्रकार दो घड़ी तक उक्त शब्द को सुनता है वह इच्छा और मृत्यु को जीतकर जगत् में मुक्त पर्यटन करता है। वह सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होकर सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त करता है।

उक्त वह्नि समुद्भव शब्द, वर्षाकालीन जल से परिपूर्ण, आकाश में विचरण करने वाले, मेघ के निनाद की भाँति बतलाया गया है। इस ध्वनि को सुनकर योगी शीघ्र ही संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। जैसे-जैसे योगी का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे यह ध्वनि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होकर, उसके द्वारा, सुनी जाती है।[3] यह ध्वनि ही शब्द ब्रह्म कही जाती है। इसके जान लेने पर, प्राणी संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[4]

प्राणज्ञ मनीषियों के द्वारा उक्त वह्नि-समुद्भव शब्द नव प्रकार का कहा गया है, अर्थात् वह नव प्रकार से सुना जाता है। सर्वप्रथम वह शब्द घोष की भाँति सुनाई पड़ता है। यह नाद आत्मशुद्धिकारक, सम्पूर्ण व्याधियों का हरण करने वाला, साधक को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला कहा गया है। इसके बाद क्रमशः वह शब्द कांस्य, शृंग, घण्टा, वीणा, वांशिक, दुन्दुभि, शंख, एवं मेघ की ध्वनि की भाँति सुनाई पड़ता है।[5]

किन्तु शिव पुराण का कहना है कि साधक को चाहिये कि वह इन नवविध शब्दों का

---

1. शि० पु०, उ० सं०—26 : 28
2. हठयोग, उपदेश 4, श्लोक—68
3. शि० पु०, उ० सं० 26 : 29
4. वही—26 : 30
5. वही—26 : 40

परित्याग कर इनसे भी श्रेष्ठ एवं उद्ध्र्वस्थित 'तुंकार' नाद का अभ्यास करे। जो साधक अनन्य मन से नित्य ही ब्रह्मरूप 'तुंकार' का अभ्यास करता है उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है।[1]

शास्त्रान्तर से ज्ञात होता है कि जब साधक अपने हाथों से कानों को ढककर, श्वास का अवरोधन कर, अनाहत ध्वनि को सुनने का अभ्यास करता है, तब जैसे-जैसे प्राणवायु क्रमशः ऊपर की ओर स्थित ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि (यह कण्ठ में वर्तमान है), भ्रूमध्याकाश, रुद्रग्रन्थि (यह ग्रन्थि आज्ञाचक्र में वर्तमान है) आदि स्थानों का भेदन कर ऊपर की ओर उठता है वैसे-वैसे सूक्ष्म-सूक्ष्म ध्वनियों का श्रवण होता है। सर्वप्रथम यह ध्वनि स्थूल रूप से सुनाई पड़ती है किन्तु साधक का जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसे सूक्ष्म ध्वनि का श्रवण होने लगता है।[2] एक-एक ध्वनि के श्रवण से साधक योगी को एक-एक सिद्धियाँ प्राप्त होती चलती हैं। जैसे दुन्दुभिशब्द के ध्यान से साधक जरा मृत्यु को जीत लेता है। शंख शब्द से वह कामरूप हो जाता है, आदि-आदि।[3] किन्तु 'तुङ्कार' के अभ्यास से साधक सब कुछ कर सकता है। वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, कामरूपी हो जाता है। उसे कभी किसी प्रकार का विकार नहीं होता और वह अन्त में साक्षात् शिव ही हो जाता है।[4]

यह अनाहत ध्वनि ही शब्द ब्रह्म एवं परमतत्त्व के नाम से भी जानी जाती है। यही परम ब्रह्म भी है। व्यक्ति इस परमतत्त्व को जान लेने के अनन्तर जन्म एवं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यदि कोई सैकड़ों वर्ष का वृद्ध भी निद्रा एवं आलस्य रूप महाविघ्न को प्रयत्नपूर्वक जीतकर नित्य ही सुखासन पर स्थित हो शब्दब्रह्म का आयुपर्यन्त अभ्यास करता है तो वह भी

---

1. शि० पु०, उ० सं०—26 : 41, 52
2. हठयोग० उप० 4, श्लोक—70-76
3. शि० पु०, उ० सं०—26 : 44-53
4. वही—26 : 52

रोगरहित, वीर्यशाली एवं मृत्युंजय होता है। जब वृद्धों के ऊपर अनाहत शब्द के अभ्यास का यह परिणाम है तो तरुणजनों के विषय में क्या कहना।

बुद्धिमान् प्राणी ओंकार, मन्त्रविशेष बीज आदि के अभ्यास पर बल न देकर अनुच्चार्य शब्दब्रह्म परमशिव रूप अनाहत का ही ध्यान करते हैं।[1] जिस प्रकार मकरन्द का पान करने वाला भृंग गन्ध की अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार नाद में आसक्त चित्त भी स्रक्, चन्दन एवं वनिता आदि विषयों की आकांक्षा नहीं करता। नादरूपबन्धन से बद्ध अतएव चापल्यशून्य मन उसी प्रकार से सुतरां स्थैर्य को प्राप्त करता है जैसे छिन्न पक्ष खग। अतः योग को चाहने वाले साधक को चाहिये कि वह सम्पूर्ण चिन्ताओं का परित्याग कर सावधान मन से नाद का ही अनुसन्धान करे।

शिव पुराण में भक्ति योग—

शिव पुराण के अनुसार सर्वज्ञ जगत् के ईश्वर परमात्म-शिव परम भक्ति से ही दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यथा इनका दर्शन नहीं होता। रुद्र, हरि, हर तथा और भी देवेश्वर परम भक्ति से ही उनके दर्शन की इच्छा करते हैं। मानव परमात्म-शिव में भक्ति करने मात्र से ही मुक्त हो जाता है।[2]

किन्तु परमात्म-शिव की यह भक्ति भी परम दुर्लभ है। उनके प्रसाद के बिना किसी भी प्राणी के हृदय में इसका प्रादुर्भाव असम्भव है। परन्तु जिस भाँति बीज से अंकुर और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ईश्वर, भक्ति और प्रसाद में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। परमात्म-शिव के प्रसाद से उनकी भक्ति एवं उनकी भक्ति से प्रसाद की प्राप्ति होती है।

---

1. शि० पु०, उ० सं०—26 : 38
2. शि० पु०, वि० सं०—3 : 12-14

सर्ग-प्रतिसर्ग

पुराण के पंचलक्षण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित में सर्ग (सृष्टि) प्रथम तथा मुख्य लक्षण है। शिव पुराण में सृष्टि विद्या का वर्णन बड़े ही वैशद्य के साथ किया गया है। यद्यपि पौराणिक सृष्टि वर्णन पर सांख्य दर्शन के द्वारा वर्णित सृष्टि विद्या का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है, तथापि शिव पुराण का सृष्टि वर्णन सांख्य की सृष्टि-विद्या का अक्षरशः अनुकरण मात्र न होकर अपनी भी विशिष्टता रखता है।

सर्ग

शिव पुराण में सर्ग (सृष्टि) के नव प्रकार वर्णित किये गये हैं। इन्हीं नवविध सर्गों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है—

सर्ग मुख्यतया त्रिधा होता है—(1) प्राकृत सर्ग, (2) वैकृत सर्ग तथा (3) प्राकृत-वैकृत सर्ग। प्राकृत तथा वैकृत सर्ग की भिन्नता के विषय में शिव पुराण का कथन है कि प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् उसकी सृष्टि नैसर्गिक रूप से होती है। उसके निमित्त सृष्टिकर्ता का अपनी बुद्धि लगाने की आवश्यकता नहीं होती हे। इसके विपरीत वैकृत सर्ग बुद्धि पूर्वक होता है अर्थात् पर्याप्त सोच-समझकर ब्रह्मा ने इस प्रकार सृष्टि का निर्माण किया है—

प्राकृताश्च त्रयः पूर्वे सर्गास्तेऽबुद्धिपूर्वकाः।
बुद्धिपूर्वं प्रवर्तन्ते मुख्याद्याः पंच वैकृताः॥[1]

प्राकृत सर्ग की संख्या तीन है तथा वैकृत एवं प्राकृत-वैकृत सर्ग की संख्या क्रमशः पाँच तथा एक है। इस प्रकार सब मिलाकर सर्गों की संख्या नव होती है।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—12 : 18

1. प्राकृत सर्ग—

प्राकृत सर्ग तीन प्रकार का होता है—(1) ब्रह्म सर्ग, (2) भूतसर्ग, तथा (3) वैकारिक सर्ग।

ब्रह्म सर्ग—महतत्त्व के सर्ग को ब्रह्मा का प्रथम सर्ग कहते हैं—

प्रथमो महतः सर्गो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।[1]

भूत-सर्ग—पंचतन्मात्राओं की सृष्टि को भूतसर्ग कहते हैं—

तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गः स उच्यते।[2]

पंचमहाभूतों की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था ही तन्मात्र के नाम से अभिहित होती है।

वैकारिक सर्ग—इन्द्रिय सम्बन्धी सृष्टि को वैकारिक सर्ग कहते हैं—

वैकारकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः।[3]

2. वैकृत-सर्ग—

इसके पाँच भेद होते हैं—

मुख्य सर्ग— पूर्व वायवीय संहिता के द्वादश अध्याय के अनुसार सर्ग के आदि में ब्रह्माजी के बुद्धिपूर्वक सृष्टि का चिन्तन करने पर, उसके ध्यान काल में उन्हीं से तमोमय मोह (अज्ञान), महामोह (भोगेच्छा), तामिस्र (क्रोध), अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) तथा अविद्या प्रादूर्भूत हुई।[4] इसके अतिरिक्त उनके पुनः ध्यानकाल में जो सृष्टि हुई वह ज्ञानशून्य, भीतर बाहर से तमोमय तथा जड नगादि (वृक्ष, गुल्म, लता, तृण, वीरुध) रूप पंचविध जड़ पदार्थों

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—12 : 13
2. वही—12 : 14
3. वही—12 : 14
4. वही—12 : 1, 2

की थी। यह जड़-सृष्टि भूतल पर अपनी चिरस्थायिता के कारण ही मुख्य सृष्टि कही गयी है—'मुख्या वै स्थावरा: स्मृता:।[1]

शिव पुराण, चेतन पदार्थों की भांति उक्त पंचविध जडसृष्टि में भी बुद्धि एवं इन्द्रियों की सत्ता बतलाता है। किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ पर चेतन प्राणियों की बुद्धि एवं इन्द्रियाँ उन्मुक्त रहती है वहीं पर जड़ पदार्थों की बुद्धि तथा इन्द्रियाँ चारों ओर से तम से आवृत्त रहती हैं।[2]

तिर्यक् सर्ग— ब्रह्मा ने इस प्रथम सृष्टि को पुरुषार्थ के लिए असाधिका जानकर अप्रसन्न मन हो दूसरी सृष्टि का निश्चय कर पुन: ध्यान किया, उसी समय तिर्यक् योनि के जीवों का उदय हुआ।[3] इस सर्ग में पशु तथा पक्षियों की गणना होती है। ये सब जीव अन्त: प्रकाश तथा बाहर से अज्ञानावृत्त एवं अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले (उत्पथ-ग्राहिण:) होते हैं, स्थावर सृष्टि के बाद जंगम सृष्टि का यह प्रथम उदय हुआ।

देवसर्ग—इस सृष्टि को भी परम पुरुषार्थ का असाधक जानकर खिन्न मन वाले ब्रह्मा ने अन्य सृष्टि का निश्चय कर उद्ध्वस्रोतस्, सात्विकवृत्ति देवों की सृष्टि की। इस सृष्टि के प्राणी सुखप्रधान (सुखप्रीतिबहुला:) बाहर एवं भीतर प्रकाश से संयुक्त होते हैं।

मनुष्यसर्ग—देवसर्ग भी ब्रह्मा जी की दृष्टि में मोक्ष का असाक्षक ही निकला। अत: ब्रह्मा जी ने पुन: अपने ध्यान से एक नवीन प्राणिवर्ग का निर्माण किया जो पृथ्वी पर ही भ्रमण करने वाले जीव थे। ये दु:ख प्रधान (दु:खसमुत्कटा:) बाहर तथा भीतर प्रकाशशील होते हैं। इनमें सत्त्वगुण की न्यूनता तथा रजोगुण की अधिकता एवं तम का उद्रेक रहता है। यही वर्ग परम पुरुषार्थ का साधक माना गया है।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—12 : 15
2. वही—12 : 4
3. वही—12 : 6

अनुग्रह सर्ग—अनुग्रह सर्ग चार प्रकार का बतलाया गया है—विपर्य, सिद्धि, शक्ति तथा तुष्टि।[1]

3. कौमार सर्ग—

कौमार सर्ग नवम सर्ग कहा गया है। पूर्वकाल में ब्रह्मा जी ने सनक आदि की मानसी सृष्टि की थी। ये मानसपुत्र ब्रह्मा जी के ही समान शक्ति-सम्पन्न तथा अध्यात्म विद्या में निपुण थे।[2] कौमार सर्ग प्राकृत-वैकृत उभयात्मक माना गया है—'कौमारो नवमः प्रोक्तः प्राकृतो वैकृतश्च सः।'[3]

शिव पुराण में उक्त नवविध सर्ग के अतिरिक्त दो प्रकार के सर्गों का नाम और मिलता है। इनके नाम हैं—रौद्री सृष्टि एवं ब्राह्मी सृष्टि।

रौद्री सृष्टि—ब्रह्मा जी ने सृष्टि की वृद्धि के लिए सनत्कुमार सनक आदि की मानसी सृष्टि की थी, किन्तु संसार तथा सन्तान के प्रति वे (सनकादि) उदासीन ही रहे। अतः सृष्टि की कामना से ब्रह्मा जी ने पुनः परम तप किया। किन्तु उनकी तपस्या का जब कोई फल न निकला तब उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। उसी समय क्रुद्ध ब्रह्मा के नेत्रों से अश्रु के बिन्दु भूतल पर टपक पड़े। इन्हीं अश्रु-बिन्दुओं से भूतों एवं प्रेतों की उत्पत्ति हुई।[4] इनके प्रादुर्भाव को देखकर ब्रह्मा जी मूर्छित हो अपने प्राणों का परित्याग कर दिये।[5] उसी समय वहाँ भगवान् नील लोहित रुद्र (परमात्म शिव) का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अपने आपको एकादश रूपों में विभक्त कर ब्रह्मा को जीवनदान दिया। आगे ये ही एकादश रुद्र के नाम से संसार में विख्यात हुए। इन रुद्रों

---

1. पंचमोऽनुग्रहः सर्गश्चतुर्धा संव्यवस्थितः।
   विपर्ययेण शक्त्या च तुष्ट्या द्विया तथैव च॥—शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—12 : 12
2. अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मनः समान्।—वही—12 : 19
3. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—15 : 47
4. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—12 : 22-24
5. वही—12 : 25

का प्रादुर्भाव संसार के कल्याण एवं प्रजा की सन्तान-वृद्धि के लिए हुआ था।

ब्राह्मी सृष्टि—भगवान् रुद्र (परमात्म शिव) के द्वारा जीवन एवं सृष्टि के लिये आज्ञा प्राप्त कर ब्रह्मा जी ने मारीचि भृगु, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, अत्रि, वशिष्ठ, धर्म, संकल्प, नामक द्वादश मानसपुत्रों की सृष्टि की। ब्रह्मा के इन पुत्रों ने सनकादि का अनुकरण न कर विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया।[1] आगे चलकर इनके द्वादश वंश विस्तार एवं ख्याति को प्राप्त हुये।[2] इन्हीं से सृष्टि का विस्तार हुआ।

प्रतिसर्ग

शिव पुराण के अनुसार परार्द्ध की समाप्ति पर प्रतिसर्ग हुआ करता है।[3] ब्रह्मा के एक दिन का नाम कल्प एवं परार्द्ध है। इस एक दिन में ही चतुर्दश मनुओं का काल बीतता है। प्रचलित कल्प में अनेक संक्षिप्त सृष्टियाँ एवं प्रति सृष्टियाँ बतलाई गई हैं।[4] प्रत्येक मन्वन्तर में भी वर्ग एवं संहार समान रूप से चला करता है। कल्प की समाप्ति पर अत्यन्त प्रचण्ड काल मारुत सम्पूर्ण वृक्षों एवं वनों को उन्मूलित कर देता है। पावक त्रिलोकी को तृण की भाँति भस्म कर देता है। सागर अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर बैठता है। सम्पूर्ण पृथ्वी मूसलाधर वृष्टि के कारण जलमग्न हो जाती है। पुनः निद्रा की समाप्ति पर ब्रह्मा जी सूकर का रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार करते हैं और पुनः सृष्टि का क्रम आगे की ओर बढ़ता है।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—12 : 50
2. वही—12 : 51
3. कालसंख्याविवृत्तस्य परार्द्धो ब्रह्मणः स्मृतः।
   तावांश्चैवास्य कालोऽन्यस्तस्यान्ते प्रतिसृज्यते॥—वही—11 : 2
4. य एष खलु कल्पेषु कल्पः सम्प्रति वर्तते।
   तत्र संक्षिप्य वर्तन्ते सृष्टयः प्रतिसृष्टयः॥—वही—11 : 6

षष्ठ अध्याय

शिव पुराण का साहित्यिक अनुशीलन

1. रस–विधान
2. अलङ्कार–निरूपण
3. छन्दोयोजना
4. भाषा–शैली

शिव पुराण का साहित्यिक अनुशीलन

संस्कृत भाषा में साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति 'सहितयोः भावः साहित्यम्'[1] की जाती है। इस प्रकार शब्द तथा अर्थ का सहभाव ही साहित्य कहलाता है। अतः साहित्य शब्द का प्रयोग संचित ज्ञान के उस समस्त कोष के लिए हो सकता है जो किसी भाषा में निबद्ध हो।[2] इस प्रकार साहित्य का क्षेत्र अति विशाल हो जाता है। काव्य एवं शास्त्र के सहित समस्त वांगमय की गणना उसमें की जा सकती है।

संस्कृत भाषा में साहित्य शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में किया गया है। एक तो समस्त वांगमय के अर्थ में दूसरा केवल काव्य के अर्थ में। बिल्हण ने साहित्य शब्द का प्रयोग समस्त वांगमय अर्थ में करके काव्य को उसके अन्तर्गत माना है।[3] इसके विरुद्ध कुन्तक ने साहित्य शब्द का प्रयोग सामान्य शब्दार्थ के लिए न करके विशिष्ट-सुन्दर शब्दार्थ के लिए ही किया है जो काव्य का ही द्योतक है।[4] इसी भाँति विश्वनाथ ने भी साहित्य दर्पण में साहित्य शब्द का प्रयोग केवल काव्य के ही अर्थ में किया है। यही द्वितीय मान्यता संस्कृत साहित्य में अधिक प्रचलित हुई है। यहाँ तक कि पठन-पाठन में भी साहित्य शब्द का अभिप्राय केवल काव्य ही समझा जाता है। अतएव इसी द्वितीय मान्तया के अनुसार शिव पुराण के साहित्य से तात्पर्य उसके काव्य से ही है।

शब्द एवं अर्थ के सहभाव की चर्चा वांगमय के प्रसंग में भी की गयी है। परन्तु काव्य के शब्द एवं अर्थ सामान्य न होकर कुछ विशेष होते हैं। काव्य का शब्दार्थ किसी भी विषय

---

1. कुन्तककृत वक्रोक्तिजीवित—1 /17
2. निखिलं वांगमयं लोके यावच्छब्दस्य गोचरम्।
   शब्दार्थयास्तु साहित्यात् सर्वं साहित्यमुच्यते॥—साहित्य मीमांसा—1 /1
3. विल्हण कृत विक्रमांकदेवचरित, 1/11
4. वक्रोक्तिजीवित 1/17

का सूचक मात्र न होकर व्यंजनामय एवं विम्बात्मक होता है। अतएव वह हृदयस्पर्शी एवं सहृदयों के द्वारा अति श्लाघनीय होता है।[1] इस प्रकार सहृदयश्लाध्य एवं व्यंग्यात्मक अर्थ तथा उसे व्यक्त करने में समर्थ शब्दों का सहभाव ही काव्य में प्रस्तुत किया जाता है। यह सामान्य व्यक्ति का कार्य नहीं। इस प्रकार के शब्दार्थ का गुम्फन तो नैसर्गिक-प्रतिभासम्पन्न सहृदय ही कर सकते हैं।

अब काव्य के स्वरूप का विचारणीय विषय यह है कि वह कौन सी वस्तु है जिसकी उपस्थिति से काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है। इस समस्या के निर्णयार्थ संस्कृत जगत् में काव्य-विषयक अनेक सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई है। कुछ विचारकों ने रस को काव्य का प्राण माना, कुछ ने अलंकार, कुछ ने वक्रोक्ति तथा कुछ ने रीति को।

---

1. योऽर्थः सहृदयश्लाह्यः काव्यात्मेति व्यस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।—ध्वन्यालोक—1/2

रस-विधान

रस काव्य और नाट्य का सर्व प्रधान तत्त्व है।[1] बिना रस के किसी भी अर्थ की प्रवृत्ति नहीं होती।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को ही आनन्द रूप या रस-स्वरूप कहा गया है।[3] ''रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'' इस व्युत्पत्यानुसार आस्वाद ही रस है। आस्वाद में आनन्दमयता रहती है, इसलिए उसे आनन्द स्वरूप कहते हैं। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने तो इस आनन्द को अखण्ड, चमत्कारपूर्ण, अलौकिक, ब्रह्मानन्द-सहोदर, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय एवं वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य माना है।[4] वस्तुतः इसीलिए रसात्मक वाक्य को ही काव्य का अभिधान प्रदान किया है।[5]

रस के प्रतिष्ठापक आचार्य भरत माने जाते हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रस तथा भावों का व्यवस्थित विवेचन किया है। आचार्य भरत ने रस सामग्री के रूप में तीन मूलभूत तत्त्वों को स्वीकार किया है—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव।[6] आचार्य भरत की दृष्टि में ये तीनों भाव सहृदय सामाजिकों के अन्तःकरण में वासनात्मक रूप में विद्यमान रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा एवं विस्मय नामक आठ स्थायी भावों को जागृत करके उन्हें रसचर्वणा के योग्य बनाते हैं। इन आठ स्थायी भावों के अनुसार ही क्रमशः आठ रस होते हैं।[7]—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, एवं अद्भुत। कतिपय आचार्यों ने

---

1. ''न तत्त्वार्थशब्दोत्प्रेक्षाः श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः।''—नाट्य दर्पण—3 : 78
2. ''न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।''—नाट्य शास्त्र—1943, पृ० 92
3. ''रसो वै सः। रसोध्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।—तैत्तिरीयोपनिषद्—2 : 7
4. साहित्य दर्पण—3 : 2, 3
5. ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।''—साहित्य दर्पण—1 : 3
6. 'विभावानुभावव्यभिचारिभावसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।''—नाट्यशास्त्र, 1943, पृ० 93
7. नाट्यशास्त्र—6 : 16-18

शम को नवाँ स्थायीभाव मानकर शान्त को नवाँ रस माना है।[1]

"रस की उपलब्धि विविध भावों के क्रमिक संयोग द्वारा होती है। अतः रस की अनुकूलता" भाव का प्रमुख तत्त्व है। रस के अनुकूल विकार को भाव कहते हैं।[2] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'जन्म से निर्विकार चित्त में उद्बुद्ध मात्र विकार को भाव कहते हैं।"[3] भाव चार प्रकार के होते हैं—

1. विभाव, 2. अनुभाव, 3. संचारी भाव, 4. स्थायी भाव।

जो निमित्त काव्यादि में हृदय की अनुभूतियों को तरंगित करते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। दशरूपककार आचार्य धनंजय के शब्दों में "उन रस-परिपोषक तत्त्वों में जो ज्ञायमान होकर भाव की पुष्टि करता है, उसे विभाव कहते हैं। यह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है।"[4] नाट्यशास्त्र में इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा जो हमारी स्थायी एवं व्यभिचारी भावरूप चित्त वृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु या निमित्त होते हैं, वे विभाव कहलाते हैं।[5] रत्यादि स्थायीभावों के विषयभूत नायक-नायिका आदि विभाव आलम्बन कहे जाते हैं तथा उन भावों को उद्दीप्त करने वाले विभाव उद्दीपन कहलाते हैं। इनकी विद्यमानता में नायक अथवा नायिका के भावों को सूचित करने वाले जो विकार होते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं।[6] भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि भाव स्थायी भावों को सामाजिकों के

---

1. साहित्य दर्पण—4 : 245, 250
2. रसानुकूलो विकारो भावः।"—रसतरंगिणी
3. साहित्य दर्पण
4. ज्ञायमानतया तत्र विकारो भावपोषकृत्।
   आलम्बनोद्दीपनत्व प्रभेदेन स च द्विधा।—दशरूपक—4 : 2
5. नाट्यशास्त्र—1943, पृ० 105
6. अनुभावो विकारस्तु भाव संसूचनात्मकः।—दशरूपक—4 : 3

अनुभव का विषय बनाते हैं और इस प्रकार रस का परिपोष करते हैं, अतएव इन्हें अनुभाव कहते हैं। ये ही भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष इत्यादि अभिनय और काव्य में भी अनुभव करने वाले रसिकों को अनुभव क्रिया के साक्षात्कर्म होते हैं। अतएव इन्हें विभाव कहते हैं। अनुभाव वस्तुतः रसानुभूति की बाह्य अभिव्यंजना के साधन हैं और उनमें शारीरिक व्यापारों की प्रधानता होती है। रसानुभूति के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण उन्हें अनुभाव नाम दिया जाता है।

विशेष रूप से चारों ओर से विचरण करने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। ये स्थायी भाव में उसी प्रकार प्रकट होकर विलीन होते रहते हैं, जिस प्रकार सागर में तरंगे।[1] आचार्य भरत के शब्दों में—वाग्, अंग तथा सत्त्व के माध्यम से रसानुकूल संचरण करने वाले विविध भावों को व्यभिचारी भाव कहते हैं।[2] संचरण करते रहने के कारण ही इन्हें संचारी या व्यभिचारी भाव की संज्ञा दी गयी है।[3]

स्थायिभाव

दशरूपककार धनंजय के शब्दों में "विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से जो विच्छिन्न न हो और भावों को अपने ही रूप में परिणत कर ले उसे स्थायिभाव कहते हैं।[4] आशय यह है कि जहाँ रति आदि भावों का उपनिबन्धन इस रूप में हो कि सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के भावों से उसका विच्छेद न हो सके, उसे स्थायी भाव कहते हैं।[5] आचार्य भरत ने

---

1. विशेषादाभिमुख्येन चरन्ती व्यभिचारिणः।
   स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।—दशरूपक—4 : 7
2. विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।
   वागङ्गसत्वोपेतान, प्रयोगे रस नयन्तीति व्यभिचारिणः।।—नाट्यशस्त्र, पृ० 112 (1943)
3. यानि व्यभिचरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन।—रसगंगाधर
4. दशरूपक—4 : 34
5. सजातीय विजातीय भावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिवध्यमानो, रत्यादिः स्थायी।—दशरूपक 4 : 34 की वृत्ति।

नाट्यशास्त्र में आठ स्थायिभावों का उल्लेख किया है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। तदन्तर इसमें निर्वेद (वैराग्य अथवा शम) नामक स्थायिभाव भी सम्मिलित कर लिया गया। बाद में बाल माधुरी के सरस चित्रण के आधार पर "वात्सल्य" नामक स्थायिभाव को भी मान्यता दे दी गयी। इस प्रकार कुल मिलाकर स्थायी भावों की संख्या दश हो गयी।

शृंगार रस

काव्यालंकार के प्रणेता आचार्य रुद्रट ने शृंगार रस की प्रधानता प्रतिपादित करते हुए लिखा है, "सभी रसों में शृंगार का प्राधान्य है तथा उसके समान रसमयता कोई अन्य रस उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि आबाल-वृद्ध सकल मनुष्यता उससे ओतप्रोत हैं।[1] डॉ० ओम प्रकाश शर्मा 'शास्त्री' के अनुसार "विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से अभिव्यक्त होने वाला दम्पति (पति-पत्नी) का रति स्थायी भाव शृंगार रस कहलाता है।"[2] भोजराज ने तो शृंगार रस को ही एकमात्र रस माना है।[3]

शृंगार का स्थायी भाव 'रति' है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के अनुसार यह स्त्री-पुरुष रूप हेतु से उत्पन्न होता है और उत्तम यौवन की प्रकृति के अनुकूल है।[4] आचार्य विश्वनाथ ने भी इसे यौवनोद्भूत उत्तम-प्रकृति-प्राय: बताया है।[5] इसका वर्ण श्याम और इसके

---

1. "अनुसरति रसानां रस्यतामस्यनान्य:।
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालबृद्धम्।
तदिति विरचनीय: सम्यगेष प्रयत्नाद्।
भवति निरसमेवानेन हीनहि काव्यम्।"—काव्यालंकार—14 : 38
2. काव्य-सिद्धान्त—पृ० 70 (1968)
3. "शृंगार एव एको रस इति।"—शृंगार प्रकाश—डॉ० राघवन, पृ० 517
4. "स च स्त्री-पुरुष हेतुक उत्तम युव प्रकृति:।—"नाट्यशास्त्र—6 : 46 के बाद गद्य
5. "उत्तमप्रकृतिप्रायो रस: शृंगार इष्यते।"—सा० द०—3 : 183

अभिमानिदेव विष्णु भगवान् हैं।[1] प्रिय वस्तु के प्रति हृदय की उत्कट प्रेमार्द्रता को 'रति' कहते हैं।[2] रस, रति, प्रीति, भाव, राग, वेग, और समाप्ति ये शब्द रति अर्थात् आनन्द के अर्थो में प्रयुक्त होते हैं।[3]

'रति' नामक स्थायी भाव से उत्पन्न रस 'श्रृंगार' कहलाता है। श्रृंगार के लक्षण निरूपण में भरतमुनि ने उसे उज्ज्वल-वेषात्मक कहा है।[4] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि "उज्ज्वल वेष" शब्द यहाँ रस की विभावानुभाव रूप समस्त सामग्री का बोधक है।

भानुदत्त की रसतरंगिणी के अनुसार—"युवक-युवती का यह प्रमोद अथवा आनन्द जो विभाव, अनुभव तथा संचारीभाव के संयोग से निष्पन्न रति से संयुक्त होकर सम्यक् रीत्या सम्पूर्ण बन गया हो तथा जो दोनों में समभाव से प्रस्फुरित हो, श्रृंगार कहलाता है।[5]

श्रृंगार के भेद—

प्रमुख रूप से श्रृंगार के दो भेद किये गये हैं—

1. संयोग श्रृंगार
2. बियोग श्रृंगार

संयोग श्रृंगार—

परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका के परस्पर दर्शन स्पर्शन आदि की अनुभूति का

---

1. "स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णो य विष्णुदेवतः।"—सा० द०—3 : 186
2. "रतिर्नाम प्रमोदात्मिका"—नाट्यशास्त्र
3. "रसो रतिः प्रीतिभावो रागो वेगः समाप्तिरति रति पर्यायाः।"—कामसूत्र—2 : 32
4. "तत्र श्रृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः उज्ज्वल वेषात्मकः।"—नाट्यशास्त्र
5. "यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः
सम्यक् परिपूर्ण रतिभावो वा श्रृंगारः"—रसतरंगिणी, षष्ठ तरंग

प्रदाता संभोग शृंगार है।[1] वस्तुतः संयोग के समय प्रेमानुभूति अत्यावश्यक है। इसी तथ्य को पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट करते हुए लिखा है, "संयोग का अर्थ स्त्री पुरुष का एक स्थान पर रहना नहीं है, क्योंकि एक पलंग पर सोते हुए भी यदि ईर्ष्या इत्यादि हो, तो वह विप्रलम्भ या वियोग रस ही माना जायेगा। उनके मतानुसार संयोग इस मानसिक ज्ञान किंवा चित्तवृत्ति का पर्याय है कि "मैं संयुक्त हूँ" और वियोग यह ज्ञान है कि "मैं बिछुड़ा हुआ हूँ।" अतएव स्त्री-पुरुष के संयोग-समय में प्रेम रहे तो वह "संयोग" अथवा "सम्भोग" शृंगार कहलाता है।[2]

यह सम्भोग शृंगार परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधर-पान, चुम्बन आदि अनन्त भेदों की गणना सम्भव न होने से एक ही गिना जाता है।[3]

विप्रलम्भ शृंगार—

भोजराज के अनुसार जहाँ रति-भाव प्रकर्ष को प्राप्त करे, किन्तु अभीष्ट की प्राप्ति न कर सके, वहाँ विप्रलम्भ शृंगार निष्पन्न होता है।[4] विप्रलम्भ का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है, "नायक-नायिका के परस्परानुराग में मिलन-नैराश्य ही विप्रलम्भ है।[5] साहित्यदर्पणकार के अनुसार, "जिसमें नायक-नायिका का परस्परानुराग तो प्रगाढ़ हुआ करता है, किन्तु परस्पर मिलन नहीं होने पाता, वह विप्रलम्भ शृंगार है।[6]

---

1. दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
   यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः॥—सा०द०-3 :210
2. रसगंगाधर
3. तत्राद्यः परस्परावलोकनालिंगनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते। —काव्यप्रकाश—4 :29 वृत्ति
4. सरस्वतीकण्ठाभरण—5 : 45
5. सम्भोगसुखास्वादलोभेन विशेषेण प्रलभ्यते आत्मात्रेति विप्रलम्भः"—काव्यानुशासन—2 :30
6. साहित्यदर्पण—3 : 187

वस्तुतः श्रृंगार में, संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ श्रृंगार का उत्कर्ष स्वीकार किया गया है। आचार्य भोजराज का मत है कि बिना विप्रलम्भ के सम्भोग की पुष्टि नहीं होती।[1] उनके इस कथन की पुष्टि करते हुए जीव गोस्वामी ने लिखा है, "विप्रलम्भ केवल सम्भोग का पोषक ही नहीं बल्कि रति, प्रेम, स्नेह आदि स्थायी भावों से युक्त नायक-नायिका के आलिंगन चुम्बनमय सम्प्रयोग को निरवधिक बनाकर चमत्कारी ढंग से समर्पण करने वाला सम्भोग पुंज है।"[2]

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वराग, मान, प्रवास एवं करुण नाम से विप्रलम्भ श्रृंगार के चार प्रकार बतलायें हैं।[3] भोजराज ने भी सरस्वती कण्ठाभरण में विप्रलम्भ को चार प्रकार बतलाया है।[4]

पूर्वराग विप्रलम्भ—मिलन वा समागम से पूर्व रूप-सौन्दर्य अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के हृदय में जो अनुराग का आविर्भाव होता है, वह पूर्वराग या पूर्वानुराग कहलाता है। इस पूर्वराग विप्रलम्भ का काव्य प्रकाश में "अभिलाषहेतुक विप्रलम्भ"[5] के रूप में तथा दशरूपक में "अयोग"[6] के रूप में किया गया है।

साहित्य दर्पण में पूर्वराग के सम्बन्ध में अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता, तथा मरण ये दश काम दशायें कथित हैं।[7]

धनंजय के अनुसार ये अवस्थायें उत्तरोत्तर अधिक कष्टदायक होती जाती हैं।[8]

---

1. न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।"—सरस्वतीकण्ठाभरण-पंचम परि०
2. उज्ज्वलनीलमणि
3. स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।—सा० द० 3 : 187
4. पूर्वानुरागोमानश्च प्रवासः करुणश्च सः।"—सरस्वतीकण्ठाभरण-पंचम परि०
5. काव्य प्रकाश—4 : 29
6. दशरूपक—4 : 50
7. "अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च।
   उन्मादो च व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः।"—सा० दा०—3 : 190
8. 'दुरवस्थं यथोत्तरम्।'—दशरूपक—4 : 52

मान-विप्रलम्भ—प्रियापराधजनित कोप 'मान' कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—(1) ईर्ष्यामान। (2) प्रणयमान।[1]

प्रवास विप्रलम्भ—नायक-नायिका का अलग-अलग प्रदेश में रहना प्रवास कहलाता है। 'प्रवास' तीन कारणों से होता है—कार्यवश, सम्भ्रमवश अथवा शापवश। सम्भ्रम से उत्पन्न होने वाला प्रवास वह है, जो दैवी या मनुष्यकृत उपद्रवों से सहसा हो जाता है। जैसे "विक्रमोर्वशीयम्" में उर्वशी और पुरुरवा का वियोग अथवा "मालती-माधव" में मालती के कपालकुण्डल द्वारा हर लिये जाने पर मालती और माधव का वियोग इसके उदाहरण हैं।[2]

करुण विप्रलम्भ—नायिक-नायिका में से एक के दिवंगत हो जाने पर दूसरे को जो दु:ख होता है, वह करुण विप्रलम्भ है, किन्तु विप्रलम्भ तभी माना जायेगा जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से पुन: मिलने की आशा बनी रहे।[3] दशरूपककार के अनुसार "करुण विप्रलम्भ" शृंगार-भेद नहीं अपितु करुण रस के अन्तर्गत है।[4] साहित्य-दर्पणकार के अनुसार "करुण रस" एवं "करुण विप्रलम्भ शृंगार" परस्पर भिन्न-भिन्न रस हैं, क्योंकि "करुण रस" का स्थायी भाव "शोक" एवं करुण-विप्रलम्भ शृंगार का स्थायिभाव 'रति' सर्वथा भिन्न प्रकार के भाव है। यहाँ पुनर्मिलन की आशा बंधी रहती है, जबकि करुण रस में इसकी कोई सम्भावना नहीं।[5]

---

1. मान:कोप: स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भव:।—सा०द०—3 : 198
2. द्वितीय: सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात्।
3. यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्यां यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयो:। —"दशरूपक—4 : 66 तथावृत्ति
4. सा० द०—3 : 209
5. शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रस:।
   विप्रलम्भे रति: स्थायी पुन: सम्भोगहेतुक:।—सा० द—3 :226

शिव पुराण में श्रृंगार रस

शिव पुराण एक विशालकाय धार्मिक ग्रन्थ है। भगवान् शिव इसके नायक तथा पार्वती इसकी नायिका हैं। पार्वती के पूर्व दक्षसुता सती शिव की पत्नी थीं। सती भगवान् शिव की अनन्य उपासिका हैं। सती वचपन से ही शिव के प्रति अनुरागवती हैं। वह अपने भाव से सखियों में क्रीडा करती हुई प्रतिदिन भगवान् शंकर की प्रतिमा का निर्माण करतीं। जिस समय सती बालकों के उचित गीत गाती थीं तब-तब काम-शासन करने वाले शंकर का स्मरण करती थीं।[1] युवावस्था को प्राप्त होने पर सती भगवान् शिव को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा से विभिन्न प्रकार से तप करने लगीं। दिन को तिथि के अनुसार पूजन करतीं तथा फाल्गुन आदि की रात्रियों में प्राय: जागरण करतीं।[2]

शिव जी के ध्यान में मग्न, सिद्ध अवस्था को प्राप्त उस सती को देवताओं ने दूसरी सिद्धि के समान देखा।[3] शिव के ध्यान में मग्न सती के समक्ष सर्वांग सुन्दर गौर-वर्ण, पंचानन, त्रिनेत्र, चन्द्रभाल, प्रसन्न-शरीर, नीलकण्ठ चतुर्भुज, सम्पूर्ण शोभाधाम, करोड़ों के समान मुख वाले, करोड़ों कामदेवों की कान्ति को लजाने वाले, सर्वथा स्त्रियों को मोद देने वाले शिव को प्रत्यक्ष देखकर सती लज्जा से मुख को नीचा कर लेती हैं।[4] महादेव जी के द्वारा "वर माँगो" ऐसा कहने पर भी लज्जायुक्त वह जो कुछ हृदय में था, वह भी कहने में समर्थ नहीं होतीं। शिव जी उनके इस भाव से प्रसन्न होते हैं।[5] यहाँ भगवान् शिव को देखकर सती के हृदय में 'रति' भाव अंकुरित होता है। इस भाव को रस रूप में परिणत करने का प्रमुख साधन शिव जी हैं। अत: शिव जी सती के 'रति' भाव का आलम्बन हैं। साथ ही सती के लज्जावनत, अनुराग

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—14 : 56,57
2. वही—15 : 19
3. वही—15 : 30
4. वही—17 :7
5. वही—17 : 11, 12

की लालिमा से युक्त आनन को देखकर शिव के हृदय में भी रति भाव जागृत होता है। इस रति भाव को रस रूप में परिणत करने का साधन सती है। अत: सती शिव जी के रति भाव का आलम्बन हैं। अभिनवगुप्त का मत है कि सम्भोगावस्था में वस्तुत: स्त्री एवं पुरुष दोनों एक दूसरे के प्रति आलम्बन विभाव होते हैं।[1]

इसी अध्याय में शिव जी द्वारा वामांगी होने का वरदान प्राप्त करके प्रसन्न हो सती चुप हो गयी। सकाम भाव से शिव के समक्ष स्थित होकर सुन्दर हास के द्वारा सती ने कामोद्दीपक हाव-भाव किया।[2] उस समय उसके भावों को स्वीकार कर उन दोनों के हृदय में शृंगार रस की उत्पत्ति हुई।[3] यहाँ सकाम सती के हाव-भाव को देखकर शिव के चित्त में और शिव को देखकर सती के हृदय में रति भाव रस रूप में परिणत होता है। शिव-सती परस्पर आलम्बन विभाव हैं।

इसके पश्चात् जब सती विवाह रूप से स्वीकार करने के लिए कहकर पिता के घर चली जाती हैं तो विप्रलम्भ शृंगार के अभिव्यंजक भावों से यह रति भाव प्रकर्षता को प्राप्त होता है। शिवजी का सन्देश लेकर गये हुए लोक-पितामह ब्रह्मा दक्ष से कहते हैं—श्री शंकर जी वर देकर जब से गये तब से तुम्हारी पुत्री के वियोग से उन्हें कल नहीं पड़ती। अपने सब पुष्पों के बाणों से अनेक प्रकार के यत्न करके भी कामदेव जिसे नहीं जीत सका, इस समय उन्हें जीत लिया है। वह काम बाण से विद्ध आत्मचिन्तन को छोड़ प्राकृत मनुष्य के समान व्याकुल हो सती के चिन्तन में प्रवृत्त हैं। उस प्रश्रुत वाणी को भूलकर गणों के सन्मुख सती कहाँ है, इस प्रकार शब्द कहते हैं।[4]

---

1. तत्रेह वस्तुत: स्त्रीपुंसौ परस्परं विभावौ।—अभिनव भारती
2. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—17 : 16, 17
3. वही—17 : 18
4. वही—17 : 62 - 65

यहाँ सती आलम्बन विभाव तथा शिव आश्रय विभाव हैं। हिमालय पर्वत का सुरम्य एकान्त स्थान उद्दीपन विभाव है। शिव का अपलाप, आहें भरना आदि अनुभाव है। आवेग, चिन्ता, विषाद आदि संचारीभाव हैं। इनके संयोग से रति की पूर्णता विप्रलम्भ श्रृंगार में परिणत हुई।

वस्तुतः यहाँ यद्यपि शिव-सती का एक बार मिलन हो चुका है पर वह केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष तक सीमित होने से मान, प्रवास एवं अभिशाप विप्रलम्भ न होकर पूर्वराग विप्रलम्भ श्रृंगार ही माना जायेगा।

आगे भी शिव जी ब्रह्मा से अपनी सती-विषयक व्याकुलता का वर्णन करते हुए कहते हैं—हे सुरश्रेष्ठ! वियोगी मैं शिव अन्य बाम को छोड़कर सती की ही इच्छा करता हूँ, अन्य के प्रति मेरा मन नहीं है। हे ब्रह्मा जी! आप निरन्तर यही सती से कहें कि मैं निरन्तर तुम्हारा ध्यान रूप कार्य करता हूँ। वह मेरी अभेद प्रिया हो जाय।[1]

वस्तुतः पूर्वराग विप्रलम्भ श्रृंगार में पहले नायिका का अनुराग वर्णित किया जाता है और बाद में उसकी चेष्टाओं से प्रभावित हुए नायक के अनुराग का।[2] प्रस्तुत प्रसंग में शिव कोअनेक दैवी विभूतियों से समाकृष्ट सती द्वारा शिव को पति के रूप में प्राप्ति हेतु तपस्या का वर्णन, शिव के प्रति व्याकुलता, एतदर्थ निराहार रहकर विभिन्न प्रकार के पुष्पों द्वारा शिवाराधना, निशा-जागरण आदि नायिकागत पूर्वराग विप्रलम्भ की पुष्टि करता है। शिवजी सती के रति का आलम्बन हैं तथा सती उसका आश्रय। सतीदर्शन के उपरान्त गृह-गमन से शिव में सती के प्रति जो आकुलता, अपलाप, गुण-कीर्तन आदि अनुभावों एवं संचारी भावों का उदय होता है उससे यह साहित्यदर्पणकार के लक्षण के अनुरूप पूर्वराग विप्रलम्भ का

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—18 : 6,7
2. आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः—सा० द०, 3 : 195

उपयुक्त उदाहरण है।

शिव-पार्वती का विप्रलम्भ शृंगार विवाह के पुनर्मिलन एवं सती-सहित प्रसन्नतापूर्वक कैलास गमन से संयोग शृंगार में परिणत हो जाता है। अत्यन्त प्रसन्न शिव जी गणों को ईधर-उधर प्रेषित कर सती के साथ रमण करने लगे। वे शिव जी कभी वन के फूलों को तोड़कर सुन्दर माला को बनाकर पहनाते कभी सती के दर्पण में मुख दिखने पर पीछे से स्वयं भी अपना मुख देखते। कभी कुण्डलों को खोलते, बांधते। कभी सती के रक्त-वर्ण चरणों को रंग लगाकर और लाल कर देते।[1] कभी-कभी शिवजी अपनी माया से अन्तर्धान होकर सती का आलिंगन कर लेते।[2] शिव जी स्तनों के स्पर्श की इच्छा से शीघ्रता से हार उठाकर फिर छोड़ देते। बाजूबंद, कंगन, कड़ा आदि आभूषणों को निकालकर पुनः उसी स्थान पर पहनाना,[3] सखी के दिखाने के बहाने उनके उन्नत स्तनों का स्पर्श करना, काम से व्यथित चित्त कभी प्रिया से अत्यन्त प्रसन्न हो लज्जा को छोड़ देना, कभी कमल आदि पुष्पों की माला बनाकर शरीर पर पहनाना तथा सम्पूर्ण रमणीय कुंजों में सती के साथ विहार करना आदि संयोग शृंगार की अनुपम अभिव्यक्ति है।[4] दूसरी ओर दक्ष-पुत्री सती भी शिव के मन को प्रसन्न करती हुई मानो सम्भोग शृंगार का रसपान कराती हुई शिव के शरीर में प्रविष्ट सी होती जा रही थी।[5] शिव जी भी आलापवीक्षित हास्य और सम्भाषण से उस विषय में अपने ज्ञान का परिचय सा दे रहे थे। उसके चन्द्ररूपी मुख के अमृत के पान से प्रसन्न हुए शिव अपनी विशिष्ट अवस्था का कुछ ध्यान न करते थे। उसके मुख-कमल की आवास से, उसकी सुन्दरता तथा क्रीडा से महादेव

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—21 : 12-16
2. वही—21 :19
3. वही—21 : 21, 22
4. वही—21 : 23-26
5. वही—21 : 42

जी ऐसे बँधे थे जैसे कोई हाथी रस्सियों से बँधा हो?[1] सती द्वारा किया गया वर्षा-ऋतु वर्णन भी संयोग शृंगार में सुखद वातावरण की सृष्टि करता है।

सती सदा महादेव का ही मुख देखती और महादेव जी सदैव सती का मुख देखते थे। इस प्रकार परस्पर अनुराग से परस्पर शिव काली ने भाव का जल छिड़क कर प्रेम रूपी वृक्ष को बढ़ाया।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से विप्रलम्भ शृंगार द्वारा पुष्टि को प्राप्त होता हुआ संयोग शृंगार अन्त में परिपक्व दशा को प्राप्त हुआ है। अत: यहाँ संयोग शृंगार ही अंगीरस है।

सती और शिव का यह संयोग शृंगार उस समय पुन: विप्रलम्भ की ओर मुड़ जाता है जब शिव दशरथ-पुत्र, विष्णु के अवतार राम को वन में प्रणाम करते हैं।[3] सती को शिव की बातों में अविश्वास होता है और वह स्वयं सीता का वेश धारण कर रामचन्द्र की परीक्षा लेने जाती हैं।[4] उनके इस कृत्य से दु:खी होकर शिवजी उन्हें पत्नीत्वेन त्याग देने का संकल्प लेते हैं।[5] कैलाश पर आकर कथा पुराण से सती का मन बहलाव करते हैं और बाद में समाधिस्थ हो जाते हैं।[6] समाधि त्यागने पर भी शिव सती को पत्नीत्वेन स्वीकार नहीं करते, बल्कि सम्मुख आसन देते हैं।[7] सती इस व्याकुलता के विनोदार्थ निमंत्रण न मिलने पर भी पिता दक्ष द्वारा

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०- 21 : 44-46
2. वही—22 : 69, 70
3. वही—24 : 28
4. वही—24:41, 46, 47
5. वही—25 : 49-54
6. वही—25: 60
7. वही—25 : 64

आयोजित यज्ञ में जाती हैं।[1] वहाँ शिव जी का भाग न देखकर तिरस्कार अनुभव करती हुई योगाग्नि में शरीर जला देती हैं।

इस प्रकार शिव से सती का यह वियोग इस जन्म में समाप्त नहीं होता और इस जन्म में पुनर्मिलन की आशाा न होने के कारण शिव का सती से जो वियोग है, वह करुण विप्रलम्भ न होकर करुण रस में परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि इसका स्थायिभाव 'रति' नहीं बल्कि 'शोक' है।

पार्वती खण्ड के 12वें अध्याय में हिमालय अपनी तनया पार्वती को लेकर जब शंकर के निकट जाते हैं तो यौवन की प्रथमावस्था में आरुढ़, प्रफुल्ल नील कमल के समान कान्तिवाली, पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली, सम्पूर्ण लीलाओं का स्थान सुन्दर वेश से प्रकाशित शंख के समान गर्दन वाली, विशाल नेत्रों वाली, सुन्दर दोनों कानों के कर्णभूषणों से उज्ज्वल मृणाल के समान चिकनी, लम्बायमान भुजाओं वाली, कमल-कली के समान घने दृढ़ दोनों स्तन धारण करने वाली, क्षीण-कटि, त्रिवली-युक्त मध्य भाग से शोभायमान, स्थल-पद्म के समान दोनों चरणों वाली मुनियों के भी मन को दर्शन मात्र से हरण करने में समर्थ, नारी शिरोमणि, कामरूपिणी पार्वती को देखकर शिव जी अपना नेत्र बन्द कर लेते हैं।[2] गिरिराज हिमालय द्वारा स्तुति करने पर शिव जी कहते हैं—हे हिमालय, तुम आना चाहो तो बार-बार आ सकते हो, किन्तु सुन्दर नितम्बवाली, क्षीण कटिवाली, श्रेष्ठ चन्द्रमा के समान मुखवाली इस कुमारी को मेरे समीप मत लाना। इस विषयों में मैं तुम्हें बारंबार निषेध करता हूँ।[3] वेदपारगामी ब्राह्मणों ने स्त्री को मायारुपिणी कहा है। युवती स्त्री से मेरा क्या प्रयोजन?[4] स्त्री का संग

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—28 : 38
2. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०— 12 : 6-12
3. वही—12 : 28
4. वही—12 :29, 30

महाविषय का मूल तथा ज्ञान-वैराग्य का नाश करने वाला है।[1]

शिव की इस वार्ता को सुनकर पार्वती जी पिता की ओर से ज्ञान-सम्मत सांख्य-दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को प्रकट करती हुइ अपने को प्रकृति, शिव को पुरुष बताकर ज्ञान से अभिभूत कर देती हैं। तब शिव उस सांख्य-ज्ञान धारिणी सुभाषिणी को सेवा करने की अनुमति दे देते हैं।[2]

इसके बाद पार्वती का शिव के चरणों का चरणामृत लेना, अंगों का मार्जन,[3] अपनी सखियों के साथ शंकर के आश्रम में मधुर स्वर से कन्दर्पोद्दीपक गान करना,[4] कभी कुश, पुष्प और समिधाओं को स्वयं ले जाना, कभी नियत समय तक शिव के समीप रहना, कभी सकाम होकर विस्मय से चन्द्रशेखर को देखना[5] आदि—ये सभी कृत्य एवं भावानुभूतियाँ शिव के प्रति पार्वती के हृदयस्थ रति भाव के फलस्वरूप उत्पन्न अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव हैं। इसके बाद पार्वती को देखकर शिव द्वारा गुण कीर्तन, भार्या-रूप में ग्रहण करने की इच्छा[6] आदि पार्वती के प्रति प्रति के पोषक अनुभाव हैं।

पार्वती खण्ड के अट्ठारहवें अध्याय में शिव जी द्वारा पार्वती को देखकर उनके अंगों, रूप-लावण्य पुष्पों, वस्त्रों, गति आदि का वर्णन करना। उनके पार्वती विषयक रतिभाव का सूचक है।[7] इस प्रकार लावण्य की निधान पार्वती के अंगों का वर्णन करके स्पर्श की चेष्टा आदि अनुभाव संयोग श्रृंगार उत्पन्न करते हैं। शिव द्वारा अंग-स्पर्श की चेष्टा करने पर पार्वती

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—12 : 33
2. वही—13 : 23
3. वही—13 : 42
4. वही—13 : 45
5. वही—13 : 46, 47
6. वही—13 : 51
7. वही—18 : 35

लज्जित होकर दूर हो जाती है। पुनः पार्वती के शिव जी की ओर कटाक्ष करके देखती हुई अपने अंगों को प्रकाशित कर मुस्कराने पर शिवजी मोहित हो जाते हैं।[1] इससे वे हर्षित हो जाते हैं और सोचने लगते हैं कि जब इसके दर्शन-मात्र से महा आनन्द होता है तो इसके आलिंगन से तो सुख की सीमा ही नहीं रहेगी।[2]

यहाँ शिव और पार्वती एक दूसरे के रति भाव के आलम्बन विभाव हैं। पार्वती के गुणों, गति, रूपादि का वर्णन एवं अंगस्पर्श हेतु हस्त-चालनादि अनुभाव हैं तथा पार्वती को देखकर हर्ष, शंका, गलानि आदि संचारीभावों का उदय होता है। पार्वती का अंग-प्रदर्शन एवं कटाक्ष आदि अनुभाव हैं। इससे लज्जा, त्रास, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव प्रकट होते हैं।

शिव-पार्वती के पारस्परिक प्रेम में विप्रलम्भ शृंगार की भी स्थिति आती हे। कामदेव को दग्ध हुआ विचारकर पार्वती व्याकुल हो जाती हैं, उनके नेत्रों से आँसू निकल आते हैं।[3] उनके मन में घबराहट[4] और अशान्ति[5] है। वे शिव-प्राप्ति हेतु तप करने उसी स्थान पर जाती हैं जहाँ शिवजी थे, किन्तु वहाँ उन्हें न देखकर विरह से व्याकुल हो पार्वती दुःख, चिन्ता और शोक से रोने लगती हैं। पुनः धैर्य से मोह को स्तम्भित कर तप में लीन हो जाती हैं और शिव-हेतु उग्र तपस्या करती हैं।[6] ग्रीष्म काल में अग्नियों के मध्य, वर्षा में मैदान में शिला पर, शीतकाल में कठिन रात्रियों में निराहार जल के मध्य[7] एकमात्र जटाजूट धारी शिव के चरणों में ही ध्यान-चिन्तन करती हुई पार्वती ने मुनियों के मन को भी मोह लिया।[8] पार्वती के तप से

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—13 : 39, 40
2. वही—18 : 41
3. वही—21 : 10
4. वही—21 : 11
5. वही—21 : 12
6. वही—22 : 34, 35
7. वही—22 : 40, 42
८. वही—22 : 51

शिव जी परम विस्मय को प्राप्त हुए। उनकी समाधि चलायमान हुई।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव के अन्तर्धान हो जाने से पार्वती में रुदन, व्याकुलता, तपस्या, ग्लानि अभिलाषा, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप आदि अनुभाव दृष्टिगोचर होते हैं तथा इससे मोह, धृति, शंका, ग्लानि, विषाद, अमर्श आदि संचारी भाव देखे जाते हैं। इस प्रकार पार्वती का संयोग पूर्वराग विप्रलम्भ श्रृंगार से पुष्टि को प्राप्त करता है। बाद में वर-प्राप्ति के समय दर्शन तथा विरह के पश्चात् शिव-पार्वती के पुनर्मिलन से संयोग श्रृंगार आरम्भ होता है।

शिव का साक्षात् दर्शन होने पर पार्वती लज्जित हो जाती हैं। सीधे देख न पाने से मुख नीचा कर लेती हैं।[2] शिव जी पार्वती का कर-ग्रहण करते हैं।[3] फिर संभाषण करते हैं कि तुमने मुझे तप से मोल ले लिया है, मैं तेरा दास हूँ, तेरी सुन्दरता से बिक गया हूँ, तेरे बिना एक क्षण भी युग के समान बीतता है, तुम लज्जा त्याग दो मेरी सनातनी पत्नी हो।[4] शिवजी की इन बातों से पार्वती को बड़ा आनन्द आता है, वे तप के महान् कष्ट को भूल जाती हैं।[5]

यहाँ पार्वती का शिव को देखकर लज्जित होकर सिर नीचा करना, शिव का विविध प्रकार का सम्भाषण संभोग श्रृंगार की अभिव्यक्ति करता है। यहाँ भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर संयोग श्रृंगार अभिव्यक्त हुआ है।

उपर्युक्त तथ्यों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि पुराणकार वेदव्यास जी ने संभोग श्रृंगार का चित्रण करते हुए सदैव अपने को उसके आरम्भिक रूप तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि शारीरिक संभोग में उसकी चरम परिणति दिखलायी है। सती और पार्वती दोनों

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—25 : 6, 9
2. वही—28 : 42
3. वही—28 : 41
4. वही—28 : 44
5. वही—28 : 49

का विधिवत् विवाह होता है, पिता कन्या दान करते हैं तथा लोक-रीतियों के अनुसार उनकी विदाई होती है। वे अपने पति के साथ अभिरमण करती हैं। इनका प्रेम पवित्र एवं नैसर्गिक भावनाओं से ओत-प्रोत है, किन्तु प्रेम के वासनात्मक रूप का भी चित्रण प्राप्त होता है। वस्तुत: सती और पार्वती के प्रेम का सामान्य रूप से संयोग के पूर्व एक जैसा ही चित्रण किया गया है।

विप्रलम्भ श्रृंगार के वर्णन में पुराणकार ने पूर्वराग का चित्रण विशेष रूप से किया है। इसकी विविध दशाओं का चित्रण हुआ है। पुराण के एक धार्मिक एवं दार्शनिक काव्य होने के कारण इसमें नाटकों एवं काव्यों जैसा वर्णन तो नही है, फिर भी पूर्वराग विप्रलम्भ श्रृंगार की काम-दशाओं-अभिलाषा, चिन्ता, गुणकीर्तन, स्मृति, उत्कण्ठा आदि की सरलता-पूर्ण ढंग से अभिव्यंजना हुई है। सती-शिव के मिलन के उपरान्त सती का दक्ष के यज्ञ में योगाग्नि में देह-त्याग से करुण रस की धारा प्रवाहित होती है और यज्ञ-विध्वंस के उपरान्त शिव-समाधिस्थ हो जाते हैं, किन्तु हिमाचल-गृह में पुन: पार्वती के रूप में उत्पन्न हो जाने से और तारकासुर के उत्पीड़न से दु:खी देवों की प्रार्थना पर पार्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर विवाह कर लेने से सती-मरण के विषाद का ह्रास हो जाता है। और शिव-पार्वती पुन: उसी आनन्द की धारा में उन्मज्जित-निमज्जित दिखाई देते हैं।

इस प्रकार श्रृंगार रस के दोनों पक्षों का समन्वित अध्ययन करने से विदित होता है कि शिव पुराण में इसका समुचित ढंग से चित्रण करने में पुराणकार सफल रहे हैं।

हास्य रस

आचार्य वाग्भट ने हास्य रस का स्थायिभाव 'हास' बताया है।[1] इसका आविर्भाव आकार-विकृति, वाग्-विकृति, चेष्टा-विकृति अथवा अन्यान्य प्रकार की विकृतियों के अभिनय

---

1. चेतसो विकास: हास:।—काव्यानुशासन,द्वितीय अध्याय

से होता है। इसका वर्ण 'श्वेत' है तथा इसके अधिष्ठातृ देवता 'प्रमथ-गण' हैं। आकृति, वाणी और चेष्टा आदि की विकृतियों से युक्त व्यक्ति की जो चेष्टायें हैं, वे ही यहाँ उद्दीपन का काम करती हैं। इसके अनुभावों के रूप में नेत्र-निमीलन, मुख-विकास, नेत्र संकेत, व्यंग्याघात, हंसी दबाना, ताली पीटना, हाथ मारना आदि तथा हँसी के कारण अश्रु, स्वेद, रोमांच आदि सात्विक अनुभाव प्रकट हो सकते हैं। इसके निद्रा, आलस्य, शंका, मति, स्मृति, असूया, विस्मय, उत्साह, अमर्ष, उत्सुकता, गर्व, जड़ता, आवेग, चपलता आदि संचारी भाव हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने हास्य रस के छः भेद स्वीकार किये हैं—1. स्मित, 2. हसित, 3. विहसित, 4. अवहसित, 5. अपहसित, 6. अतिहसित।

इन छः प्रकार के भेदों की भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन कोटियाँ बतायी गयी हैं। हसित और विहसित उत्तम प्रकृति में, स्मित तथा अवहसित मध्यम प्रकृति में तथा अपहसित एवं अतिहसित अधम प्रकृति में पाया जाता है।[1]

शिव पुराण में हास्य रस

शिव पुराण में हास्य रस के स्थल कम ही प्राप्त होते हैं, किन्तु इनका पूर्णतया अभाव भी नही है। रुद्र संहिता के सृष्टि-खण्ड के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत नारद-मोह के प्रसंग में नारद के वानर-मुख को देखकर शिव गणों का हास-परिहास[2] तथा नृप-सभा के मध्य विष्णु के सुन्दर शरीर एवं वानर-मुख से नृप-कन्या को प्राप्त करने की नारद की उत्कण्ठा[3] चरित्रगत एवं शब्दगत हास्य की सृष्टि करते हैं।

परिस्थितिगत हास्य का सर्वोत्तम दृश्य पार्वती-खण्ड के 43वें अध्याय में उस समय

1. सा० द० - 3 : 214-217
2. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—3 : 40
3. वही—3 : 47

प्रस्तुत है, जब भगवान् शिव की बारात हिमालय के यहाँ आती है। भगवान् शिव स्वयं वृषभारूढ़, पंचमुख, त्रिनेत्र, जटाजूटधारी, व्याघ्र चर्म ओढ़े, पिनाक-शूलधारी हैं।[1] शिव के बाराती इनसे भी विचित्र हैं। कोई दाढ़ी मूँछ वाले तो कोई गंजे, कोई मुख-रहित कोई गण बहुत मुख वाले, कोई हाथ रहित, कोई-कोई विकट हाथ वाले और कोई बहुत हाथों वाले थे। नेत्रहीन, बहुत नेत्र वाले, शिर से हीन, बुरे शिर वाले, कान रहित, बहुत कान वाले, नानावेषधारी गण थे।[2]

इस प्रकार पुराणकार ने हास्य रस का बड़ा ही संयत एवं सूक्ष्म वर्णन किया है, जिसे सहृदय जन-संवेद्य कहा जा सकता है।

करुण रस

करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। यह इष्ट के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से आविर्भूत होता है। करुण रस के देवता 'यम' हैं और इसका वर्ण 'कपोत' है। शोच्य विनष्ट व्यक्ति इसके आलम्बन तथा दाहकर्म की वस्तुओं का दर्शन आदि इसके उद्दीपन होते हैं। देव-निन्दा, भूमि-पतन, क्रन्दन, वैवर्ण्य, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ, प्रलयन आदि इसके अनुभाव हैं। इसके संचारी भावों में निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि की गणना होती है।[3]

शिव पुराण में करुण रस

शिव पुराण में करुण रस का संचार रुद्र-संहिता के पार्वती-खण्ड में रति के विलाप से होता है। अपने पति को भस्मीभूत सुनकर रति उस समय संज्ञाहीन हो गयी और स्वामी की

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—43 : 59-61
2. वही—43 : 52-55
3. सा० द०—3 : 222-225

मृत्यु के दुःख से भूमि पर पतित हो मृतक के समान हो गयी। संज्ञा को प्राप्त हो रति दुःख से व्याकुल हो विलाप करती अनेक प्रकार के वचन बोलने लगी—

"किं करोमि क्व गच्छामि किं कृतं दैवतैरिह।
मत्स्वामिनं समाहूय नाशयामासुरुद्धतम्॥
हा हा नाथ स्मर स्वामिन्प्राणप्रिय सुखप्रद।
इदं तु किमभूदत्र हा हा प्रिय प्रियेति च॥"[1]

इस प्रकार से विलाप करती हुई अनेक प्रकार के वचन बोलने लगी, हाथ-पैर पटकने लगी और केशों को नोचनें लगी।[2]

इन उदाहरणों में कामदेव आलम्बन है। उसके सुखदाता आदि गुणों का स्मरण उद्दीपन है। देव-निन्दा, भूमि-पतन, विलाप, संज्ञाहीन होना, हाथपैर पटकना, बालों को नोंचना, मनस्ताप आदि अनुभाव हैं। स्मृति, मोह, ग्लानि, चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य, जड़ता आदि व्यभिचारी भाव हैं।

कुमार-खण्ड में शिव द्वारा गणेश का शिरश्छेदन भी करुण रस का एक अनुपम उदाहरण है। अपने पुत्र का पति द्वारा ही विनाश देखकर पार्वती क्रोध युक्त करुणा से परिपूर्ण हो जाती हैं। वे कहती हैं—"मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, हाय-हाय मुझे बड़ा दुःख प्राप्त हुआ, मेरा यह जो महान दुःख है, यह किस प्रकार नष्ट हो सकता है।"[3]

इस उदाहरण में गणेश आलम्बन हैं। गणेश का मातृ-प्रेम, कर्तव्यनिष्ठा, आज्ञा पालन, वीरता, देव सेना आदि उद्दीपन हैं। पार्वती का क्रन्दन, देव-निन्दा, मनस्ताप आदि अनुभाव हैं।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—19 : 22, 23
2. इत्थं विलपती सा तु वदन्ती बहुधा वचः।
   हस्तौ पादौ तदास्फाल्य केशानत्रोटयत्तदा।।—वही—19 : 24
3. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—17 : 56

स्मृति, मोह, चिन्ता, विषाद आदि संचारी भाव हैं।

यहाँ गणेश-शिरश्छेदन से पुत्रगत शोक के कारण जहाँ करुण रस अभिव्यक्त होता है, वहीं बदला लेने की उत्कट अभिलाषा-जनित क्रोध के कारण रौद्र रस की भी समुचित सृष्टि है। पार्वती का क्रोधित होकर अनेक शक्तियों को निर्मित करना आदि अनुभाव इसकी पष्टि करते हैं। इसी प्रकार कुमार-खण्ड के 41वें अध्याय में विष्णु द्वारा छल पूर्वक पतिव्रत भंग होने से शंखचूड़ के मारे जाने पर तुलसी का विलाप[1] भी लोगों के मन में करुण रस का संचार करता है।

रौद्र रस

जब नायक आदि गुरु-बन्धु-बधादि के कारण प्रवृद्धामर्श होकर उचित और अनुचित का विचार भी नहीं करते और वाचिक अथवा कायिक शौर्य से अपनी अभीष्ट सिद्धि में प्रवृत्त होते हैं, वहाँ रौद्र रस की सृष्टि होती है। इस रस का स्थायी भाव 'क्रोध' है।[2]

इसका परिपोषण मत्सर, शत्रुकृत अपकार इत्यादि विभावों के द्वारा हुआ करता है, इसका छोटा भाई क्षोभ है, इसमें दातों से ओठ काटना, काँपना, भौं टेढ़ी करना, पसीना, मुख का लाल हो जाना, शस्त्र उठाना, बढ़-चढ़ कर बातें करना, कन्धों को ठोंकना, पृथ्वी पर पैर पटकना, प्रतिज्ञा और आग्रह ये अनुभाव होते हैं। अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रवता, आवेग इत्यादि संचारी भाव होते हैं।[3]

शिव पुराण में रौद्र रस

शिव पुराण में रौद्र रस का स्थल-स्थल पर चित्रण उपलब्ध होता है। जिस काव्य में

---

1. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—41 : 33, 34
2. "गुरु-बन्धु-बधादिपरमापराधजन्मा प्रज्वलानाख्य: क्रोध:।"—रस गंगाधर
3. दशरूपक—4 :74

भगवान् रुद्र के विविध लीला-रूप चरित्रों का वर्णन हो वहाँ रौद्र रस का अभाव कैसे हो सकता है।

शिव पुराण में भगवान् शिव भक्त वत्सल तथा भक्ताधीन हैं। यह भक्तों के दुःख बार-बार अवतार लेकर दूर करने वाले हैं। तीनों भुवनों में बड़े समर्थों से न हो सके ऐसा जो अशक्य अनुचित है उसको करने वाले ''अनुचित कर्ता'' नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] ऐसी स्थिति में आसुरी शक्तियों के नियंत्रण एवं देवताओं के रक्षार्थ आवश्यकतानुसार रौद्र रूप भी धारण करना पड़ता है। साथ ही अपने भक्तों में भी किसी विवाद को सुलझाने के लिए भी ऐसा करना पड़ जाता है। सर्वप्रथम विधेश्वर संहिता के छठवें अध्याय में ब्रह्मा, विष्णु के परस्पर श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करने के समय रौद्र रस का प्रथम बार दर्शन होता है—

अहमेववरो न त्वमहं प्रभुरहं प्रभुः।
परस्परं हेतुकामौचक्रतुः समरोद्यमम्॥[2]

यहाँ ब्रह्मा-विष्णु एक दूसरे के आलम्बन हैं। चोर[3] आदि कटूक्तियाँ, रक्त नेत्र-मुख, दाँतों का पीसना, मारने के लिए उद्यत होना आदि अनुभाव हैं। प्रस्वेद, कम्पन आदि संचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट हुआ क्रोध स्थायी भाव रौद्र रस को अभिव्यक्त करता है।

इसके अतिरिक्त सराग सती को देखने पर शिव को क्रोधित होना,[4] यक्ष द्वारा तिरस्कार एवं अपमान प्राप्त सती का क्रोध[5], दक्ष का सती के प्रति क्रोध,[6] सती का क्रोधित हो शरीर

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—24 : 67
2. शि० पु०, वि० सं० - 6:9
3. वही—6 : 7
4. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—19 : 31-33, 58
5. वही—29 : 8, 13, 38
6. वही—29 : 29, 31

त्यागना,[1] सती-देह-त्याग सुनकर गणों का क्रोध,[2] सती-देह-त्याग सुनकर भगवान् रुद्र का क्रोध,[3] वीरभद्र का विष्णु आदि पर क्रोध,[4]शिव की बारात देख सती का मुनियों, ऋषियों तथा पार्वती आदि पर क्रोध,[5] पार्वती द्वारा स्वयं को शिवार्थ प्रदान करने का आग्रह करने पर सती का क्रोध,[6] शिव के साथ पार्वती का विहार-भंग होने,[7] तथा गणेश-शिरश्छेदन पर पार्वती का क्रोध,[8] तारकासुर के प्रति वीरभद्र का कोप,[9] वीरभद्र के प्रति तारक का कोप,[10] जलन्धर, शुम्भ, निशुम्भ के प्रति शिव का रौद्र रूप,[11] शंखचूड रूप से सतीत्व दूर करने पर तुलसी का शाप[12] आदि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ क्रोध स्थायी भाव विभिन्न अनुभावों एवं संचारी भावों से पुष्ट होकर रौद्र रस की अभिव्यक्ति करता है।

अब कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं—

दक्ष-यज्ञ में हरि आदि का भाग देखकर एवं शिव का भाग न देखकर सती के मन में असहनीय क्रोध उत्पन्न होता है—

'तदा दक्षं दहन्तीव रुषा पूर्णा सती भृशम्।
क्रूरदृष्ट्या विलोक्यैव सर्वानप्यपमानिता॥

× × ×

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—29 :61
2. वही—30 : 19, 20
3. वही—30 : 48-59
4. वही—36 : 48, 49
5. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—44 : 7, 9-22, 38
6. वही—44 : 65-68
7. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—2 : 14-16, 18, 21
8. वही—17 : 6
9. वही—— 8 : 35
10. वही—8 : 38
11. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—24 : 11-13, 23
12. वही—41 : 33-35

किं शिवं सुरसामान्यं मत्वाकार्षीरनादरम्।
भ्रष्टबुद्धिर्भवानद्य जातोऽसि जनकाधम॥''[1]

यहाँ क्रोध भाव का आलम्बन दक्ष हैं। पिता तथा अन्यों द्वारा प्राप्त अनादर, यज्ञ में सभी देवों एवं सती की अन्य बहनों का आगमन, विष्णु आदि देवों का भाग, किन्तु शिव के भाग का न होना, यज्ञशाला आदि की सजावट आदि उद्दीपन का काम करते हैं। इसके फलस्वरूप सती में नेत्रों का क्रूर एवं लाल होना, दक्ष तथा विष्णु, ब्रह्मा एवं अन्य ऋषियों की कठोर भर्त्सना, शिवजी के बहुविध दयादि पौरुषेय तथा अपौरुषेय पराक्रम का वर्णन आदि अनुभाव प्रकट होते हैं। इससे ग्लानि, चिन्ता, मद, अमर्ष, स्मृति, चपलता, असूया, विषाद, उग्रता, वेग आदि संचारियों का उदय होता है।

सती के देह-त्याग को सुनकर शिव का क्रोध भी दर्शनीय है—

''तदाकर्ण्येश्वरो वाक्यं मुने तत्त्वन्मुखोदितम्।
चुकोपातिद्रुतं रुद्रो महारौद्रपराक्रमः॥''[2]

इस उदाहरण में दक्ष आलम्बन हैं। यज्ञ में अपना भाग न होना, प्रिया वामांगिनी सती का देह त्याग, दक्ष का अनादर एवं दुर्वचन, अपनी अनुपस्थिति में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों तथा ऋषियों, महर्षियों का आगमन, अपने प्रिय गणों का बलिदान आदि उद्दीपन शिव के हृदयस्थ क्रोध को जागृत करते हैं। इसके फलस्वरूप शिव में जिन अनुभावों का दर्शन होता है, वे इस प्रकार हैं—

''उत्पाट्यैकां जटां रुद्रो लोकसंहारकारकः।
आस्फालयामास रुषा पर्वतस्य तदोपरि॥''[3]

---

1. शि० पु०, रु० सं०,स० खं०—29 : 8-13
2. वही—32 :19
3. वही—32-40

लोकसंहारकारी शिव जी क्रोधित होकर अपनी एक जटा उखाड़ कर पर्वत पर पटकते हैं। उसमें से निकले हुए महावीर वीरभद्र को दक्ष के प्रति प्रेषित करना, नेत्रों का लाल होना आदि अनुभाव तथा अमर्ष, उद्वेग, चिन्ता, उग्रता आदि संचारी भाव हैं—

''दक्षादीन्सकलांस्तत्र सपत्नीकान्सबांधवान्।
प्रज्वाल्य वीर दक्षं नु सलीलं सलिलं पिब॥''[1]

अद्भुत-लीलाधारी शिव के अद्भुत रूप को देखकर क्रोधित मेना सप्तर्षियों के प्रति इस प्रकार अपने हृदयस्थ भावों को व्यक्त करती हैं—

''क्वगता ऋषयो दिव्याः श्मश्रूणित्रोटयाम्यहम्।
तपस्विनी च या पत्नी सा धूर्ता स्वयमागता॥''[2]

अपनी पुत्री पार्वती के प्रति उनका रोष इस प्रकार व्यक्त होता है—

''किं कृतं ते सुते दुष्टे कर्म दुःखकरं मम।
हेम दत्त्वा त्वयानीतः काचो वै दुष्टया स्वयम्॥
हित्वा तु चन्दनं भूयो लेपितः कर्दमस्त्वया।
हंसमुड्डीय काको वै गृहीतो हस्तपंजरे॥''[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में क्रमशः ऋषिगण तथा पार्वती आलम्बन हैं। शम्भु की अद्भुत वेषभूषा, उनके बाराती जिनमें कोई मुख-हीन तो कोई अनेक मुख वाले, कोई कर-हीन तो कोई कर-युक्त आदि अनेक विषमताओं एवं विचित्रताओं से युक्त, शिव का वाहन एवं आभूषणादि, वारातियों की विकृत वेषभूषा एवं विकृत क्रिया-कलाप जहाँ दर्शकों के लिए एक कौतूहल-भरा मनोरंजन हैं, वहीं मेना प्रभृति पार्वती के शुभचिन्तकों के मन में उन सभी के प्रति

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—32 : 58
2. वही—44 : 7
3. वही—44 : 9, 10

क्रोध के भाव उद्दीप्त करते हैं। इन विभावों के फलस्वरूप मेना के नेत्रों में लालिमा, दृष्टि में क्रूरता, चेहरा लाल, कठोर वचनावली, शरीर-कम्प आदि अनुभाव प्रकट होते हैं। इसके बाद संचारी भावों का उदय होता है। शिव की अद्‌भुत लीला देखकर मेना के मन में विषाद, ग्लानि, दैन्य मनस्ताप, चिन्ता, निर्वेद, अमर्ष आदि संचारी भावों को स्पष्ट देखा जा सकता है—

"किं करोमि क्व गच्छामि को मे दुःखं व्यपोहताम्।
कुलादिकं विनष्टं में विहतं जीवितं मम।।"[1]

मनस्ताप, विषाद, ग्लानि-जनित निर्वेद का निम्नलिखित उदाहरण दर्शनीय है—

"आवां च धिक्तथा पुत्री यो ते जन्मप्रवर्तकः।
धिक्ते नारद बुद्धिश्च सप्तर्षींश्च सुबुद्धिदान्॥
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं सर्वेधिग्यत्कृतं त्वया।
गृहन्तु धुक्षितं त्वेतन्मरणं तु ममैव हि॥"[2]

कायिक अनुभाव के रूप में, मेना का शोक एवं क्रोध से व्याकुल होकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ना अवलोकनीय है—

"इत्युक्त्वापतिता सा च मेना भूमौ विमूर्छिता।
व्याकुला शोकरोषाधैर्न गता भर्तृसन्निधौ॥"[3]

इसमें जड़ता, विषाद, अमर्ष एवं व्याधि जन्य ग्लानि का सुन्दर चित्रण हुआ है।

जलन्धर के बाणों से बिद्ध महाप्रलयकारी शिव जी ने क्षणमात्र में महालीला करते हुए प्रबुद्ध होकर ज्वालामाला से भयंकर रौद्र रूप धारण किया—

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—44 : 6
2. वही—44 : 17, 18
3. वही—44 : 23

"ततो रुद्रो महालीलो ज्ञानतत्वः क्षणात्प्रभुः।
रौद्ररूपधरो जातो ज्वालामालातिभीषणः॥"[1]

× × ×

"ततः परमसंक्रुद्धो रुद्रो रौद्रवपुर्धरः।
प्रलयानलवद्धोरो बभूव सहसा प्रभुः॥"[2]

इन उदाहरणों में दैत्यराज जलन्धर आलम्बन है। उसके बाण से बिद्ध होने से शिव का क्रोध उद्दीप्त होता है जिससे उनके नेत्र-मुख लाल, भुजायें चंचल होकर प्रतिहिंसा के लिए उद्यत होती हैं। इन अनुभावों के पश्चात् अमर्ष, उग्रता एवं चपलता रूप संचारीभावों का उदय होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव पुराण में विभावों, अनुभावों एवं व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर 'क्रोध' स्थायिभाव रौद्र रस को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि मेना के प्रसंग में जहाँ रौद्र रस की सृष्टि है, वहीं पुत्री के अनुरूप वर-लाभ न होने से भविष्य की चिन्ता से जनित शोक होने से करुण रस दृष्टिगोचर होता है। युद्ध भूमि में उत्पन्न रौद्र के साथ यत्र-तत्र युद्ध वीर भी उन्मज्जित-निमज्जित सा स्वादयोग्य है। इस प्रकार अन्य रसों के साथ रौद्र रस का सुन्दर परिपाक है।

वीर रस

वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है। इसका वर्ण 'गौर' और देवता 'महेन्द्रदेव' हैं, वह अध्यवसाय, असम्मोह, नीति, विनय, सेना, पराक्रम, शक्ति, प्रताप तथा प्रभाव आदि

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—44 : 11
2. वही—24 : 23

विभावों से उत्पन्न होता है तथा स्थिरता, धर्म, शौर्य त्याग, निपुणता आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय किया जाता है। धृति, गति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति रोमांच तथाप्रतिबोध उसके व्यभिचारिभाव होते हैं।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में वीर रस के चार भेद बतलाये हैं[2]—

1. दानवीर
2. धर्मवीर
3. युद्धवीर
4. दयावीर

वास्तव में वीर रस ही दान, धर्म, युद्ध और दया वीर रूप में चतुर्धा प्रतीत हुआ करता है।

शिव पुराण में वीर रस

शिव पुराण में वीर रस के चारों भेदों का सफल रूप से वर्णन है।

दानवीर—दान वीरता का सर्वोत्तम उदाहरण रुद्र संहिता के युद्ध-खण्ड में उस समय दृष्टिगोचर होता है जब शंखचूड के साथ भगवान् शंकर का युद्ध चल रहा था। युद्ध-भूमि में ब्रह्मा से वर प्राप्त कर तथा हरि का उत्तम कवच प्राप्त कर अजेय होकर शंखचुड़ युद्ध कर रहा था। आकाशवाणी सुनकर शिव की इच्छा से भगवान् विष्णु वृद्ध ब्राह्मण का वेष धारण कर शंखचूड से शपथपूर्वक रक्षा-कवच मांगते हैं। रणभूमि में स्थित सत्यभाषी शंखचूड ने उसी समय अपना प्राणों से प्यारा कवच ब्राह्मण को दे दिया—

"तच्छुत्वा दानवेन्द्रऽसौ ब्रह्मण्यः सत्यवाग्विभुः।
ददौ कवचं दिव्यं विप्राय प्राणसम्मतम्॥"[3]

---

1. नाट्यशास्त्र, (निर्णय सागर प्रेस), 1943, पृ० 100-101
2. सा० द०—3 : 234
3. शि० पु०, वा० सं०, यु० खं०—40 : 19

इस उदाहरण में दानवोत्तम शंखचूड का त्याग रूप उत्साह स्थायिभाव है। देव-रक्षक, भक्तवत्सल ब्राह्मण वेषधारी विष्णु आलम्बन हैं। सत्वोद्रेक, लोक प्रतिष्ठादि गुण उद्दीपन हैं और सत्यभाषित्व, सर्वस्व समर्पण आदि अनुभाव इसे व्यक्त करते हैं; मति, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव इसे पुष्ट करते हैं। इस प्रकार यह त्यागोत्साह "दानवीर" का आस्वाद बनकर सहृदय मानस को रससिक्त करता है।

धर्मवीर—शिवपुराण, 'धर्मवीरता' का अक्षय कोष है। ब्रह्मा, विष्णु, नारद, दक्ष, इन्द्र आदि देवों की तपस्या; मेना, सती, पार्वती, सन्ध्या आदि देवियों का तप; दधीचि, पिप्लाद, उपमन्यु, द्रोणादि ऋषियों-आचार्यों का तप; तारक, त्रिपुर, जलन्धर, शंखचूड, हिरण्यकशिपु, अन्धक आदि दानवेन्द्रों का वर-प्राप्ति हेतु तप; लिंग-स्थापना, विल्वपत्र, बेर आदि से लिंगार्चन आदि ऐसे स्थल हैं जहाँ धर्म रूप "उत्साह" अन्न-जल त्याग, शीतताप-तितिक्षा, विभिन्न आसनादि युक्त शारीरिक सहिष्णुतादि अनुभावों से अनुभाक्ति हो, चिन्ता, निर्वेद, श्रम आदि संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ रस-दशा को प्राप्त होता है।

पार्वती की तपस्या एवं लक्ष्य-स्वरूप शिव की प्राप्ति की लालसा युक्त निष्ठा का एक उदाहरण अवलोकनीय है—

"विगृह्य मनसा सर्वाणीन्द्रियाणि सहाशु सा।
समुपस्थानिके तत्र चकार परमं तपः॥
ग्रीष्मे च परितो वह्निं प्रज्वलन्तं दिवानिशम्।
कृत्वा तस्थौ च तन्मध्ये सततं जपती मनुम्॥"[1]

इस उदाहरण में शिव जी आलम्बन हैं। कर-रेखा, गुरु-रूप नारद का वचन, माता-पिता की अनुकूल इच्छा, तथा शिव का दिव्य गुणों से समन्वित अद्भुत चरित्र आदि उद्दीपन

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—22 : 39, 40

विभाव हैं। शिव हेतु माता-पिता, बन्धु-बान्धव, परिवार, गृह, राजवैभव, राजसुख आदि का त्याग, ग्रीष्म, वर्षा शीतकाल में अनाहार तप आदि अनुभाव हैं; हर्ष मति, गर्व, आवेश, स्मृति, रोमांच आदि संचारी भाव हैं। इन सबसे पुष्ट होता हुआ धर्म-रूप उत्साह धम्रवीर रस को अभिव्यक्त करता है।

युद्धवीर— शिवपुराण की रुद्र-संहिता का कुमार-खण्ड एवं युद्ध-खण्ड युद्धवीरता के रोमांचकारी चित्ताकर्षक वर्णनों से परिपूर्ण है। ब्रह्मा, विष्णु का परस्पर न्यून दिखाने का प्रयत्न,[1] सती-खण्ड में वीरभद्र की शिवाज्ञा-याचना,[2] तथा युद्ध में विष्णु के प्रति हुंकार,[3] बालक गणेश की शिव गणों के प्रति ललकार,[4] सती देह त्याग के समय शिव-गणों का रोष,[5] वीरभ्रद का इन्द्रियादिक लोकपालों को युद्ध के लिए ललकार-युक्त आमंत्रण,[6] विष्णु आदि का स्वपराक्रम-कथन,[7] वीरभद्र का पृथ्वी को तारकहीन करने का कथन,[8] कुमार और तारक का युद्ध,[9] गणेश जी का शिव गणों के साथ अद्‌भुत वीरतापूर्ण युद्ध,[10] जलन्धर का स्वपराक्रम-कथन,[11] शंखचूड का शिव के दूत पुष्पदन्त से शंखचूड का राज्य न देकर युद्ध देने का कथन,[12] स्कन्द के शर-सन्धान से भयभीत असुरों का पलायन,[13] भगवान् शिव का युद्धभूमि में

---

1. शि० पु०, वि० सं० - 6 :9
2. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—32 : 29-32, 41
3. वही—36 : 48-56
4. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—15: 3-9
5. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—30: 19-20
6. वही—36 : 35, 36
7. वही—36 : 69
8. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—8 : 22, 23
9. वही—10 : 19, 20
10. वही—15 : 15-20
11. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०— 24 : 30-41
12. वही—30: 18-20
13. वही—37 : 11, 12

डमरू आदि सहित गर्जन,[1] सहस्रबाहु बाणासुर का दर्पयुक्त कथन,[2] आदि युद्धवीरता के अनेक अवलोकनीय लोमहर्षक स्थल हैं।

दक्ष के यज्ञ में आये हुए भगवान् विष्णु को ललकार कर वीरभ्रद कहते हैं—

"वक्षो विदारयिष्यामि त्रिशूलेन हरे तव।
कस्तवास्ति समायातो रक्षकोद्य ममान्तिकम्॥
पातयिष्यामि भूपृष्ठे ज्वालयिष्यामि वह्निना।
दग्धं भवन्तमधुना प्रेषयिष्यामि सत्वरम्॥"[3]

इस उदाहरण में विष्णु जी आलम्बन हैं। दक्ष के यज्ञ में आगमन, सती-देहत्याग पर भी दक्ष-यज्ञ की रक्षा को स्वीकारना, सती का योगाग्नि में देहत्याग, सहस्रों गणों का मरण, शिव का अनादर एवं उनके प्रति कटु वचन, यज्ञ में भाग न होना, आदि उद्दीपन हैं। वीरभद्र का क्रोधित होना, रक्त मुख व नेत्र, शस्त्र-ग्रहण, शत्रु का विनाश करने का कथन आदि अनुभाव हैं। अमर्ष, गर्व, उग्रता, वितर्क, एवं असूया आदि व्यभिचारी हैं।

शंखचूड का शिव के दूत पुष्पदन्त के प्रति संदेश कथन भी सुन्दर निदर्शन है—

"राज्यं दास्ये न देवेभ्यो वीरभोग्या वसुन्धरा।
रणं दास्यामि ते रुद्र देवानां पक्षपातिने॥"[4]

यहाँ शिव आलम्बन हैं, दूत से राज्य लौटाने का एवं विकल्प में युद्ध करने का निमंत्रण तथा न लौटाने पर बध आदि का संदेश आदि उद्दीपन हैं। शंखचूड का मुस्कराना, पुनः संदेश कथन एवं पराक्रमादि-वर्णन अनुभाव हैं। स्मित, गर्व, अमर्ष, उग्रता आदि संचारीभाव हैं।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—39 : 19-21, 26
2. वही—52 :9-11
3. शि० पु०, रु० सं, स० खं०—36 : 53, 54
4. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०— 32 : 18

दयावीर—शिव पुराण में दयावीरता का पर्याप्त मात्रा में वर्णन उपलब्ध है। दयासागर, करुणा सिन्धु भगवान् शिव के सहस्रों अवतार स्वयं इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि शिव जी भक्तों पर दयालु होकर अवतरित हुए और उनके कष्टों को दूर किया। अपने घोर विरोधी दक्ष के, युद्ध में पराजित तथा वीरभद्र द्वारा शिर काटकर हवन कर देने पर, बाद में करुणा सागर, दयासिन्धु शिव ने सवन के पशु का शिर लेकर प्रजापति दक्ष के शिर पर जोड़ दिया। जब वह शिर जोड़ा गया और शिव जी ने कृपा दृष्टि से देखा तब प्रजापति तत्काल ही प्राणयुक्त होकर शीघ्र ही सोते हुए के समान उठ बैठते हैं—

"अथ प्रजापतेस्तस्य सवनीयपशोश्शिरः।
वस्तस्य संदधुश्शंभोः कायेनारं सुशासनात्॥
संधीयमाने शिरसि शंभुसद्दृष्टिवीक्षितः।
सद्यस्सुप्त इवोत्तस्थौ लब्धप्राणः प्रजापतिः॥"[1]

इस उदाहरण में दक्ष प्रजापति आलम्बन है। यज्ञ-विध्वंस, दक्ष का पराभव, शिरकटा मृत शरीर, ऋषियों आदि की दीन-हीन दशा आदि दयाभाव, को उद्दीप्त करते हैं इसके फलस्वरूप नेत्रों में दयाभाव आना, शस्त्र-त्याग आदि अनुभाव है तथा मनस्ताप,ग्लानि आदि संचारीभाव हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव पुराण में वीर रस के चारों अंग, दान, धर्म, युद्ध एवं दयावीर का सुन्दर एवं सफल चित्रण हुआ है।

भयानक रस

व्याघ्र-दर्शनादि सद्योमृत्यु-कारक आलम्बनों से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।[2]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—42 : 26, 27
2. "व्याघ्रदर्शनादिजन्मापरमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यःसभयम्।"—रस गंगाधर

इसका स्थायिभाव 'भय' है। इसका वर्ण 'कृष्ण' तथा देवता 'काल' है।

शिव पुराण में भयानक रस

शिव पुराण में सती-देह त्याग से उत्पन्न उपद्रव[1] वीरभद्रोत्पत्ति,[2] शिव रूप में स्थित जलन्धर पार्वती का त्रास,[3] कामदेव के ऊपर क्रुद्ध शिव के तृतीय नेत्र से उद्भूत प्रलयकारी अग्नि,[4] शिव गणों के साथ गणेश का रोमांचकारी युद्ध,[5] दैत्यराज शंखचूड से शिव के भयंकर युद्ध में त्रासद गर्जना,[6] तथा तारकासुर, जलन्धर, त्रिपुरादि दानवों के साथ देवताओं, गणों सहित लोक-संहारक शिव के प्रलयकारी लोमहर्षक युद्धों का दृश्य 'भय' नामक स्थायिभाव को उद्दीप्त करके भयानक रस की निष्पत्ति करता है।

पार्वती-खण्ड में हिमालय के यहाँ आयी हुई शिव की विकट बारात मेना-सहित लोगों के हृदय में भयानक रस की उत्पत्ति करती है—

''भूतप्रेतादिसंयुक्ता नानागणसमन्विता।
वात्यारूपधराः केचित्पताकामर्मरस्वनाः॥
वक्रतुण्डास्तत्र केचिद्विरूपाश्चापरे तथा।
करालाः श्मश्रुलाः केचित्केचित्खञ्जा ह्यलोचनाः''॥[7]

इस उदाहरण में असंख्य गण एवं भूत-प्रेतादिसमन्वित, सर्प, विच्छू आदि आभूषणों

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—30 : 18
2. वही—32 : 21-23
3. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—22 : 42
4. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—19 : 15-17
5. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—15 : 19, 20
6. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०— 39 : 19-23
7. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०— 43 : 50-52

वाले शिव को देखकर मेना कांपती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं। यहाँ भूत-प्रतादि उद्दीपन हैं। मेना का भागना, पृथ्वी पर गिरना, आदि अनुभाव हैं। प्रस्वेद, कम्प, ग्लानि, चिन्ता, त्रास, और विषाद, आदि संचारी भाव हैं।

शिव-गणों के साथ गणेश के युद्ध में भयानक रस की स्थिति दर्शनीय है—

"सिंहं दृष्ट्वा यथा यान्ति मृगाश्चैव दिशो दश।
तथा ते च गणास्सर्वे गताश्चैव सहस्रशः॥

× × ×

कल्पान्तकरणे कालो दृश्यते च भयंकरः।
यथा तथैव दृष्टस्स सर्वेषां प्रलयंकरः॥"[1]

इस उदाहरण में गणेश जी आलम्बन हैं। उनकी भयंकर मुखमुद्रा, अप्रतिम बलवीर्य, गणों पर शस्त्रादि का प्रहार एवं आतंक आदि उद्दीपन हैं। गणों का दशों दिशाओं में पलायन, गणेश की कराल-काल-सदृश भयंकर भावभंगिमा आदि अनुभाव हैं, जो चिन्ता, त्रास, विषाद आदि संचारीभावों से पुष्ट होकर भयानक रस की अभिव्यक्ति करते हैं।

बीभत्स रस

अत्यन्त अहृद्य कीड़े तथा दुर्गन्ध इत्यादि विभावों के द्वारा 'जुगुप्सा' नामक स्थायिभाव से उत्पन्न होने वाले रस को बीभत्स रस कहते हैं।[2] घृणोत्पादक वस्तुओं को देखने से बीभत्स रस की उद्भावना होती है। इसका स्थायिभाव 'जुगुप्सा' है।[3]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—15 : 18-20
2. अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सारस्थायिभावपरिपोषणलक्षण उद्वेगी बीभत्सः —दशरूपक,चतुर्थ प्रकाश, श्लोक, 73 की वृत्ति।
3. कदर्यवस्तुविलोकजन्मा विचित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा—रसगंगाधर

आचार्य भरत ने क्षोभण (शुद्ध) और उद्वेगी (अशुद्ध) रूप बीभत्स के दो भेद माने हैं। उनमें रुधिर आदि से उत्पन्न क्षोभण तथा कृमि, विष्ठा आदि से उत्पन्न उद्वेगी कहलाता है।[1] दशरूपककार ने इसके तीन प्रकार बताये हैं—(1) उद्वेगी, (2) क्षोभण, (3) शुद्ध।[2] इसका वर्ण 'नील' तथा देवता 'महाकाल' हैं।

शिव पुराण में बीभत्स रस

शिव पुराण में एकाध स्थलों को छोड़कर प्रायः क्षोभण बीभत्स का ही वर्णन प्राप्त होता है। इसके रुद्र-संहिता के सती-खण्ड में भैरवी, नायक द्वारा देवताओं को विद्रावित कर उनका रुधिर पान करना, दक्ष-यज्ञ की रक्षार्थ विष्णु से युद्ध के समय क्षेत्रपाल का देवताओं का मांस-भक्षणतथा काली का उनको विदीर्ण कर उनका रुधिर पान करना बीभत्स रस को प्रकट करता है—

"योगिनीचक्रसंयुक्तो भैरवीनायको महान्।
विदीर्य्य देवानखिलान्पपौ शोणितमद्भुतम्॥
क्षेत्रपालास्तथा तत्र बुभुक्षुः सुरपुंगवान्।
काली चापि विदार्येव तान्पपौ रुधिरं बहु॥"[3]

इन उदाहरणों में क्षेत्रपाल तथा काली द्वारा विदीर्ण करके रुधिर-पान एवं मांस-भक्षण किये जाने वाले देवताओं के शरीर आलम्बन हैं, शरीर को चीरना-फाड़ना उद्दीपन है। मांस-भक्षण एवं रक्त पान देखकर मुँह मोड़ना, नाक सिकोड़ना, थूकना आदि अनुभाव हैं, उद्वेग, चिन्ता, शंका आदि संचारीभाव हैं।

---

1. बीभत्सः क्षोभणः शुद्ध उद्वेगी स्यादद्वितीयकः।
   विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः॥—नाट्यशास्त्र—7 :82
2. दशरूपक—4 : 73
3. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—37 :17 :18

इसी सती खण्ड में ही दक्षादि का रुधिर एवं शल्य-सहित मांस-वमन भी घृणोत्पादक दृश्य है।[1] वितानाग्नि पर शिव-गणों द्वारा पुरीष की वर्षा,[2] दक्षादि के शिर, शरीर आदि अग्नि-कुण्ड में डालना,[3] आदि घृणा उत्पन्न करते हैं। तारकासुर के साथ देवताओं के युद्ध में बीभत्स का एक उदाहरण दर्शनीय हैं—

'नद्यः प्रवर्तितास्तत्र शतशोऽसृंगवहास्तदा।
भूतप्रेतादयस्तत्र शतशश्च समागताः॥
गोमायवश्शिवास्तत्र भक्षयन्तः पलं बहु।
तथा गृध्रवटाश्येना वायसा मांसभक्षकाः॥
बुभुजुः पतितानांचपलानि सुबहूनि वै।'[4]

उपर्युक्त उदाहरण में मांस और रुधिर की नदियों के प्रवाह, गीदड़ों आदि द्वारा मांस-भक्षण एवं रक्तपान घृणा उत्पन्न करते हैं। मुँह फेरना, थूकना, आँख बन्द करना, नाक सिकोड़ना आदि अनुभावों तथा उद्वेग,शंका आदि व्यभिचारी भावों से बीभत्स रस की निष्पत्ति होती है।

युद्ध खण्ड में भद्रकाली द्वारा आकशमण्डल से निकलने वाले रक्त-मांस का भक्षण,[5] काली तथा क्षेत्रपालों का राक्षसों का भक्षण,[6] अन्धक द्वारा अपने शरीर के मांस को मन्त्र-सहित अग्नि में डालकर हवन करना[7] अन्धकासुर और शिव के युद्ध में मांस के कीचड़ से

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—34 : 11
2. वही—37 : 57
3. वही—37 : 61
4. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—7 : 29-30
5. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०— 39 : 36-37
6. वही—40 : 41-42
7. वही—44 : 6

युक्त रणभूमि में दैत्यपति की सेना से निकले रुधिर को देवी द्वारा पान करना।[1] आदि स्थल हृदय में घृणा के भाव को उत्पन्न करते हैं।

अद्भुत रस

लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थ जिसमें विभाव होते हैं; 'विस्मय' स्थायिभाव जिसकी आत्मा होती है; साधुवाद, कम्पन, स्वेद, कण्ठ का गद्गद होना, ये जिसके कर्म (अनुभाव) होते हैं; हर्ष, आवेग, धृति, इत्यादि जिसके व्यभिचारी भाव होते हैं, उसे अद्भुत रस कहते हैं।[2]

अद्भुत रस का स्थायिभाव 'विस्मय', वर्ण 'पीत' तथा देवता 'गन्धर्व' माने जाते हैं। इसका आलम्बन अलौकिक वस्तु तथा उद्दीपन अलौकिक वस्तु का गुण-कीर्तन होता है। इसके अनुभाव के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, गद्गद स्वर, सम्भ्रम, नेत्र-विकास आदि आते हैं। इसमें वितर्क, आवेग, सम्भ्रम हर्ष आदि संचारीभाव परिपोषण का कार्य करते हैं।[3]

शिव पुराण में अद्भुत रस

शिव पुराण में अद्भुत रस का सुन्दर वर्णन हुआ है। विद्येश्वर-संहिता में ब्रह्मा-विष्णु को परस्पर श्रेष्ठ और न्यून सिद्ध करने का विवाद और बाद में युद्ध, जिसमें दिव्यास्त्रों के प्रयोग से सभी लोग पीड़ित हो जाते हैं, दोनों को शान्त करने के लिए उनके मध्य में महा अग्नि के स्तम्भ के समान महा भयंकर आकृति के समान शिव का प्रकट होना,[4] ब्रह्मा के कपट-व्यवहार को देख कर प्रहार करने को उसी अग्नि-स्तम्भ से ईश्वर का साकार प्रादूर्भूत होना,[5]

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—46 : 36
2. दशरूपक - 4 : 78, 79
3. सा० द० - 3 : 242-244
4. शि० पु०, वि० सं०—7 : 11
5. वही—7 : 29

ब्रह्मा के मद को दूर करने के लिए शिव की भ्रुकुटी के मध्य से एक अद्भुत पुरुष भैरव की रचना,[1] रुद्र-संहिता के सृष्टि खण्ड में सहस्त्रशीर्ष, सहस्त्र नेत्र-चरणों वाले विष्णु का विराट् रूप में प्रकट होना,[2] सती-खण्ड में शिव की इच्छा-रूप महाशक्ति से गणों का हत और विद्रावित होना,[3] दक्ष के लिए अशुभ-सूचक विस्मयकारी, भूकम्प, मध्याह्न में नक्षत्र-दर्शन, दिशाओं का मलिन होना, सूर्य में काले दाग दिखाई पड़ना, बिजली और अग्नि के समान नक्षत्रों का गिरना, गृध्रों द्वारा दक्ष का शिर-स्पर्श, गीदड़ एवं नेत्रक पक्षियों का अशुभ-सूचक शब्द, श्वेत वृश्चिकों के साथ उल्का-वृष्टि आदि,[4] सृष्टि-खण्ड में भगवान विष्णु की नाभि में कमल का आविर्भाव, अनन्त योजन विस्तार एवं ऊंचाई वाले कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति,[5] शिव गणों के साथ बालक गणेश का विस्मयकारी युद्ध,[6] पार्वती-खण्ड में भगवान् शिव के ललाट से अग्नि-पुंज प्रकट होना और प्रलयाग्नि-सदृश प्रदीप्त हो जल उठना।[7] सती-खण्ड में सती-देहत्याग के समय आकशवाणी सुनकर विस्मित होना,[8] शिव जी का आँखे बन्द करना, पार्वती जी के हाथ से मद-जल गिरने से अन्धकासुर की उत्पत्ति[9] आदि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ अद्भुत रस की उत्तम अभिव्यक्ति हुई है।

ब्रह्मा-विष्णु के विवाद को शान्त करने हेतु महा अग्नि के स्तम्भ के समान महा भयंकर आकृति के समान निर्गुण ब्रह्म के प्रकट होने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

---

1. शि० पु०, वि० सं०—8 : 1
2. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—15: 32
3. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—30 :27
4. वही—34 : 4-8
5. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—7 : 1-3, 5
6. शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—15 : 55-58
7. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—19 : 15-18
8. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—31 : 01
9. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—40 :18-20

महानलस्तम्भविभीषणाकृतिः।

वभूव तन्मध्यतले स निष्कलः॥[1]

यहाँ महानल-स्तम्भ आलम्बन हैं; एकाएक उन दोनों के मध्य प्रकट होना तथा यह अद्‌भुत वस्तु क्या है, इस प्रकार का कथन उद्दीपन है; स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, सम्भ्रम, नेत्र-विकास आदि अनुभाव हैं, तथा आवेग, सम्भ्रम, चिन्ता आदि संचारीभाव हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव पुराण में अद्‌भृत रस का सुन्दर परिपाक है।

शान्त रस

शान्त रस का स्थायी भाव 'शम'[2] है। इस रस के आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति हैं। इसका वर्ण 'कुन्द श्वेत किंवा चन्द्रश्वेत' तथा देवता 'श्री भगवान् नारायण' हैं। सांसारिक विषयों से विरक्ति और परमात्म-स्वरूप का ज्ञान आलम्बन एवं पवित्र आश्रय हरि क्षेत्र, तीर्थ स्थान, रमणीय कानन, सन्तसमागम आदि उद्दीपन; रोमांचादि अनुभाव तथा निर्वेद, स्मृति, हर्ष, मति, जीव-दया आदि इसके संचारीभाव हैं।

शिव पुराण में शान्त रस

शिव पुराण में शान्त रस का अगाध महासागर ही है। इसकी प्रत्येक संहिता में कम या अधिक मात्रा में इसकी उद्‌भावना हुई है—

विद्येश्वर-संहिता का प्रस्तुत उदाहरण अवलोकनीय है—

"आद्यन्तहीनवपुषित्वयि मोहबुद्धया,

भूयाद्विमर्श इहनावतिकामनोत्थः।

---

1. शि० पु०, वि० सं०—7 : 11
2. काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के अनुसार तत्त्वज्ञानज 'निर्वेद' शान्त का स्थायिभाव है—निर्वेदः स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।"—काव्यप्रकाश, 4 : 35 का पूर्वार्द्ध

सत्वं प्रसीदकरुणाकर कश्मलं नौ,

मृष्टंक्षमस्व विहितं भवतैवकेल्या॥'' [1]

उपर्युक्त उदाहरण में परमात्मस्वरूप का ज्ञान आलम्बन है। भगवान् शिव का प्रत्यक्ष दर्शन उद्दीपन है। स्वामी विलोकन से काँपते हाथों से प्रणाम करना, रोमांचित होना, शिव का गुण-कथन, पाप-नाश एवं दोषों के लिए क्षमा याचनादि अनुभाव हैं; निर्वेद स्मृति, हर्ष, मति, जीव दयादि संचारी भाव हैं। इन सबके संयोग से शान्त रस की निष्पत्ति हुई है।

शान्त रस का एक अन्य उदाहरण दर्शनीय है—

''तत्राश्रमो महादिव्यो नानाशोभासमन्वितः।

तपोऽर्थं स ययौ तत्र नारदो दिव्यदर्शनः॥

तां दृष्ट्वा मुनिशार्दूलस्तेपे स सुचिरं तपः।

बध्वासनं दृढ़ं मौनी प्राणानायम्य शुद्धधीः॥'' [2]

यहाँ तप द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति आलम्बन है। हिमालय पर्वत की परम शोभायमान गुफा, वेग से बहती हुई गंगा नदी का प्रवाह, अनेक शोभा-सम्पन्न आश्रम, एकान्त स्थान, वन आदि उद्दीपन हैं। मौन होना, विशेष प्रकार का आसन, प्राणायाम, नेत्र-निमीलन आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, मति, इन्द्रियों का शून्यवत् होना, जड़ता आदि संचारी भावों के संयोग से शान्त रस की निष्पत्ति हुई है।

1. शि० पु०, वि० सं०—7 : 30
2. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—2 : 3,4

अलंकार-निरूपण

शिव पुराण की रचना के समय आज की भाँति अलंकार शास्त्र का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था। अतएव तत्कालीन काव्यों में पश्चात्वर्ती संस्कृत काव्यों की भाँति अलंकारादि की भरमार नहीं मिलती। इसी से वाल्मीकीय रामायण एवं पुराणादिकों में जो भी अलंकार आये हैं वे प्रयत्नपूर्वक न लादे जाकर स्वाभाविक रूप से आ गये हैं। इस कारण उनके सौन्दर्य में अत्यधिक नैसर्गिकता विद्यमान है। शिव पुराण में अलंकार इसी प्रकार से आये है। यहाँ पर शिव पुराणमें प्राप्त अलंकारों के ऊपर विचार किया जा रहा है।

काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म का नाम अलंकार है।[1] अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है, शोभा का विकास होता है एवं काव्य-गुण की गरिमा बढ़ती है। अतएव साहित्यकारों ने अलंकारों को पर्याप्त महत्व दिया है। यहाँ तक कि कतिपय विद्वानों ने अलंकारों के बिना काव्य को काव्य ही नहीं माना।[2] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार शब्द और अर्थ के शोभावर्धक अस्थिर धर्म अलंकार हैं जो रसादि के प्रकाशन में उपकारक होते हैं।[3] अलंकारों को शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य में अलंकारों की स्थिति अपरिहार्य नहीं है। इस तथ्य को काव्य-प्रकाशकार ने अपने काव्य लक्षण में "अनलंकृती पुनः क्वापि" कहकर काव्य में अलंकारों की अपरिहार्यता के अभाव का दिग्दर्शन किया है[4] और अलंकारों के लक्षण निरूपण में लिखा

---

1. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।—काव्यादर्श—2/1
2. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंगीकृती।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥—चन्द्रालोक—1/8
3. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।7—सा० द०—10 :1
4. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि - काव्य प्रकाश

है कि जो काव्य में विद्यमान अंगीरस को शब्द और अर्थ रूप अंगों के द्वारा कभी-कभी उपकृत करते है वे अलंकार हैं।[1] आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले धर्म अलंकार होते हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अलंकार रस के उपकारक धर्म है।

शिव पुराण में प्रयुक्त अलंकारों के विषय में दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि उसमें शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

शब्दालंकार

शब्दों से सम्बन्ध रखने वाले अलंकार शब्दालंकार कहे जाते हैं। अनुप्रासादि, जिनमें केवल शब्दगत चमत्कार रहता है, शब्दालंकारों के वर्ग में रखे जाते हैं।

अनुप्रास अलंकार—

स्वरों के वैषम्य के होने पर भी जो शब्दों का साम्य होता है उसे अनुप्रास कहा जाता है।[3] छेक, वृत्ति, लाट, श्रुति तथा अन्त्य आदि भेद से विद्वानों ने इसके पाँच प्रकार माने हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण शिव पुराण में देखने को मिलते हैं।

छेकानुप्रास—अनेक वर्णों का एक बार आवृत्ति रूप साम्य छेकानुप्रास कहलाता है।[4] शिव पुराण में छेकानुप्रास का उदाहरण—

---

1. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।—काव्य प्रकाश—8 : 87
2. अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥—ध्वन्यालोक—2 : 6
3. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।—सा० द०—10/3
4. सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः।—काव्य प्रकाश—9 : 105

"सर्ववाला गुणाक्रान्तां सदास्वालयकारिणीम्।

तोषयामास पितरौ नित्यं नित्यं मुहुर्मुहुः॥"[1]

यहाँ नित्यं-नित्यं, मुहुर्मुहुः में वर्णों के साथ-साथ शब्द समूह की आवृत्ति से छेकानुप्रास अलंकार है।

वृत्त्यनुप्रास—एक वर्ण की भी और अनेक वर्णो की भी अनेक बार आवृत्ति होने को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।[2] वृत्तियाँ तीन प्रकार की मानी जाती हैं, उपनागरिका, पुरुषा एवं कोमला। माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों की रचना में उपनागरिका, ओज गुण के व्यंजक वर्णों की रचना में परुषा तथा प्रसाद गुण के व्यंजक वर्णों की रचना में कोमला वृत्ति मानी जाती है इनके नाम क्रमशः वैदर्भी, गौडी एवं पांचाली भी है। वृत्त्यनुप्रास का उदाहरण निम्न है—

"तत्रैवं तपतस्तस्य महत्तेजो विनिस्सृतम्।

शिरसस्सर्वसंसर्पि महोपद्रवकृन्मुने॥"[3]

प्रस्तुत उदाहरण में 'त' की आवृत्ति प्रकाम् रमणीय है। इसके अतिरिक्त 'स' की अनेक बार आवृत्ति से काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

लाटानुप्रास—शिव पुराण में लाटानुप्रास का उदाहरण इस प्रकार है—

"अतद्व्यावृत्तितस्तां वै चकितं चकितं सदा।

अभिधत्ते श्रुतिरपि परेषां का कथा मता॥"[4]

यहाँ चकितं, चकितं की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास है।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—14 :59
2. एकास्याप्यसकृत्परः।—काव्य प्रकाश—9 : 79
3. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—15 : 29
4. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—4 : 11

यमक अलंकार—

भिन्न-भिन्न अर्थों वाले सार्थक स्वर व्यंजन समुदाय की उसी क्रम में आवृत्ति होने को यमक कहते हैं।[1]

शिव पुराण में यमक अलंकार का भी स्थान-स्थान पर वर्णन प्राप्त होता है। निम्नलिखित उदाहरण में शंकरपद दो बार आने तथा अर्थ भिन्न होने से यमक अलंकार है—

"कथं प्रसन्नतां याति शंकरो लोकशंकरः।"[2]

यहाँ पर प्रथम शंकर का अर्थ 'विधाता' तथा दूसरे शंकर का अर्थ 'कल्याणकर्ता' है। अतः यह यमक अलंकार का उदाहरण है। यमक का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

"शिवे जय जय प्राशे महेश्वरि भवाम्बिके।

वरयोन्यास्महं चेत्ते वृषे भूयोवरं वरम्॥"[3]

इस उदाहरण में वरम्, वरम् पद के अर्थ क्रमशः श्रेष्ठ एवं वरदान है। अतः यमक अलंकार है।

अर्थालंकार

जिन अलंकारों में अर्थगत चमत्कार रहता है। उन्हें अर्थालंकार कहते हैं। अग्नि पुराण में अर्थालंकारों का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि अर्थालंकारों से रहित वाणी विधवा की भाँति रहती है।[4] शाब्दिक चमत्कार की अपेक्षा अर्थगत चमत्कार अधिक प्रभावी होता है।

---

1. सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।
   क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥"सा० द०
2. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—6 : 14
3. वही—6 : 31
4. अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती।—अग्नि पुराण—344/2

अतएव इन अलंकारों को अधिक महत्त्व दिया गया है। शिव पुराण में भी ये अलंकार पर्याप्त मात्रा में आये हैं।

उपमा अलंकार—

एक ही वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित तथा वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं।[1] यह अलंकार अति प्राचीन एवं सर्वप्रिय माना जाता है। विद्वानों ने इस अलंकार के कई भेद माने हैं। उनमें से बहुतों के उदाहरण शिव पुराण में प्राप्त होते हैं। शीलनिधि राजा की कन्या के गुणों का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं—

''सूतेयं तव भूताल सर्वलक्षणलक्षिता।
महाभाग्यवती धन्यालक्ष्मीरिव गुणालया॥''[2]

यहाँ राजपुत्री की लक्ष्मी से उपमा दी गयी है। यह श्रौती उपमा का उदाहरण है। भगवान विष्णु की सद्वैद्य से[3] शीलभद्र की स्वयंवर सभा की इन्द्र की सभा से[4] दी गयी उपमायें अत्यन्त सुन्दर हैं। रति के सौन्दर्य के वर्णन में निम्न उपमायें सुन्दर हैं—

''पूर्णेन्दुसदृशं वक्त्रं दृष्ट्वा लक्ष्मसुलक्षितम्।
न निश्चिकाय मदनो भेदं तन्मुखचन्द्रयोः॥
सुवर्णपद्मकलिकातुल्यं तस्याः कुचद्वयम्।
रेजे चूचुकयुग्मेन भ्रमरेणेव वेष्टितम्॥'' [5]

यहाँ सुवर्ण पद्मकलिका से कुचद्वय की तथा चूचुकों की भ्रमरों से उपमा कितनी

---

1. साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्यउपमा द्वयोः।—सा० द०
2. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—3 : 17
3. वही—3 : 31
4. वही—3 : 35
5. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—4 : 13-14

सजीव एवं सटीक है।

वसन्त के वर्णन में विभिन्न उपमाओं के एक साथ आने से मालोपमा अलंकार की छटा दर्शनीय है—

"शोणराजीवसंकाश: फुल्लतामरसेक्षण:।
संध्योदिताखण्डशशिप्रतिमास्यस्सुनासिक:।।
शांर्ङ्गवच्चरणार्क्तश्श्यामकुंचितमूर्द्धज:।
संध्यांशुमालिसदृश: कुंडलद्वयमंडित:॥"[1]

इस प्रकार औपम्य-विधान शिव पुराण में पदे-पदे उपलब्ध होता है। वस्तुत: पुराणकार, जहाँ ज्ञानतत्त्व के किसी गूढ़ाशय आदि को पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं वहाँ विभिन्न उपमाओं का सहारा लेकर उसे व्यक्त करते हैं।

रूपक अलंकार—

जहाँ पर उपमान एवं उपमेय का अभेद रूप में वर्णन किया जाता है वहाँ रूपक अलंकार होता है।[2] रूपक की छटा शिव पुराण में कई स्थलों में देखी जा सकती है—

"शिवेनोपनिषत्सिंधुमन्थनोत्पादितांमुदा।
कुमारायार्पितां तां वै सुधां पीत्वाऽमरो भवेत्॥'[3]

यहाँ उपनिषद् में समुद्र का तथा वाणी में अमृत का आरोप होने से रूपक है।

रूपक अलंकार का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—8 : 38, 39
2. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो:।—काव्य प्रकाश—10/139
3. शि० पु०, वि० सं०—2 : 41

जिह्वालिंगान्मंत्रशुक्रं कर्णयोनौनिषिच्यवै।

जात:पुत्रोमंत्रपुत्र: पितरं पूजयेद्गुरुम्॥[1]

संयोग काल में रमण के सादृश्य रूपक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि किस प्रकार एक दूसरे के संसर्ग से शिव-काली ने भाव का जल छिड़क कर प्रेम रूपी वृक्ष को बढ़ाया—

"एवमन्योन्यसंसर्गादनुरागमहीरुहम्।

वर्द्धयामासतु: कालीशिवौ भावांबुसेचनै:॥"[2]

उत्प्रेक्षा अलंकार—

प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत रूप में संभावना किये जाने पर उत्प्रेक्षा नामक अलंकार होता है।[3] यह संभावना वस्तु, हेतु एवं फलात्मक होती है। दक्ष के यज्ञ में शिव के भाग को न देखकर तथा अपने तिरस्कार से दु:खी सती के क्रोध का इस प्रकार उत्प्रेक्षा पूर्ण वर्णन है—

"तदा दक्षं दहन्तीव रुषा पूर्णा सती भृशम्।

क्रूरदृष्ट्वा विलोक्यैव सर्वानप्यपमानिता॥"[4]

विशेषोक्ति अलंकार—

सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी फलोत्पत्ति का अभाव ही विशेषोक्ति कहा जाता है।[5] शिव पुराण में विशेषोक्ति के उदाहरण कई स्थानों पर देखने को मिलते हैं—

---

1. शि० पु०, वि० सं०—18, 90
2. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—22 : 70
3. संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना।—चन्द्रालोक
4. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—29 : 8
5. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच:।—काव्य प्रकाश—10 : 107

"अतिसौरभ्यमम्लानं बहुवर्षच्युतं तथा।

अन्वीक्ष्य च तयोः कृत्यं भगवान्परमेश्वरः॥" [1]

इस उदाहरण में अनेक वर्षों से गिरने रूप कारण के होते हुए भी पुष्प की सुगन्धता एवं मलीनता रूप कार्य का अभाव होने से विशेषोक्ति है।

इसी प्रकार विशेषोक्ति अलंकार का यह उदाहरण भी दर्शनीय है—

"पिबन्तः त्वन्मुखाम्भोजच्युतं ज्ञानामृतम्व्ययम्।

अतितृप्ताः पुनः किं चित्प्रष्टुमिच्छामहेऽनघ॥" [2]

यहाँ ज्ञानामृत के पान रूपी कारण के होते हुए भी तृप्ति रूपी कार्य के अभाव होने से विशेषोक्ति अलंकार है।

परिकर अलंकार—

अभिप्राय युक्त विशेषणों के द्वारा किसी बात का कथन करना परिकर कहलाता है।[3] शिव पुराण में परिकर अलंकार का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है—

"उत्पाट्यैकां जटां रुद्रो लोकसंहारकारकः।

आस्फालयामास रुषा पर्वतस्य तदोपरि॥" [4]

यहाँ लोकसंहारकारक विशेषण के साभिप्राय होने के कारण परिकर अलंकार है।

अन्यत्रपि—

---

1. शि० पु०, वि० सं०—7 : 20
2. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—1 : 8
3. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।—काव्य प्रकाश
4. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—32 : 20

"इयं कुमारी सुश्रोणी तन्वी चन्द्रानना शुभा।

नानेतव्या मत्समीपे वारयामि पुनः पुनः॥"[1]

इसमें सुश्रोणी, तन्वी, चन्द्रनना, विशेषण पद साभिप्राय होने के कारण परिकर अलंकार है।

दृष्टान्त अलंकार—

दो वाक्यों में, धर्म सहित 'वस्तु' अर्थात् उपमान एवं उपमेय के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्त कहते हैं।[2]

इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

"तथा च मलिने वस्त्रे रंगः शुभतरो न हि।

क्षालने हि कृते शुद्धेसर्वो रंगः प्रसज्जते॥

तथा च निर्मले देहे देवानां सम्यगर्चया।

ज्ञानरंगः प्रजायेत तदा विज्ञानसम्भवः॥"[3]

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

'प्रभौ दोषो न दुःखाय दुःखदोऽयप्रभौ हि सः।

रविपावकगंगानां तत्र ज्ञेया निदर्शना॥'[4]

इस प्रकार शिव पुराण अलंकारों की दृष्टि से भी अस्पृश्य नहीं है।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—12 : 20
2. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।—सा० द०
3. शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—12 :71-72
4. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—8 : 20

छन्दोयोजना

भारतीय छन्दशास्त्र का इतिहास बहुत प्राचीन है। वेद, जो संसार के सर्व-प्राचीन ग्रन्थ माने जाते हैं, भी छन्दोबद्ध हैं। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य ही छन्दोज्ञान में विश्व का अग्रणी है। छन्द की गणना वेद के छ: अंगों में की जाती है। छन्द को वेद का पाद कहा गया है।[1] यह कथन उपयुक्त ही प्रतीत होता है, क्योंकि रचना में सुन्दर गति या प्रवाह छन्द के ही द्वारा आता है। काव्य मानव-हृदय को प्रभावित करने का कार्य करता है तथा छन्द अपनी लय एवं गीतिमयता के द्वारा काव्य के इस कार्य में सहयोग प्रदान करता है।

वैदिक तथा लौकिक छन्द—संस्कृत में वैदिक तथा लौकिक छन्द होते हैं। वैदिक छन्द वे हैं जिनका प्रयोग प्राय: वेद में ही होता है। जैसे द्विपदा, त्रिपदादि, गायत्री, द्विपदा त्रिष्टुप, तथा पंचपदा जगती आदि छन्द। वेदेतर साहित्य में प्रयुक्त होने वाले छन्द लौकिक कहलाते हैं। ये लौकिक छन्द दो प्रकार के होते हैं। प्रथम मात्रावृत्त एवं द्वितीय वर्णवृत्त।[2] मात्रावृत्तों का निर्माण मात्राओं की गणना एवं वर्णवृत्तों का निर्माण वर्णों की गणना पर आधारित होता है। ये समस्त छन्द सम,अर्धसम तथा विषम इन तीन वर्गों में विभाजित किये गये हैं।[3] चारों तुल्य पादों वाले छन्द को सम तथा जिसके चारों पाद भिन्न लक्षण वाले हो उसे विषम कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस छन्द में प्रथम के समान तृतीय एवं द्वितीय के समान चतुर्थपाद हो उसे अर्धसम कहा जाता है।[4] आज तो लौकिक छन्दों का पर्याप्त विकास

---

1. छन्द : पादौ तु वेदस्य। पाणिनीय शिक्षा 41 सिद्धान्त कौमुदी
2. पिगलादिमिराचौर्य: यदुक्तं लौकिकं द्विधा।
   मात्रावर्णविभेदेन छन्दस्तदिह कथ्यते॥—वृत्त्रत्लाकर—1 : 4
3. सममर्धसमं वृत्तं विषमं चेति तत्त्रिधा।—छन्दोमंजरी—1 : 5
4. वृत्तरत्नाकर—1 : 14-16

हो चुका है। इनकी संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि इन्हें विष्णु के समान अनन्त कहा गया है।[1]

शिव पुराण में प्रयुक्त छन्द

पुराणकार व्यास जी ने शिव पुराण में प्रायः लघु एवं सरल छन्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। सबसे अधिक मात्रा में अनुष्टुप छन्द है। शिव पुराण की सातों संहिताओं में अनुष्टुप् छन्दों की संख्या 22891 है। यह छन्द सरलता से ग्राह्य होने के कारण कथा की प्रगति-हेतु सर्वथा उपयुक्त है। उसके बाद 295 पद्य उपजाति में, 49 वंशस्थ में, 35 वसन्ततिलका में, 29 शिखरिणी में, 11 शार्दूलविक्रीडित में, 7 उपेन्द्रवज्रा में, 6-6 इन्द्रवज्रा और द्रुतविलम्बित में, 5 मालिनी में, 3-3 स्रग्धरा और पुष्पिताग्रा में, 1-1 मछाक्रान्ता तथा हरिणी में प्रयुक्त हुए हैं। अन्य प्रकार के छन्दों की संख्या 658 है। इनमें कुछ ऐसे भी छन्द हैं जो वर्णों की अधिकता होने के कारण, लक्षणों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते तथा कुछ नौ अक्षरों वाले अनुष्टुप छन्द भी प्राप्त होते हैं तो कतिपय चतुष्पदी छन्द के दो ही पद प्राप्त होते हैं तो किन्हीं के छः पाद । इस प्रकार अनुष्टुप् छन्दों का बाहुल्य होने पर भी अन्यछन्दों को स्थान प्राप्त हुआ है।

छन्दों के प्रयोग पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कवि को अनुष्टुप् और उपजाति छन्द अधिक प्रिय हैं। गूढ़ विषयों को अनुष्टुप जैसे छोटे छन्दों में प्रस्तुत करके बिन्दु में सिन्धु की कहावत को चरितार्थ किया है। देवताओं की स्तुतियों आदि के समय शार्दूलविक्रीडित तथा उपजाति छन्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

1. समस्तंवाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना।—वृत्तरत्नाकर—1 : 6

भाषा-शैली

मानव विचारशील प्राणी है। वह दूसरों के साथ अपने विचारों का आदान-प्रदान करना चाहता है। कवि एवं साहित्यकार भी मानव हैं, जिनका सहज व्यापार भावों की प्रेषणीयता है। साहित्यकार युग का प्रतिनिधि होता है, परिणाम-स्वरूप उसकी कृति में उसका युग ही साकार हो उठता है। युग की चेतनाओं को लिए हुए वह अपने मन में उत्पन्न अनुभूतियों को साहित्य में रूपायित कर देता है। उन अनुभूतियों का लेखनी या वाणी के माध्यम से शब्दों द्वारा अर्थों की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होना ही भाषा कहलाता है। भाषा ही किसी काव्य-रचना को काव्यत्व प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

वस्तुतः भाषा काव्य का व्यक्त कलेवर होती है, जिसमें हृदयगत भाव अभिव्यक्त होते हैं। काव्य के लिए प्रयुक्त भाषा में कुछ विभिन्न गुण होते हैं। उसकी उपयोगिता शब्दों के सौन्दर्य पर ही आश्रित रहती है। शब्द-सौन्दर्य के सामंजस्य को ही भाषा और भाव का सम्बन्ध कहते हैं। वस्तुतः भाषा में ही वह शक्ति है, जो भावों का भार वहन करती है। भावों की उचित अभिव्यंजना में ही भाषा की सफलता है। शब्द-शक्ति, व्याकरण, अलंकार, छन्द आदि को भाषा के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। व्यंजनाशक्ति या ध्वन्यात्मकता जिस प्रकार भाषा को सौन्दर्य प्रदान करने में सहायक है, उसी प्रकार उसमें चित्रमयता और मूर्तिमयता का भी समावेश आवश्यक रहता है। सफल कवि अपने शब्दों से सुन्दर से सुन्दर चित्र बनाकर किसी भाव या वस्तु को निराकार से साकार कर देता है।

भाषा कविता-कामिनी का शरीर है, तो भाव उसकी आत्मा। इनका सम्बन्ध पुष्प एवं सुगन्ध तथा मणि एवं उसके प्रकाश की भाँति होता है। जिस प्रकार सुन्दरी के सभी अंगों का मिश्रित सौन्दर्य रसिकों को आकर्षित करता है, उसी प्रकार सुन्दर भाव-पूर्ण शब्दयोजना भी सहृदयों को आकर्षित करती ही है।

भाषा को सहज और सुमधुर बनाने के लिए ऐसे शब्दों का चयन होना चाहिए जिनके उच्चारण मात्र से अर्थ स्पष्ट हो जाय। इसके लिए नाटककार या कवि को रस, अलंकार, ध्वनि, वृत्ति आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। गहरे भावों को सरल एवं सुबोध शब्दों में व्यक्त करना ही अच्छी भाषा का प्रमाण है। अधिकाधिक समासों एवं अलंकारों के जाल में उलझना दोषपूर्ण है। कठिन एवं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग पाण्डित्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इससे काव्य दुरूह हो जाता है और लोकप्रिय नहीं हो पाता।

भाषा पर विचार करने के पश्चात् अब शैली के विषय में विचार करना आवश्यक है। काव्य का शैलीगत तत्त्व मनोगत भावों को मूर्तरूप प्रदान करने का सहज साधन है। शैली काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करने के साथ-साथ उसके भावगत रूप को भी विकसित करती है। सब कुछ होते हुए सुन्दर शैली के अभाव में भावों एवं भाषा का सौन्दर्य भी लुप्त हो जाता है। शैली लेखक के व्यक्तित्व की ही छाप है। शैली में बुद्धितत्त्व, भावतत्त्व एवं सौन्दर्य तत्त्व इन तीनों का समावेश रहता है और इन तीनों का सम्बन्ध लेखक की प्रतिभा एवं व्यक्तित्व से रहता है।

पाश्चात्त्य विचारक अरस्तू ने शैली में दो गुण माने हैं—

1. प्रदान अथवा स्पष्टता एवं

2. औचित्य।[1]

इनमें औचित्य को कुन्तक ने भी माना है। भारतीय साहित्य में भी शैली में ये दोनों गुण रहते ही हैं। गुणों के अतिरिक्त अरस्तू ने शैली में चार प्रकार के दोष माने हैं—

1. समासों का आधिक्य।

2. अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।

---

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ 147-148

3. दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग और

4. दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।[1]

संस्कृत-साहित्य में शैली से समानता रखते हुए कई शब्द प्राप्त हैं, यथा—रीति, वृत्ति, मार्ग आदि, किन्तु इनके स्वरूप का अलग-अलग विवेचन करने पर इनमें कुछ अन्तर अवश्य आ जाता है। रीति की परिभाषा वामन ने इस प्रकार दी है—

''विशिष्टा पदरचना रीतिः।''[2]

अर्थात् विशेष प्रकार की पद-रचना को रीति कहते हैं। रीति का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। इसमें हम रस, गुण, अलंकार, औचित्य, वक्रोक्ति आदि को सम्मिलित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में रीति में उन सभी तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता हे, जो शैली के वस्तु पक्ष के अन्तर्गत हैं। किन्तु शैली के व्यक्ति-पक्ष के रीति में अन्तर्भाव के विषय में विद्वानों में मतभेद है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने तो रीति और शैली को स्पष्ट ही पृथक् कर दिया है। उनका कथन है कि रीति और शैली में विशिष्ट अन्तर यही है कि रीति काव्य-रचना का ढंग है और शैली भाषात्मक अभिव्यक्ति की प्रणाली। शैली वास्तव में उस साधन का नाम है जो वाणी की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा समर्थ शक्ति का संचार करे। रीति को काव्य की आत्मा[3] मानने वाले आचार्य वामन ने पदों की विशिष्ट रचना को रीति माना है। अतः शैली और रीति भिन्न-भिन्न हैं। 'डॉ० डे' ने भी शैली और रीति को पर्याय नहीं माना है, किन्तु डॉ० नगेन्द्र ने उनके मत का प्रबल खण्डन किया है।[4] डॉ० शान्ति जैन का मत है कि रीति को शैली कापर्याय मानने में कोई बाधा नहीं है और आधुनिक काल में दोनों को पर्यायवाची माना भी

---

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ 149
2. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—1 : 2: 7
3. रीतिरात्मा काव्यस्य—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—1 : 2 : 26
4. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृ० 56

जाने लगा है।[1]

भारतीय आचार्यों ने शैली के मुख्यतः तीन भेद माने हैं—1. ओज, 2. प्रसाद और 3. माधुर्य। वैसे विस्तार रूप में शैली के दश भेद किये गये हैं—

1. ओज, 2. प्रसाद, 3. श्लेष, 4. समता, 5. समाधि, 6. माधुर्य. 7. सौकुमार्य, 8. उदारता, 9. अर्थव्यक्ति, और 10. कान्ति।[2]

शैली या रीति के प्रायः तीन भेद ही विद्वानों को अभीष्ट हैं। वैसे दण्डी ने पांचाली को न मानकर रीति के दो ही भेद माने हैं।[3] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने वैदर्भी, गौडी और पांचाली के अतिरिक्त लाटिका को भी माना है।[4] सरस्वती कण्ठाभरण के रचयिता भोजदेव ने तो इसके छः भेद मान लिये हैं।[5]

भाषा और शैली के आधार पर अब शिव पुराण का अध्ययन किया जायेगा।

शिव पुराण शान्त-रस-प्रधान काव्य है। इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति के लिए तथा समाज के पथभ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए अनेकानेक उपाय बताये गये हैं। इसके साथ ही दुष्टों के आविर्भाव एवं दमन आदि के प्रसंगों में करुण, भयानक, वीर आदि रसों की प्रचुर मात्रा में निष्पत्ति है। इस पुराण में आवश्यकतानुसार रसानुरूप भाषा का ही प्रयोग किया गया है। चूँकि पुराण का सम्बन्ध केवल विद्वज्जनों से न होकर इसे सामान्य व्यक्तियों तक भी पहुँचा कर उनके दुष्कर्मों का निवारण कर सत्पथ पर लाना, इससे उनका कल्याण सम्पादित करना तथा सदाचारादि की प्रतिष्ठा करना, पूजा उपासनादि विधियों का ज्ञान देना इसका प्रतिपाद्य है, इसलिए उसकी भाषा अति सरल एवं

---

1. **वेणीसंहार की शास्त्रीय समीक्षा**, डॉ० शान्ति जैन, पृ० 205
2. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—3 : 1 : 4
3. काव्यादर्श—1 : 40
4. वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका तथा।—सा० द०—9 : 2 : 1
5. सरस्वतीकण्ठाभरण—2 : 28

दीर्घ-समास-रहित, प्रसाद-गुण-सम्पन्न है। भाषा प्रचलित अर्थों वाली तथा सामासों और अधिकाधिक अलंकारों के जाल से वंचित और भावानुगामिनी है। इससे काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि होती है और सर्वग्राह्यता का गुण स्वयं प्रकट हो जाता है। पुराणकार अपनी बात को सरल एवं स्पष्ट भाषा में कहते हैं—

"वक्ष्यामि परमं पुण्यं पुराणं वेदसंमितम्।
शिवज्ञानार्णवं साक्षाद्भक्तिमुक्तिफलप्रदम्॥" [1]

ध्यान-यज्ञ के बारे में कितनी सरल एवं प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग हुआ है।[2] किसी नीति-सम्बन्धी तथ्य को भी बड़ी सुन्दर सहज भाषा में प्रस्तुत करना पुराणकार की अपनी अलग विशेषता है। निम्नलिखित श्लोक में माता, भगिनी तथा भ्रातृ-पत्नी और कन्या में समभाव रखकर कुदृष्टि न रखने की बात को कितनी सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है—

"यथा माता च भगिनी भ्रातृपत्नी तथा सुता
एताः कुदृष्ट्या द्रष्टव्या न कदापि विपश्चिता॥" [3]

पुराणकार ने शिव के व्यक्तित्व को जिस भाषा और शैली में विचित्र किया है, वह सरल, सरस, रोचक एवं पूर्णरूपेण प्रवाहमय है। पौराणिक साहित्य में उत्तुंग-तरंग-तरंगिता, तरंगिणी-तुल्य वह प्रवाह, प्रसाद, तरल प्रवेग है जिसने अपने प्रबल प्रवाह में बहा कर शिव के प्रति अहृदय को सहृदय, नीरस को सरस, अबोध को सुबोध, पापात्मा को पुण्यात्मा और नर को नारायण बना दिया है।

पुराणकार वैदर्भी शैली के प्रकाण्ड शिल्पी हैं। परिस्थिति एवं भावानुसार भाषा एवं

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू०, खं०—1 : 22
2. ध्यानयज्ञात्परं नास्ति ध्यानं ज्ञानस्य साधनम्।
   यतस्समरसं स्वेष्टं यागी ध्यानेन पश्यन्ति॥—शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—12 : 46
3. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—3 : 40

शैली में इनकी विशेषता है। अभीष्ट देवता की उपासना के समय इतने सरल शब्दों का प्रयोग किया गया है कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी उन्हें कण्ठस्थ करके अपने करुणा सागर दीन-बन्धु आशुतोष भगवान शंकर से कह सके—

''देव देव महादेव करुणासागर प्रभो।

यदि प्रसन्नस्सर्वेश: ममानन्दकरो भव॥''[1]

श्रृंगार रस के सुकुमार एवं ललित भावों को आकर्षक एवं आलंकारिक शैली में प्रस्तुत किया है। रति के स्वरूप का नख-शिख वर्णन करते हुए कितनी मनोहारी एवं चित्ताकर्षक शैली का प्रयोग हुआ है—

''पूर्णेन्दुसदृशं वक्त्रं दृष्ट्वा लक्ष्मसुलक्षितम्।

न निश्चिकाय मदनो भेदं तन्मुखचन्द्रयो:॥

सुवर्णपद्मकलिकातुल्यं तस्या: कुचद्वयम्।

रेजे चूचुकयुग्मेन भ्रमरेणेव वेष्टितम्॥''[2]

पुराण में वीर रस की समायोजना होने के कारण ओज-गुण-सम्पन्न दीर्घ समासयुक्त भाषा का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग उनके कला-कौशल का ही परिणाम है। वीर रस के वर्णन में ओज-पूर्ण शैली का प्रयोग उत्तम माना जाता है। ओज गुण युक्त प्रस्तुत श्लोक प्रकाम रमणीय है—

''ममाशक्यं न कुत्रापि त्वत्प्रसादान्महेश्वर।

पराक्रमेण मत्तुल्यो न भतो न भविष्यति॥''[3]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—51 : 20
2. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—4 : 13, 14
3. वही—32 : 32

शिव पुराण में गौडी रीति का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार की रीति में ओज और कान्ति गुण का विशेष प्रयोग होता है। वीर रस के काव्य या नाटक में अथवा वीर रस के प्रसंगों में यही रीति अभीष्ट भी है। भगवान् शिव के दूत के प्रति शंखचूड का उत्तर कितना उत्साहबर्द्धक है—

"राज्यं दास्ये न देवेभ्यो वीरभोग्या वसुंधरा।

रणं दास्यामि ते रुद्र देवानां पक्षपातिने॥" [1]

शिव पुराण में रौद्र रस के वर्णन में भी ओज-गुण-विशिष्ट शैली का ही प्रयोग किया गया है—

"क्व गता ऋषयो दिव्याः श्मश्रूणित्रोटयाम्यहम्।

तपस्विनी च या पत्नी सा धूर्ता स्वयमागता॥ [2] *"*

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव पुराण की भाषा सरल, सरस और भावानुगामिनी है। पुराणकार व्यास जी ने जहाँ जिस प्रकार के भाव हैं, उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। इन्होंने स्थल-स्थल पर सूक्तियों एवं "न भूतो न भविष्यति" "वीरभोग्या वसुन्धरा" आदि मुहावरों का भी प्रयोग किया है, जिससे भाषा का चारुत्व बढ़ जाता है और वह प्रवाहमयी हो जाती है। शैली में प्रसाद, ओज, कान्ति, समता, समाधि, माधुर्य, उदारता और सौकुमार्य आदि गुणों का यथास्थान प्रयोग किया गया है। वैदर्भी और गौडी रीति का प्रयोग प्रसंगानुसार किया गया है। इस प्रकार यह पुराण भाषा एवं शैली की दृष्टि से सरल एवं सुबोध है। माधुर्य का मधुर निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सरस-शय्या, अर्थ का सौष्ठव-कमनीय काव्य के समस्त लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में इस पुराण में प्राप्त होते हैं।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—32 : 18
2. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—44 : 7

पुराण की भाषा-शैली के विषय में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—''पुराण की भाषा व्यावहारिक तथा सरल और शैली रोचक तथा आख्यानमयी है। इसलिए जनता के हृदय तक धर्म के तत्त्व को सुबोध भाषा के द्वारा पहुँचा देने में पुराण का प्रतिस्पर्धी कोई साहित्य नहीं है।[1]'' स्मृतियाँ भी वेद-प्रतिपादित धर्म का वर्णन करती हैं, परन्तु वे उपदेशमयी होने के कारण आकर्षण विहीन हैं, लेकिन पुराण अपने उपदेशों को कथा, कहानी, आख्यान, उपाख्यान के रूप में प्रस्तुत करता है और इसलिए उसका आकर्षण सर्वातिशायी है।

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० 45

सप्तम अध्याय

शिव पुराण में लोक-चित्रण

1. सदाचार-सम्बन्धी ज्ञान
2. नारी-स्थिति एवं शिक्षा
3. लोकाचार
4. आभिचारिक क्रियायें
5. विवाह
6. दान का माहात्म्य
7. ललित कलायें
8. संस्कृति
9. समन्वय की भावना

शिव-पुराण में लोक-चित्रण

लोक के अन्तर्गत समस्त संसार एवं उसके अन्तर्गत रहने वाले समस्त प्राणी आ जाते हैं। इस प्रकर लोक शब्द बहुत व्यापक-सा है। कोई एक कवि संसार की समस्त वस्तुओं एवं प्राणियों का पूर्ण चित्रण करे, यह तो कम सम्भव है; परन्तु अपने तथा काव्य-विषय के सम्बन्ध में आने वाली एवं आस-पास की वस्तुओं तथा लोगों का अनुभव रखना तो उसके लिये आवश्यक ही हो जाता है। अतएव कुशल कवि लोकानुभव से युक्त हुआ करते हैं तथा उनकी रचना में लोक का सुन्दर चित्र देखने को मिलता है।

शिव-पुराण के रचयिता का लोकानुभव प्रसिद्ध ही है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभारत में संसार की समस्त वस्तुओं का वर्णन कर डाला है। अत: ऐसे लोकानुभवी कवि के काव्य शिव-पुराण में लोक के नाना अंगों का चित्रण मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फलत: शिव-पुराण में लोक के विविध रूपों की छटा देखने को मिलती है।

सदाचार-सम्बन्धी ज्ञान

साहित्य का मूल उद्देश्य होता है—समाज का हित साधना। समाज के सुचारू रूप से चलने हेतु सदाचार की महती आवश्यकता है; क्योंकि जिस समाज में सदाचारवान् व्यक्ति रहते हैं वह सुखी और समृद्ध होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर शिव-पुराण द्वारा भारतीय समाज को दिये गये योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। शिव पुराण की विद्येश्वर-संहिता में पूरा एक अध्याय ही सदाचार-सम्बन्धी ज्ञान से परिपूर्ण है।

पुराणकार का कथन है कि सदाचार का पालन करने वाला विद्वान् ब्राह्मण ही वास्तव में 'ब्राह्मण' नाम धारण करने का अधिकारी है। जो केवल वेदोक्त आचरण का पालन करने वाला एवं वेद का अभ्यासी है, उस ब्राह्मण की 'विप्र' संज्ञा होती है। सदाचार, वेदाचार एवं

विद्या—इनमें से एक-एक गुण से ही युक्त होने पर उसे 'द्विज' कहते हैं। जिसमें स्वल्प मात्रा में ही आचार का पालन देखा जाता है, जिसने वेदाध्ययन भी बहुत कम किया है तथा जो राजा का सेवक है उसे 'क्षत्रिय-ब्राह्मण' कहते हैं। जो ब्राह्मण कृषि तथा वाणिज्य कर्म करने वाला है और कुछ-कुछ ब्राह्मणोचित आचार का भी पालन करता है, वह 'वैश्य-ब्राह्मण' है तथा जो स्वयं ही खेत जोतता है, उसे 'शूद्र-ब्राह्मण' कहा गया है। जो दूसरों के द्वेष देखने वाला और परद्रोही है, उसे 'चाण्डाल-द्विज' कहते हैं। इसी तरह क्षत्रियों में भी जो पृथ्वी का पालन करता है, वह 'राजा' है। दूसरे लोग राजत्वहीन क्षत्रीय माने गये हैं। वैश्यों में भी जो धान्य आदि वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता है, वह 'वैश्य' कहलाता है। दूसरों को 'वणिक्' कहते हैं। जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों की सेवा में लगा रहता है, वह 'शूद्र' कहलाता है।[1] सभी वर्णों के मनुष्यों को ब्राह्ममुहुर्त में उठकर पूर्वाभिमुख होकर सबसे पहले देवताओं का, फिर धर्म का, अर्थ का, उसकी प्राप्ति के लिये उठाये जाने वाले क्लेशों का तथा आय और व्यय का चिन्तन करना चाहिए।[2]

लोक में अपने-अपने वर्ण के अनुरूप सदाचार का पालन करने से मनुष्य शिवपद को प्राप्त कर लेता है। वर्णानुकूल आचरण से तथा भक्तिभाव से मनुष्य अपने सत्कर्म का अतिशय फल पाता है। निष्काम भाव से किया हुआ सारा कर्म साक्षात् शिवपद की प्राप्ति कराने वाला होता है।[3]

शिव पुराण के अनुसार सकाम भावना से युक्त गृहस्थ ब्राह्मण को धर्म तथा अर्थ के लिए यत्न करना चाहिए। मुमुक्ष ब्राह्मण को सदा ज्ञान का ही अभ्यास करना चाहिए।[4] धर्म से

---

1. शि० पु०, वि० सं०—13 : 1-6
2. वही—13 : 7-8
3. वही—11 : 61-62
4. धर्मार्थयोस्ततो यत्नं कुर्यात्कामी न चेतरः।
   ब्राह्मणो मुक्तिकामः स्याद्ब्रह्मज्ञानं सदाभ्यसेत्॥ वही—13 : 50

अर्थ की प्राप्ति होती है, अर्थ से भोग सुलभ होता है। फिर उस भोग से वैराग्य की सम्भावना होती है। धर्मपूर्वक उपार्जित धन से जो भोग प्राप्त होता है, उससे एक दिन अवश्य वैराग्य का उदय होता है।[1] धर्म के विपरीत अधर्म से उपार्जित हुए धन के द्वारा जो भोग प्राप्त होता है, उससे भोगों के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है।[2] मनुष्य धर्म से धन पाता है, तपस्या से उसे दिव्य रूप की प्राप्ति होती है।[3] कामनाओं का त्याग करने वाले पुरुष के अन्तःकरण की शुद्धि होती है। उस शुद्धि से ज्ञान का उदय होता है।[4]

मनुष्य को अपने पुण्य-पाप के अनुसार ही फल मिलता है, द्रव्य और देह के भेद से पुण्य-पाप की न्यूनता, वृद्धि और क्षयादिता होती है।[5] विधि बिना जो कुत्सित हिंसा की जाती है वही अधर्म है और विधियुक्त कार्य सुख रूप धर्म है। अधर्म से दुःख और धर्म से सुख मिलता है। दुर्वृत्ति से दुःख सुवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, इस कारण भोग और मोक्ष की सिद्धि के निमित्त धर्म से ही अर्चन करना चाहिए।[6]

इसके अतिरिक्त नित्यनैमित्तिक, काम्य-निषिद्ध कर्मों, षोडश संस्कार, आसन, प्राणायाम आदि अनेक नियम-संयम की बातों का वर्णन करके समाज को सही दिशा देने का प्रशंसनीय कार्य शिव पुराण में किया गया है। इस सदाचार की प्रतिष्ठा के निमित्त शिवपुराणकार ने छोटी-छोटी कथाओं का भी उपयोग किया है—जैसे व्याघ्र और हरिणी की कथा द्वारा व्याघ्र

---

1. धर्मादर्थोऽर्थतो भोगो भोगाद्वैराग्यसंभवः।
   धर्मार्जितार्थ भोगेन वैराग्यमुपजायते॥ — शि० पु०, वि० सं०—13 : 51
2. विपरीतार्थ भोगेन राग एवं प्रजायते। — वही—13 : 52
3. धनेन धनमाप्नोति तपसा दिव्यरूपता। — वही—13 : 53
4. निष्कामः शुद्धिमाप्नोति शुद्धया ज्ञानं संशयः। — वही—13 : 54
5. यादृशं पुण्यं पापं वा तादृशं फलमेव हि।
   द्रव्यदेहांगभेदेन न्यूनवृद्धिक्षयादिकम्॥ — वही—13 : 56
6. विद्यादुर्वृत्तितो दुखं सुखं विद्यात्सुवृत्तितः।
   धर्मर्जनमतः कुर्याद्भोगमोक्षप्रसिद्धये॥ — वही—13 : 58

को सद्वृत्त बनाना। व्याघ्र जैसे हिंसक जीवन पर देवी पार्वती ने दया करके उसे सदाचारी एवं अहिंसक बनाया।[1]

व्यावहारिक ज्ञान--

आचार्य मम्मट ने काव्य के जो छः प्रयोजन बतलाये हैं, उनमें एक प्रयोजन है—"व्यवहारविदे।" शुद्ध वैदिक ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति भी कभी-कभी व्यावहारिक ज्ञान से शून्य देखा जाता है। वह तरह-तरह की असफलताओं का शिकार होता है। कहा भी गया है—

"अधीतशास्त्राणि भवन्ति मूर्खाः।"

लौकिक जगत् की विचक्षणता हेतु पौराणिक ज्ञान अति उपयोगी है। इस दिशा में पुराणकार ने शिव-पुराण में ऐसे अनेक चरित्र प्रस्तुत किये हैं, जहाँ व्यक्ति अपनी चातुरी से सफल-मनोरथ हो जाता है। गणेश और कार्तिकेय दोनों से पृथ्वी-परिक्रमा के लिए कहा गया। कुमार स्कन्द परिक्रमा पर चले गये, परन्तु गणेश जी अपने बुद्धि-बल से अभीष्ट की सिद्धि की और देवों में प्रथम पूज्य हो गये उन्होंने कहा है कि "जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है, निर्बुद्धि को बल कहाँ है। एक बुद्धिमान् खरगोश ने अपनी बुद्धि के बल से मदोन्मत सिंह को कुयें में डालकर नष्ट कर दिया।"[2]

सत्संगति—

सत्संगति ऐसा गुण है जो दुराचारी को सदाचारी बना देता है। सत्संगति के प्रभाव से ही साहसिक कर्म करने वाले लुटेरे बाल्मीकि आदि कवि महर्षि बाल्मीकि बन गये। इसकी **महिमा प्रायः सभी शास्त्रों में वर्णित है।**

---

1. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—25 : 8
2. बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
   कूपे सिंहो मदोन्मत्तश्शशकेन निपातितः॥ शि० पु०, रु० सं०, कु० खं०—19 : 52

शिव पुराण ने भी भारतीय समाज को सत्संगति की शिक्षा दी है। देवी पार्वती को तप करते हुये देखकर हिंसक जीव व्याघ्र भी उनकी संगति में पहुँचकर शद्धात्मा हो उनका कृपा पात्र बन गया। शिव की संगति का प्रभाव है कि अनेक विषधर उनके शरीर पर रहते हुए भी किसी को क्षति नहीं पहुँचाते। सत्संगति के प्रभाव से ही शिव परिवार में मयूर, व्याघ्र, मूषकादि सहज वैर को त्यागकर स्कत्र निवास करते हैं।

नारी-स्थिति एवं शिक्षा

शिव पुराण का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में नारियों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। तत्कालीन समाज में सुर एवं असुर दोनों पक्षों में पतिव्रता नारियों का वर्णन है। पंचचूडा अप्सरा तथा अन्य कुछेक व्यभिचारिणी स्त्रियों का वर्णन भी प्राप्त होता है। सती-शिरोमणि दक्ष-सुता, गिरिराज-किशोरी पार्वती, उमा, दुर्गा, मेना आदि देवों की पतिव्रता स्त्रियों के वर्णन के साथ-साथ, दानवेन्द्र जलन्धर की पत्नी वृन्दा और दैत्यराज शंखचूड की पत्नी तुलसी के अद्भुत पतिव्रत-धर्म का वर्णन भी किया गया है।

रुद्रसंहिता के पार्वती-खण्ड में पातिव्रत्य-धर्म में तत्पर रहने वाली स्त्रियों के लिए कठोर नियमों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्त्रियाँ अपने पति के भोजन कर लेने पर भोजन करे, पति के सो जाने पर सोये और जागने से पहले ही जग जाय, पति के परदेश जाने पर शृङ्गार न करे, पति का कभी नाम न ले, पति की आज्ञा लिये बिना कहीं तीर्थ यात्रा के लिए न जाय तथा लोगों की भीड़ से भरी हुई सभा या मेले आदि के उत्सवों को न देखे। पतिव्रता नारी पति के उच्छिष्ट अन्न आदि को परम प्रिय भोजन मानकर ग्रहण करे और पति जो कुछ दे, उसे महाप्रसाद मानकर शिरोधार्य करे।[1]

पतिव्रता नारियों के उत्तमा, मध्यमा, निकृष्टा और अतिनिकृष्टा नामक चार भेद किये गये हैं।[2] इसमें जो स्त्री स्वप्न में भी अपने पति को देखती, दूसरे किसी परपुरुष को नहीं वह उत्तमा या उत्तम श्रेणी की पतिव्रता कही गयी है। जो दूसरे पुरुष को उत्तम बुद्धि से पिता, भाई एवं पुत्र के समान देखती है, उसे मध्यमा या मध्यम श्रेणी की पतिव्रता माना गया है। जो मन से अपने धर्म का विचार करके व्यभिचार नहीं करती, सदाचार में ही स्थित रहती है, उसे

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—54 : 16-26
2. वही—54 : 72

निकृष्टा तथा जो पति के भय से तथा कुल में कलंक लगने के डर से व्यभिचार से बचने का प्रयत्न करती है, उसे अतिनिकृष्टा कोटि की पतिव्रता बताया गया है।[1]

शिव पुराण में स्त्री को महाविषय-वासना की जड़ एवं ज्ञान-वैराग्य का विनाश करने वाली कहा गया है। भगवान् शिव का कथन है कि स्त्रियाँ मायारूपिणी तथा तपस्वीजनों के तप में विघ्न डालने वाली होती हैं क्योंकि स्त्री के सङ्ग रहने से मन में शीघ्र ही विषयवासना उत्पन्न हो जाती है; उससे वैराग्य नष्ट होता है और वैराग्य न होने से पुरुष तपस्या से भ्रष्ट हो जाता है।[2]

पार्वती की विदाई के समय द्विज-पत्नियों द्वारा पार्वती को दिया गया उपदेश,[3] पार्वती के लिये तो उपयोगी था ही, वह आज के समाज में नारियों के लिये भी उतना ही शाश्वत है, जितना आज से हजारें वर्ष पूर्व पार्वती के लिये था।

नारियों की शक्षा के विषय में जहाँ वेदों में—"स्त्री शूद्रोनाधीयताम्" का उद्घोष किया गया था, वहाँ पुराण इसमें शिथिल जान पड़ते हैं। कन्याओं की शिक्षा के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है। पार्वती के शिव के पास सेवा के लिये जाने एवं सांख्य-शास्त्र के गूढ़ तत्त्वों पर किये गये कथोपकथन से इस बात का सङ्केत प्राप्त होता है कि पार्वती ज्ञान के समुद्र शिव के पास, उनकी सेवा करके, ज्ञान-प्राप्त हेतु गयी थीं।

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—54 : 74-77
2. वही—12 : 31-32
3. वही—54 : 7

लोकाचार

प्रत्येक युग एवं देश के अपने-अपने आचार हुआ करते हैं। ये ही लोकाचार कहे जाते हैं। धर्मग्रन्थों में इनका विधान न होकर साधारण जनसमूह, विशेषकर स्त्री-समूह, में इनका आचरण और विधान देखा जाता है। सामान्य जनता तथा स्त्रियां ही इस विषय में आचार्य मानी जाती हैं। किन्तु धर्मग्रन्थ भी लोकाचार एवं कुलाचार को प्रतिपादित करने की सम्मति देते है। शिव पुराण में ऐसे लोकाचारों का वर्णन यत्र-तत्र देखा जाता है।

जिस समय भगवान् शंकर एवं पार्वती का विवाह हो रहा था, उस समय तथा उसके पूर्व भी वहाँ की स्त्रियों ने अनेक लोकाचारों को सम्पन्न किया था।[1] इन्हीं लोकाचारों में कुहवरालय में शिवा, शिव का जाना तथा स्त्रियों के द्वारा वहाँ लौकिक आचार का सम्पन्न किया जाना भी निर्दिष्ट है।[2] यद्यपि इन लोकाचारों का विशेष रूप नहीं बतलाया गया है तथापि सम्पूर्ण प्रसंग को एक साथ मिलाकर देखने पर यह पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी इनका स्वरूप आजकल प्रचलित लोकाचारों के ही समान था। उक्त विवाह के प्रसंग में कतिपय स्थलों पर लोकाचारों का निर्देश किया गया है।

उक्त मांगलिक अवसरों के अतिरिक्त अन्य समय पर भी ये लोकाचार विभिन्न रूप में सम्पन्न किये जाते थे। अति प्राचीनकाल में सन्तति-रहित स्त्रियाँ पुत्र की कामना से निराहार

---

1. ता मंगलं मुदा चक्रुर्भूषिता भूषणैः स्वयम्।
   पुरद्विजस्त्रियों हृष्टा लोकाचारं प्रचक्रिरे॥ — शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—37 : 18
2. तदानीं शैलनगरे स्त्रियश्च मुदिता वरम्।
   शिवाशिवौ समानीय ययुः कुहवरालयम्।।
   लौकिकाचारमाजह्रस्ताः स्त्रियस्तत्र चादृताः।
   महोत्साहो बभूवार्थं सर्वतः प्रमुदावहः॥ — वही—50 : 13-14

रहकर मुशलों पर शयन किया करती थीं।[1] उनका यह व्रत दीर्घकाल तक चलता रहता था। महाकवि बाण की कादम्बरी में भी पुत्र प्राप्ति के लिये जो लोकाचार वर्णित हैं, उनमें मुशल-शयन भी है। इन लोकाचारों का सम्पादन छोटे से छोटे धार्मिक कृत्य से प्रारम्भ कर बड़े से बड़े धार्मिक कृत्यों में आज भी देखा जाता है।

1. अत्रेर्भार्या चानसूया त्रीणि वर्षशतानि च।
   मुशलेषु निराहारा सुप्त्वा शर्वात्ततः सुतान्॥ शि० पु०, उ० सं०—2 : 18

आभिचारिक क्रियायें

पुराणों एवं अन्य धर्मग्रन्थों में आभिचारिक (मारण, मोहन एवं उच्चाटन सम्बन्धी) क्रियाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। वेदों में भी इन क्रियाओं की चर्चा उपलब्ध होती है। किन्तु जैसे-जैसे देश आगे की ओर बढ़ता गया वैसे-वैसे इनका प्रचलन भी कम होता गया। इन्हें असभ्यता का प्रतीक माना जाने लगा। शिव पुराण के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण काल में इन क्रियाओं का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ करता था। लोग अपने शत्रुओं को मारने के लिये आभिचारिक क्रियाओं का प्रयोग किया करते थे।

कोटिरुद्र संहिता के इक्कीसवें अध्याय में कथा आती है कि 'भीम नामक राक्षस के बन्दी, कामरूप के राजा, एक बार पार्थिवार्चन कर रहे थे। भीम के अनुचरों ने उसे देखकर सोचा कि राजा भीम के विरुद्ध कोई आभिचारिक क्रिया कर रहा है, अतः उन लोगों ने अपने स्वामी को इसके विषय में सूचना दी।[1]

उस समय मारण एवं उच्चाटन आदि क्रियाओं में शिव के घोर रूप का चिन्तन किया जाता था।[2] आभिचारिक क्रियाओं का धार्मिक विधान एक अन्य प्रकार से ही सम्पन्न किया जाता था। मारण आदि कर्मों में लोह के बने हुये स्रुक् और स्रुवा का उपयोग होता था।[3] वशीकरण के इच्छुक पुरुष घृतयुक्त जातीपुष्प (चमेली या मालती के पुष्प) से हवन करते थे।[4] द्विजलोग आकर्षण के प्रयोग में घृत और करवीर के पुष्पों की आहुति देते थे। तेल की आहुति से उच्चाटन और मधु की आहुति से स्तम्भन कर्म का विधान था।[5] सर्षप की आहुति से भी

---

1. राजा किंचित्करोत्येवं त्वदर्थं ह्याभिचारिकम्। — शि० पु०, को० रु० सं०—21 : 3
2. घोररूपः शिवश्चिन्त्यो मारणोच्चाटनादिषु। — शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—32 : 41
3. आयसौ स्रुक्स्रुवौ कार्यौ मारणादिषु कर्मसु। — वही—32 : 43
4. जातीपुष्पेण वश्यार्थी जुहुयात्सघृतेन तु। — वही—32 : 46
5. घृतेन करवीरैश्च कुर्यादाकर्षणं द्विजः।
   तैलेनोच्चाटनं कुर्यात्स्तम्भनं मधुना पुनः॥ — वही—32 : 47

स्तम्भन कार्य किया जाता था।[1] बड़ (न्यग्रोध) के बीज और तिल की आहुति द्वारा मारण और उच्चाटन होता था।[2] नारियल के तेल की आहुति से विद्वेषण कर्म का, रोहे के बीज की आहुति से बंधन का तथा लाल सर्षप मिश्रित सम्पूर्ण होम द्रव्यों से सेनास्तम्भन का प्रयोग किया था।[3]

अभिचार कर्म में हस्तचालित यन्त्र से तैयार किये गये तेल की आहुति तथा कुटुकी की भूसी, कर्पास की ढोढ एवं तेल मिश्रित सर्षप की आहुति देने का विधान किया गया था।[4] वश्य एवं आकर्षण की सिद्धि विशेष द्रव्यों द्वारा होम करने पर बतलाई गई है। बिल्वपत्रों का हवन वशीकरण तथा आकर्षण का साधक और लक्ष्मी की प्राप्ति कराने वाला तथा शत्रु पर विजय दिलाने वाला माना जाता था।[5]

शान्ति कार्य में पलाश और खैर आदि की समिधाओं का एवं क्रूरतापूर्ण कर्म में कनेर और आक की समिधाओं का प्रयोग होता था। विग्रह के कार्य में कटीले वृक्षों की समिधाओं का हवन होता था।[6]

इन क्रियाओं का उस युग में सामान्यतया प्रचलन होने पर भी ये उस समय भी प्रशस्त न समझी जाती थीं। प्रशान्त व्यक्ति विशेषतः शान्ति एवं पुष्टि सम्बन्धी कर्म ही करते थे और निर्घृण तथा क्रुद्धचित व्यक्ति ही आभिचारिक क्रियाओं का प्रयोग करते थे।[7] अतीव दुरवस्था में जबकि प्रतिकार का अन्य मार्ग न होता था तभी आततायियों को उद्देश्य करके इन आभिचारिक

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—32 : 48
2. वही—32 : 49
3. वही—32 : 50
4. वही—32 : 51-52
5. वही—32 : 54-55
6. वही—32 : 56
7. वही—32 : 57

क्रियाओं का विधान था।[1]

इतना सब होने पर भी यदि कोई व्यक्ति किसी को, यहाँ तक कि आततायी को भी, उद्देश्य करके इन क्रियाओं का प्रयोग करता था तो उसे यह आवश्यक था कि वह पश्चात्तापपूर्वक प्रायश्चित करे।[2]

यद्यपि ये क्रियायें अपवित्र मानी जाती थीं किन्तु इनका प्रयोग बड़ी ही पवित्रता के साथ, अन्य धार्मिक कृत्यों की ही भाँति किया जाता था। द्विजेतर इन कार्यों के करने के अधिकारी न थे। उस समय इन क्रियाओं के नियोक्ता को यह आवश्यक था कि वह धार्मिक एवं पवित्र हो। श्रद्धा के अभाव में भी इन क्रियाओं का फल नहीं मिलता, अत: नियोक्ता को श्रद्धावान् होना पड़ता था।[3]

अतीत में व्यापक होने पर भी समय की गति के साथ-साथ ये क्रियायें अब प्राय: सभ्य समाज के रंगमंच पर अदृश्य होती जा रही हैं और अब इनका कोई मूल्य भी नहीं रह गया है।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—32 : 58
2. अन्यं कमपि चोद्दिश्य कृत्वा वै मारणादिकम्।
   पश्चात्तापेन संयुक्त: प्रायश्चितं समाचरेत्॥ वही—32 : 63
3. अविस्त्रब्धो न कुर्वीत कर्म दृष्टफलं क्वचित्।
   स खल्वश्रद्धधान: स्यान्नाश्रद्ध: फलमृच्छति॥ वही—32 : 7

विवाह

शिव-पुराण के अन्तर्गत विवाह एक कौटुम्बिक सम्बन्ध माना गया है। वह भोग के हेतु न होकर गृहस्थ-धर्म की पूर्ति का साधन माना जाता था। विवाह कई प्रकार से सम्पन्न किये जाते थे। कभी-कभी स्त्रियाँ अपने स्वामी की परीक्षा लेकर विवाह करती थीं। धर्म-ध्वज की परम-तपस्विनी सुन्दरी कन्या तुलसी ने विवाह से पूर्व अपने पति शंखचूड के ज्ञान, पौरुष आदि की सम्यक् परीक्षा लेते हुये कहा था—"विद्या का प्रभाव जानने के लिये मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी, स्वामी की परीक्षा करके ही स्त्रियों को स्वामी का वरण करना चाहिए।"[1] कभी-कभी घटना-विशेष के कारण भी विवाह होते थे। दैत्यराज तारकासुर के वध के लिये सभी देवता भगवान् शिव के पास गये। विष्णु जी ने कहा—हे महेशान! पार्वती जी ने आप ही के लिये गिरिराज से जन्म लिया है। उनमें आप से जो पुत्र होगा, वही तारक को मारेगा; क्योंकि ब्रह्मा जी के वर के कारण वह किसी से वध्य नहीं है। हम सभी देवता आपका शीघ्र विवाह देखना चाहते हैं।[2]

विवाहों के अवसर पर कन्या पक्ष के लोग वर को अनेक वस्तुयें भेंट करते थे। दक्ष ने सती के कन्यादान के पश्चात् शिव के लिये बहुत दहेज दिया। ब्राह्मणों को भी बहुत सा धन दिया।[3]

---

1. विद्याप्रभावज्ञानार्थे मया त्वं च परीक्षितः।
   कृत्वा कांतपरीक्षां वै वृणुयात्कामिनी वरम्॥ — शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—28 : 32
2. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—24 : 14-16
3. कृत्वा दक्षस्सुतादानं यौतकं विविधं ददौ।
   हराय सुप्रसन्नश्च द्विजेभ्यो विविधं धनम्॥ — वही—19 : 1

दान का माहात्म्य

किसी वस्तु को अपने अधिकार से सदा के लिये त्यागकर दूसरे के अधिकार में देना दान है।[1] दान किसी सुपात्र को ही देने का विधान है। कुपात्र को दान देने से अनिष्ट की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह उस दान का दुरुपयोग करता है। पात्र की परिभाषा देते हुये पुराणकार ने इस प्रकार कहा है—

''पतनात्त्रायते यस्मात्तस्मात्पात्रमुदाहृतम्।''[2]

परलोक में तथा इस लोक में कल्याण हेतु धन, धान्य, सुवर्ण, अनेक वस्त्र आदि पुराण के जानने वाले को देना चाहिए। जो सज्जन पुराण के जानने वाले सुपात्र को श्रेष्ठ पदार्थ बड़े प्रेम से अर्पण करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।[3] गोदान को सर्वश्रेष्ठ दान कहा गया है। इस लोक में विधि पूर्वक गो का दान करना सब दानों में श्रेष्ठ है, उसके समान और कोई दान नहीं है।[4]

युद्ध-खण्ड में 'दान' के विषय में लिखा गया है कि मनीषियों ने चार प्रकार के दान कहे हैं। वह अनेक शास्त्रों में विचार कर दोनों लोकों में कल्याण के देने वाले हैं। भयभीत को

---

1. ''दानं चापुनर्ग्रहणाय स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं पर-स्वत्वोत्पादनम्।''
—कारक-दीपिका—पं० मोहन वल्लभ पन्त पृ० सं० 56
2. शि० पु०, उ० सं०—13 : 5
3. वही—13 : 7, 8
4. विधितो गोश्च दानं वै सर्वोत्तममिह स्मृतम्।
न तेन सदृशं व्यास परं दानं प्रकीर्तितम्॥ वही—14 : 21

अभयदान, रोगी को ओषधिदान, विद्यार्थी को विद्यादान और भूखे को अन्नदान करना चाहिए।[1] इन चारों में भी जीव को अभयदान करना सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[2]

---

1. इह चत्वारि दानानि प्रोक्तानि परमर्षिभिः।
विचार्य नानाशास्त्राणि शर्मणेऽत्र परत्र च॥
भीतेभ्यश्चाभयं देयं व्याधितेभ्यस्तथोषधम्।
देया विद्यार्थिनां विद्या देयमन्नं क्षुधातुरे॥ शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—5 : 22, 23
2. यानि यानीह दानानि बहुमुन्युदितानि च।
जीवाभयप्रदानस्य कलां नार्हेति षोडशीम्॥ वही—5 : 22, 23

ललित कलायें

ललित कला के पाँच भेद हैं—(1) वास्तुकला, (2) मूर्तिकला, (3) चित्रकला, (4) संगीतकला, (5) काव्यकला।

शिव-पुराण में इन कलाओं का भी वर्णन न्यूनाधिक मात्रा में है। वृषभ आदि का चित्र बनाना, लिङ्ग-स्थापना, त्रिपुरों के सुवर्ण, रजत एवं लौह के भवनों का निर्माण, चन्द्रचूड आदि दानवों के महल, शिवजी का भद्ररथ, शिवजी की वर यात्रा में हिमालय के यहाँ स्वागतार्थ बनाये गये अनेक चित्र, शिव की स्मृति में बाल्यकाल में सती द्वारा बनाये गये चित्र, विवाहादि में नृत्य-गान आदि में इन ललित कलाओं का दर्शन किया जा सकता है।

संस्कृति

संस्कृति का तात्पर्य उन कृतियों से है, जिन्हें समाज आभूषण की भाँति धारण करके शोभा को प्राप्त हो सके। शिव-पुराण में ऐसी आदर्श कृतियों की कमी नहीं है।

त्याग भारतीय संस्कृति का आधार माना जाता है। मानव के पास भौतिक सामग्रियाँ जितनी ही कम होती हैं वह उतना ही अधिक सुखी रहता है। संसार में जब मानव आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय करने लगता है तब वह अपने एवं दूसरों के दुःख का कारण बनता है। अत: शिव-पुराण, जितने से पेट भर जाय उतने से अधिक इकट्ठा करने वालों को सामाजिक चोर एवं दण्डनीय मानता है।

सम्पूर्ण प्राणिमात्र का कल्याण करना ही शिव-पुराण का आदर्श था। शिव-पुराण में चित्रित समाज में आज की जैसी स्वार्थपरायणता एवं छल कपट न था। मानव जीवन में सत्य इतना प्रतिष्ठित था कि युद्धादि में भी कपट व्यवहार करना बुरा माना जाता था। समाज में गुरुजनों का बड़ा आदर होता था। शंखचूड गुरु शुक्राचार्य को दण्डवत् प्रणाम करता था तथा उनके अनुशासन में कार्य करता था।[1]

शिव-पुराण में वर्णित समाज के लोग लोक-कल्याण हेतु बड़े से बड़े त्याग करने को प्रस्तुत रहते थे। भगवान् शिव ने लोक-कल्याण के लिए विष का पान किया था। समाज में कुछ लोग आसुरी प्रवृत्तियों के भी थे।

कौटुम्बिक सम्बन्ध अति प्रेममय थे। इनमें आज की जैसी कृत्रिमता एवं स्वार्थान्धता न थी। मा, पिता भाई, बहन, गुरु एवं अतिथि सभी देववत् माने जाते थे। स्त्रियाँ पतिव्रता होती

---

1. सोपि दम्भात्मजो दृष्ट्वा गतं कुलगुरुं च तम्।
   प्रणनाम महाभक्त्या साष्टांगं परमादरात्॥ शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—29 : 4

थीं। पति की सेवा एवं उसका अनुगमन ही उनका धर्म था।

अतः स्पष्ट है कि शिव-पुराण में चित्रित संस्कृति त्याग, तपस्या एवं लोक-कल्याण की भावना से संयुक्त थी। अतएव वह उस युग से लेकर आज तक समाज के लिये वैसी ही आदर्श बनी हुई है।

समन्वय की भावना

समन्वय की भावना शिव-पुराण की एक अनुपम देन है। प्रायः अपने धर्म को श्रेष्ठ और दूसरे के धर्म को न्यून दिखाने की भावना से प्रेरित होकर शैव और वैष्णव आदि धर्मावलम्बी परस्पर विवाद किया करते थे। पुराणकार ने शिव पुराण में इस विषय में स्पष्ट उद्घोष किया है कि—हे विष्णु! तुम दोनों को रुद्र का ध्यान करना चाहिए और हे ब्रह्मा जी तुम्हारे ध्येय हरि में, तुम दोनों में और तुममे, रुद्र में कुछ अन्तर नहीं है। हे विष्णो! यह लीला मात्र का भेद है, वास्तव में भेद है नहीं। जो रुद्र का भक्त मनुष्य तुम्हारी निन्दा करेगा उसका सम्पूर्ण पुण्य तत्काल भस्म हो जायेगा। हे पुरुषोत्तम! तुमसे द्वेष करने से पुरुष नरक में गिरेगा।[1] शिवजी ने आगे कहा है कि जो तुमको आश्रय किये हैं वह मुझको आश्रय किये हैं, जो हम-तुम में अन्तर जानता है वह अवश्य नरक में गिरेगा।[2]

इस प्रकार शिव-पुराण में शैव एवं वैष्णव धर्मावलम्बियों के बीच समन्वय स्थापित किया गया है।

---

1. रुद्रध्येयो भवांश्चैव भवद्ध्येययो हरस्तथा।
   युवयोरन्तरन्नैव तब रुद्रस्य किंचन।।
   वस्तुतश्चापि चैकत्वं वरतोऽपि तथैव च।
   लीलयापि महाविष्णो सत्यं सत्यं न संशयः॥
   रुद्रभक्तो नरो यस्तु तव निदां करिष्यति।
   तस्य पुण्यं च निखिलं द्रतं भस्म भविष्यति॥
   नरके पतनं तस्य त्वद्द्वेषात्पुरुषोत्तम।
   मदाज्ञयाभवेद्विष्णो सत्यं सत्यं न संशयः॥ — शि० पु०, रु० सं०, सृ० खं०—16 : 6-9
2. त्वं यस्समाश्रितो नूनं मामेव स समाश्रितः।
   अतरं यश्च जानाति निरये पतति ध्रुवम्॥ — वही—10 : 14

अष्ठम अध्याय

शिव पुराण में अन्यान्य वर्णन

1. प्राकृतिक वर्णन
2. हिमालय वर्णन
3. सात द्वीपों का वर्णन
4. समाधि वर्णन
5. युद्ध वर्णन
6. अमूर्त भावों का मानवीकरण

शिव पुराण में अन्यान्य वर्णन

प्राकृतिक वर्णन

शिव-पुराण में प्राकृतिक चित्रण कहाँ तक, किस रूप में सफल हुआ है, यह विचारणीय बिन्दु है। शिव पुराण प्राकृतिक सुषमा से रहित नहीं है। इसमें प्रकृति के विभिन्न रूपों का न्यूनाधिक मात्रा में वर्णन है। षड् ऋतुओं में वर्षागम जहाँ अत्यन्त कामोद्दीपक एवं मनोहारी है, वहीं अति प्रासंगिक भी है। ऋतुराज बसन्त के वर्णन में पुराणकार व्यास जी की लेखनी अत्यन्त उदार एवं सरस है। ऐसे स्थलों का अध्ययन करने से नेत्र जहाँ बासन्ती सुषमा को देखते हैं, वही घ्राणेन्द्रिय पुष्पों की मादक सुगन्ध से परिपूर्ण हो जाती है।

शिव-पुराण में ग्रीष्म, शरद् आदि ऋतुओं, पर्वत, सरिता, कानन, पुष्प, नाना प्रकार के वृक्षों, सागर, उल्कापात, रात्रि, प्रातः, दिन, सायं, मार्ग, आकाश, तारे, सरोवर, पवन, सूर्य, चन्द्र, दिव्य औषधियों, ब्रह्माण्ड, जम्बू, शाल्मली, कुश, कौंच, पुष्कर आदि सात दीपों आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

अब शिव-पुराण के कतिपय उदाहरणों द्वारा शिव पुराणान्तर्गत प्राकृतिक चित्रण की विवेचना की जाएगी।

भगवान् शंकर जब सती के साथ कैलाश पर्वत पर जाते हैं तो वहाँ अपनी इच्छा से कामदेव का स्मरण करते हैं।[1] काम के शिव के पास आने पर वसन्त ने अपने हार्दभाव को

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—21 : 28

शिव पर फैलाया।[1] सम्पूर्ण वृक्ष प्रफुल्लित हो गये। लतायें फूल गयीं। जल कमलों-सहित और कमल भ्रमरों-सहित हो गये। वसन्त के प्रविष्ट होते ही सुगन्धित पुष्पों की गन्ध से युक्त सुन्दर मलय-वायु बहने लगी। सन्ध्या के अर्धचन्द्र के समान पलाश शोभित हो रहे थे, और उनमें से जो पुष्प फूल रहे थे, वही मानों कामदेव के अस्त्र थे। तडाग के कमल शोभित हो रहे थे और वायु देवता मनुष्यों को मोहित कर रहे थे।[2]

रुद्र संहिता के सती-खण्ड में वर्षा ऋतु का सुन्दर, सजीव एवं मनोहारी वर्णन किसके मन को मोहित नहीं करता। सती भगवान् शंकर से कहती हैं कि हे प्राणनाथ! ये परमदुःसह वर्षाकाल आकर प्राप्त हुआ। नाना वर्ण के मेघ दशों दिशाओं में घिरे हैं। हृदय को हरने वाली वायु बह रही है। कदम्ब के मकरन्द से मिले हुए जल के शीकर उड़ रहे हैं।[3] धाराओं का समूह बरसाते हुए, बिजली को चमकाते हुए और गर्जते हुए मेघों को देखकर किसका मन क्षुभित नहीं हो जाता।[4]

यह ऋतु विरहियों को दुःख देने वाली है, जिसमें न तो दिन में सूर्य प्रकाशित होता है और न रात्रि को चन्द्रमा। इसमें दिन भी रात्रि के समान प्रतीत होता है। वायु के वेग से प्रेरित, शब्द करते हुए मेघ भी एकत्र नहीं ठहरते, बल्कि लोगों के शिर पर गिरते हुए से दिखाई पड़ते हैं। वायु से प्रेरित बड़े-बड़े वृक्ष आकाश में नृत्य करते से प्रतीत होते हैं, जो डरने वालों को डरावने तथा कमियों को सुख देने वाले हैं।[5] चिकने और काले अंजन के समान मेघ के ऊपर उड़ती हुई बक-पंक्ति ऐसी शोभा दे रही है जैसे यमुना नदी के पृष्ट पर फेन बहता है।

---

1. तस्मिन्प्रविष्टे कामे तु वसंतश्शंकरांतिके।
   वितस्तार निजं भावं हार्दे विज्ञाय यत्प्रभोः॥ शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—21 : 29
2. वही—21 : 30-33
3. वही—22 : 3, 4
4. वही—22 : 5
5. वही—22 : 6-8

"स्निग्धनीलांजनस्याशु सदिवौघस्य पृष्ठतः।

बलाकराजीवात्युच्चैर्यमुना पृष्ठफेनवत्॥" [1]

रात्रि के आ जाने से विद्युत् वलयाकार दिखती है, जैसे समुद्र में प्रदीप्त बडवामुख अग्नि होती है। ऐसे में मन्दराचल पर छोटे वृक्ष जम रहे हैं। काले, सफेद औद लाल मेघों से घिरा हुआ यह पर्वत वैसे ही शोभा देता है जैसे पक्षियों से घिरा हुआ दुग्ध का समुद्र। भिन्न-भिन्न प्रकार की शोभा दिखाते हुए वृक्षों के पल्लव सुशोभित हो रहे हैं। मेघों की ध्वनि से प्रसन्न मयूर वन में नृत्य कर रहे हैं। मेघों के लिए उत्सुक चातकों की मधुर ध्वनि सुनाई देती है।[2]

वर्षागम का वर्णन करते हुए सती भगवान् शिव से कहती हैं कि हे कान्त! मेघों की यह दुर्नीति देखिए जो कि अपने अनुगामी मयूर और चातकों को आलों से ढकता है। मयूर और सारंग का मित्र से भी पराभव देखकर उनका मन हर्ष को प्राप्त होता है। इस विषम काल में काक और मयूर भी अपना घोंसला बनाते हैं। भला कहो कि तुम बिना धर के कैसे शान्ति प्राप्ति करोंगे—

"एतस्मिन्वषमे काले नीडं काकाश्च कोरकाः।

कुर्वन्ति त्वां बिना गेहान् कथं शन्तिमवाप्स्यसि"।[3]

रुद्र-संहिता के सती खण्ड में कामदेव द्वारा शम्भु को मोहित करने के हेतुओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है—फूले हुए कमल के समान कान्ति, फूले हुए तामरस के समान नेत्र और सन्ध्या समय उदय हुए चन्द्र खण्ड के समान उत्तम नासिका, सन्ध्या समय के सूर्य सदृश दो कुण्डलों से मण्डित कान मतवाले हाथी की सी चाल, कबूतर के समान गर्दन, चौड़ी छाती,

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—22 :9
2. वही—22 :10-15
3. वही—22 : 16-18

सन्मुख का भाग उठा हुआ, सम्पूर्ण अंग सुन्दर श्याम, सब लक्षणों से युक्त, दर्शनीय, सब को मोहित करने वाले, काम को बढ़ाने वाले, पुष्पों को उत्पन्न करने वाले वसन्त के उत्पन्न होने पर सुगन्धित वायु चलने लगी और वृक्ष फूल गये। पंचम मीठे स्वर से कोकिल बोलने लगे, कमल फूल गए, तालाब स्वच्छ हो गये।[1]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—22 : 38-43

हिमालय वर्णन

शिव-पुराण की रुद्र-संहिता में पर्वतराज हिमालय की शोभा का वर्णन करते हुए पुराणकार ने लिखा है कि विचित्र रूप वाले कमलों से वह शिखर चित्रित हो रहा था। प्रभात के सूर्य के समान शोभायमान उस शिखर पर सती सहित शिव जी प्राप्त हुए। स्फटिकमणि और अभ्रमय शार्दूल वृक्षों से विराजमान, विचित्र पुष्पराजी और कमलिनियों से संयुक्त, फूले वृक्षों की अग्रशाखा वाले, गुंजार करते हुए भ्रमरों से सेवित फूले हुए पंकरुह और नीले कमलों से शोभायमान, चक्रवाक्, कादम्ब, हंस, शंकु, मतवाले सारस और नीली गर्दन वाले क्रौंच पक्षियों से सेवित तथा शब्दायमान पुंस्कोयलों के मधुरालाप......देवताओं द्वारा निर्माण की हुई बावड़ियों तथा उनमें से आती कमल-गन्ध से व्याप्त फूले हुए फूलों वाले वृक्षों की कुंजों से नित्य शोभायमान, शैलराज के उत्तम शिखर पर सती सहित शंकर बहुत काल तक रमण करते रहे।[1]

शिव-पुराण में पर्वतराज हिमालय का दो रूप वर्णित है—स्थावर और जंगम।

उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए पुराणकार ने लिखा है कि वह पूर्व-पश्चिम के दोनों सागरों को अवगाहन करके स्थित हो रहा है। वह अनेक रत्नों की खान मानो भूमि का मान-दण्ड हो रहा है। अनेक वृक्षों से व्याप्त और अनेक शृंगों से चित्र-विचित्र है, सिंह, व्याघ्रादि पशु जहाँ सुखपूर्वक विचरते हैं। यही महात्मा पवित्र जनों के तप करने का पवित्र स्थान है। यह अनेक प्रकार की तपस्याओं की सिद्धि करने वाला तथा अनेक धातुओं की खान है। वहीं यह दिव्य-रूप सर्वांग-सुन्दर है। यह शैलराज विकाररहित सत्पुरुषों का प्रिय है। कुल की स्थिति और धर्म बढ़ाने के निमित्त पितृ-देवताओं की हितेच्छा से पर्वतराज ने अपना विवाह करने की इच्छा की।[2]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं० - 22 : 56-64
2. वही—1 : 15 -21

यह पर्वतराज हिमालय भगवान् विष्णु के अंश के रूप में इस पुराण में वर्णित है—

'विष्णवंशोऽविकृतः शैलराजराजस्सताम्प्रियः।'[1]

अपि च

विष्णोरंशस्य शैलस्य हिमधारस्य कामिनी।'[2]

दक्ष-सुता सती से हिमालय का वर्णन करते हुए शिव जी ने इस प्रकार कह है—हिमालय पर्वत पर सुवर्ण-पक्ष वाले अनिल-वृन्द नामक पक्षियों के समूह अपने ऊँचे-ऊँ मधुर शब्दों से तुम्हारे इच्छानुसार विहार के कौतुकों का गान करेंगे—

''स्वेच्छाविहारैस्तव कौतुकानि सुवर्णपक्षानिलवृन्दवृन्दैः।
शब्दोत्तरंगैर्मधुरस्वनैस्तैर्मुदोपगेयानि गिरौ हिमोत्थे॥''[3]

लीला-बिहारी भगवान् शंकर कहते हैं कि बड़े विचित्र कोकिलों के अलाप और मो वाले कुंजों के समूहों से घिरे हुए स्थान में एवं हे प्रिये! क्या सदा वसन्त की उत्पत्ति वाले स्था में जाना चाहती हो? बहुत से जलों से पूर्ण, सरस, शीत से युक्त, सैकड़ों कमलिनियों से युक्त अचलराज हिमालय है। सब कामना देने वाले शार्दूल तथा कल्प-वृक्षों से सम्पन्न फूलों क अश्व, करि, गोव्रज के समान क्षणमात्र को देखो। यहाँ के हिंसक जीव सब शान्त हैं। मुनि यतियों से यह सम्पन्न देवालय है। हे महामाये! यह अनेक मृगगणों से युक्त है—

सर्वकामप्रदैर्वृक्षैश्शार्दलैः कल्पसंज्ञकैः।

सक्षणं पश्य कुसुमान्यथाश्वकरिगोव्रजे॥[4]

वहाँ के सरोवरों का वर्णन करते हुए, भगवान शिव कहते हैं कि हे प्रिये! स्फटि

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—1 :20
2. वही—2 : 28
3. वही—22 : 28
4. वही—22 : 34-37

मणि और सुवर्ण तथा चाँदी के स्थानों से विराजमान, मानसादि सरोवर के रंगों से सब प्रकार से शोभित सुवर्ण और रत्नों की डंडी वाले कमल और बबूलों से सम्पन्न, शिशुमार तथा असंख्य कच्छप, मकरों से व्याप्त बड़े उज्ज्वल नील कमलादिकों से सम्पन्न हैं। हे देवेशि! इसी कारण कुंकुमादि की सब ओर से गंध, प्राप्त हो रही है। जलों में से गंध आ रही है। स्वच्छ कान्ति वाले सरोवर भर रहे हैं, बड़े तरुण ऊंचे वृक्ष तथा शादूलों से शोभायमान है। यहाँ के अखरोटों के वृक्ष मानो अपनी शाखा हिलाकर नृत्य कर रहे हैं, कामदेव सारस और मतवाले चकवा-चकवियों से शोभित हैं।[1]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—22 : 38-42

सात द्वीपों का वर्णन

शिव पुराण की उमा-संहिता में सात द्वीपों का वर्णन किया गया है। जम्मू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक तथा पुष्कर ये सात द्वीप हैं।

''जंबू प्लक्षश्शाल्मलिश्च कुशः क्रौञ्चश्च शाककः।
पुष्पकस्सप्तमस्सर्वे समुद्रैस्सप्तभिर्वृताः।'' [1]

इनमें से जम्मू द्वीप लवण, इक्षुरस, घी, दही, और दूध के समुद्र से घिरा है। इसके मध्य में सुमेरु, कनक पर्वत है जो सोलह योजन नीचे धँसा है और चौरासी योजन ऊँचा है। इसके दक्षिण में हिमालय, हेमकूट, निषध पर्वत हैं। उत्तर में नील, श्वेत, शृंगी नाम वाले पर्वत हैं। यह सब दश सहस्र योजन तथा रत्नों सहित और अरुण के समान कान्ति वाले हैं।[2] इसके पश्चात् इसमें जम्बू द्वीप का विस्तृत वर्णन है। पर्वतों में गन्धमादन, मन्दराचल, सुपार्श्व नामक पर्वतों का वर्णन है। जम्मू द्वीप में अन्य वनस्पतियों के साथ-साथ जामुन, पीपल, बड़ आदि वृक्षों की अधिकता है।[3] उन बड़े-बड़े जामुन के फलों के रस से जम्मू नदी बहती है, इसी से इसका नाम जम्बूद्वीप है।

''रसेन तेषां विख्याता तत्र जम्बूनदीति वै।
परितो वर्तते तत्र पीयते तन्निवासिभिः॥'' [4]

इस जम्बू द्वीप में भारत वर्ष है। उसके आगे सुमेरु पर्वत के दक्षिण ओर हरिवर्ष है, उसके उत्तर की ओर रम्यक तथा हिरण्मयवर्ष है। उसके मध्य में इलावृत्त और मेरु पर्वत स्थित है।[5] इसी प्रकार प्लक्ष, शाल्मलि आदि द्वीपों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

---

1. शि० पु०, उ० सं०— 17 : 2
2. वही—17 : 3-7
3. वही—17 : 14
4. वही—17 : 17
5. शि० पु०, उ० सं०—17 : 8 - 11

समाधि वर्णन

वशीभूत मन को श्रवणादि एवं उसके अनुरुप विषयों में लगाने को समाधि कहते हैं।[1] पतंजलि-योग-दर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों के सम्बन्ध से युक्त (चित्त-वृत्ति का समाधान) सम्प्रज्ञात योग है।[2] पुनः इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस किसी भी ध्येय को लक्ष्य बनाकर उसमें अपने चित्त को लगाता है तो वह चित्त उस ध्येय वस्तु में स्थित होकर तदाकार हो जाता है, इसी को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से समाधि के दो भेद होते हैं।[3]

सविकल्पक समाधि

इसमें ज्ञाता को ज्ञातव्य का भेद ज्ञान होते हुए भी अद्वैत वस्तु के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान सविकल्पक कहलाता है।[4] जब ग्राह्य पदार्थों के स्थूल रूप समाधि की जाती है तो उस समय समाधि में जब तक शब्द, अर्थ और ज्ञान का विकल्प वर्तमान रहता है तब तक तो वह सवितर्क समाधि होती है।[5] पतंजलि योग-दर्शन में आनन्दानुगतः समाधि बतलायी गयी है—जब निर्विकार समाधि में विकार का सम्बन्ध तो नहीं रहता, परन्तु आनन्द का अनुभव और अहंकार का सम्बन्ध रहता है तब तक आनन्दानुगता समाधि है।

---

1. निगृहीतस्य मनः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधि समाधानम्।—वेदान्तसार सूत्र, 23
2. "वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञात"—पतंजलि योग दर्शन
3. समाधिद्विविध सविकल्पोनिर्विकल्पकश्वेति—वेदान्तसार, सूत्र 192
4. तत्र सविकल्पो नाम ज्ञातृज्ञानादि विकल्पलयनपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तादाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्।—वेदान्तसार,सूत्र 193
5. पतंजलि योग दर्शन

निर्विकल्पक समाधि

ज्ञाता, ज्ञानादि-भेद-भाव का लोप होकर केवल अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) में तदाकार से आकरित चित्त वृत्ति का अत्यधिक एकीभाव से स्थित होना निर्विकल्पक ज्ञान है।[1] रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरंजिनी टीका में निर्विकल्पक को असम्प्रज्ञात समाधि बताया है।

जिस प्रकार स्थूल ध्येय पदार्थों में की जाने वाली समाधि के दो भेद होते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म ध्येय पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाली समाधि के भी दो भेद होते हैं—1. सविचार समाधि, 2. निर्विचार समाधि।

सविचार समाधि— जब किसी सूक्ष्म ध्येय पदार्थ के रूप का पदार्थ स्वरूप जानने के लिए उसमें चित्त को स्थिर किया जाता है तब पहले उसके नाम, रूप और ज्ञान के विकल्पों से मिला हुआ अनुभव होता है, वह स्थिति सविचार समाधि है।[2]

निर्विचार समाधि— जब नाम का और ज्ञान का अर्थात् चित्त के निज स्वरूप का भी विस्मरण होकर केवल ध्येय पदार्थ का ही अनुभव होता है, वह स्थिति निर्विचार समाधि है।[3]

शिव पुराण के वायवीय संहिता के उत्तर-खण्ड में पुराणकर्ता व्यास जी ने समाधि के विषय में वर्णन किया है। उन्होंने बारह ध्यान की समाधि बतायी है—

''ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते।''[4]

पुराणकार ने समाधि को योग का अन्तिम अंग बताया है। समाधि से ही सर्वत्र प्रधान का प्रकाश होता है। उन्होंने समाधि का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

---

1. निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तिरतितरामेकाकीभावेनावस्थानम्।—वेदान्तसार, सूत्र196
2. एतयेव सविचारानिर्विचारा च सूक्ष्म विषया व्याख्याता।—पतंजलि योग दर्शन, 1 : 44
3. वही
4. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 60

''यदर्थमात्रनिर्भासं स्तिमितोदधिवत्स्थितम्।

स्वरूपशून्यवद्भानं समाधिरभिधीयते॥''[1]

अर्थात् ध्याता में ध्येयं के स्वभाव का आवेश हो जाता है, उसे समाधि कहते हैं अर्थात् अर्थमात्र स्वभाव से निर्भास नाम होता है और बात रहित सागर के समान स्थित हुआ योगी निर्वाण अग्नि में स्थित के समान हो जाता है।

शिव पुराण में समाधि के सभी भेदों का सम्यक् निरूपण प्राप्त होता है। रुद्र संहिता में महर्षि नारद की समाधि का वर्णन मिलता है।

नारद की समाधि

शिव पुराण की रुद्र संहिता में नारद की समाधि का वर्णन है। हिमालय पर्वत की परम शोभायमान गुफा एवं प्रवाहमयी गंगा को तथा वहीं एक शोभा सम्पन्न आश्रम को देखकर महामुनि नारद मौन हो, आसन लगाये, प्राणायाम करके, शुद्ध मन से तपस्या हेतु समाधिस्थ होते हैं।

'तां दृष्ट्वा मुनिशार्दूलस्तेपे स सुचिरं तपः।

बध्वासनं दृढ़ं मौनी प्राणानायम्य शुद्धधीः॥

चक्रे मुनिस्समाधिं तमहम्ब्रह्मेति यत्र ह।

विज्ञानं भवति ब्रह्मसाक्षात्कारकरं द्विजाः॥'[2]

यहाँ पर मुनि नारद का मौन होकर प्राणायाम कर निज स्वस्थ ज्ञान आदि का अभाव होने के कारण केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला विज्ञान ही वर्णित है।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 62
2. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—2 : 4-5

अतः यह सविकल्पक या सवितर्क अथवा सविचार समाधि का उदाहरण न होकर निर्विकल्पक या निर्वितर्क समाधि का उदाहरण है। चूंकि यहाँ ब्रह्म विचार रूप सूक्ष्म तत्त्व के स्वरूप के ज्ञानार्थ महर्षि ने समाधि लगायी है इसलिए यहाँ निर्विचार समाधि है।

शिव की समाधि

शिव-पुराण में भगवान शिव की समाधि का अनेक बार वर्णन आया है। रुद्र-संहिता के सती-खण्ड में शिव जी समाधिस्थ हैं। जब शिव जी समाधि लगाकर बैठ गये तब अति शीतल सुगन्धित वायु चलने लगी—

"यदा समाधिमाश्रित्य स्थितश्शंभुर्नियंत्रितः।

तदा सुगंधिवातेन शीतलेनातिवेगिना॥" [1]

भगवान शिव की समाधि को भंग करने के लिए कामदेव अपनी समस्त सेना एवं रति सहित अनेक अनुचरों के साथ गया। काम के सुहृद वसन्त ने अपना प्रभाव विस्तार कर सम्पूर्ण उस प्रदेश को सुरम्य एवं कामोद्दीपक बना दिया। इस प्रकार अनेक काम-क्रीड़ायें होने लगीं।[2]

इन सब क्रियाओं के होने पर भी शिव जी के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु उसके प्रभाव के कारण ही उनकी समाधिगत धारणा निवृत्त होकर क्रोध का रूप धारण करती है। इससे यह समाधि सविकल्पक समाधि का भेद है क्योंकि इसमें निजत्व का पूर्ण अभाव है।

इसी प्रकार पार्वती-खण्ड में शिव द्वारा लगायी गयी समाधि का वर्णन है। भगवान् शंकर सती के विरह से दुःखी हुए कहीं उसके दर्शन को न प्राप्त होकर फिर भी कल्याणकारी

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—9 : 10
2. वही—9 : 19

शंकर भक्त गिरि के स्थान पर आये।[1] फिर यत्न से मन को सावधान कर दु:खनाशिनी समाधि को लगाकर अपना अविनाशी रूप देखने लगे—

"समाधाय मनो यत्नात्समाधिन्दु:खनाशिनम्।
चकार च ददर्शासौ स्वरूपं निजमव्ययम्॥"[2]

शिव जी द्वारा अपने निज अविनाशी रूप का ध्यान किये जाने के कारण यह निर्विकल्पक समाधि का उदाहरण है।

शतरुद्र-संहिता के छठें अध्याय में शिलाद मुनि की कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार समाधि में लीन हुए कि उनका शरीर बांबी से ढंग गया और ब्रजसूची मुख वाले (दीमक) रुधिर भोजी लाखों कीड़ों से उनका शरीर व्याप्त हो गया।[3] सहस्त्र वर्ष तक तप करते हुए शिलाद मुनि को वर देने के लिए देवताओं के स्वामी शिव जी आते हैं, और वे कहते हैं कि "मैं आप को वर देने आया हूँ" किन्तु समाधिस्थ शिलाद मुनि ने उनकी वाणी को भी नहीं सुना—

'महासमाधिसंलीनस्य शिलादो महामुनि:।
नाशृणोत्तदिगरं शम्भोर्भक्त्यधीनतरस्य वै॥'[4]

शिलाद मुनि की समाधि में शरीर तक का ज्ञान न होना, शिव जी की वाणी को भी न सुनना, कीड़ों द्वारा रुधिर मांस का भक्षण कर जाना आदि ऐसे हेतु हैं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि मुनि निर्विकल्पक या निर्विचार समाधि में लीन हैं।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—10 : 10
2. वही—10 : 11
3. वही—6 : 20
4. वही—6 : 24

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिव पुराण में सविकल्पक एवं निर्विकल्पक दोनों प्रकार की समाधियों का वर्णन है। समाधिस्थ को जप, तप एवं ध्यान आदि करने वालों में श्रेष्ठ बतलाया गया है। यहाँ तक कि लाख शिव-ज्ञानियों से ध्यान-योगी अधिक है, करोड़ ध्यान-योगियों से समाधिस्थ अधिक है।[1]

---

1. शि० पु०, वि० सं० 17 : 148

युद्ध वर्णन

भगवान् शिव साधुओं को कल्पवृक्ष और दुष्टों को दण्ड देने वाले हैं।[1] जैसे गोपाल गायों की रक्षा करता है उसी प्रकार से वे सब आपत्तियों से सहायता करते हैं और दुष्टों के ऊपर दण्ड धारण कर मर्यादा के पालन करने वाले हैं।[2] जब धरती पर आसुरी शक्तियों का उत्कर्ष होता है और धर्म का पतन होता है तो सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के विनाश हेतु वह परमशक्ति किसी न किसी रूप में अवतरित होती है—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे-युगे॥'[3]

निर्गुण, निराकार, बिन्दु-नाद स्वरूप भगवान शिव का प्रकट होना भी धर्म की रक्षा एवं आसुरी शक्तियों के विनाश के लिए होता है। भगवान शिव ने अनेक रूपों को धारण कर उनका विनाश किया है। अब शिव पुराण में शिवजी के साथ हुए कतिपय युद्धों का वर्णन किया जायेगा।

शिव और त्रिपुर युद्ध

यह युद्ध भगवान शिव और तारकासुर के तीन पुत्र तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमलाक्ष

1. शि० पु०, रु० सं०, स० खं०—42 : 37
2. वही—42 : 39
3. श्रीमद्भगवतगीता, 4 : 7, 8

के मध्य होता है। उन तीनों में समान बल था। वे जितेन्द्रिय सदा कार्य के लिये उद्यत, संयमी, सत्यवादी, दृढ़चित्त, महान वीर और देवों से द्रोह करने वाले थे।[1] त्रिपुरों ने कठिन तपस्या करके ब्रह्मा जी से अजर-अमर होने का वर माँगा।[2] तब ब्रह्मा जी ने कहा कि हे असुरों! इस भूतल पर जहाँ कहीं भी जो प्राणी जन्मा है अथवा जन्म लेगा, वह जगत् में अजर-अमर नहीं हो सकता।[3] इसके बाद त्रिपुरों ने कहा आप हमारे लिए ऐसे तीन नगरों का निर्माण करा दीजिये, जो अत्यन्त अद्भुत और सम्पूर्ण सम्पत्तियों से सम्पन्न हो तथा देवता जिनका प्रधर्षण न कर सकें।[4] केवल भगवान् शिव लीलापूर्वक सम्पूर्ण सामिग्रयों से युक्त एक असम्भव रथ पर बैठकर एक अनोखे बाण से भेदन करें।[5]

उन दैत्यों का कथन सुनकर सृष्टिकर्ता लोकपितामह ब्रह्मा ने शिव जी का स्मरण करके मय नामक दैत्य से तीन नगरों का निर्माण करने को कहा।[6] 'मय' ने सोने, चाँदी और लोहे के तीन पुरों का निर्माण क्रमशः स्वर्ग, अन्तरिक्ष और भूतल पर किया। तारकाक्ष को सोने, कमलाक्ष को चाँदी तथा विद्युन्माली को लोहे का पुर देकर स्वयं भी वही रहने लगा।[7] यह पुर सभी प्रकार की सुविधाओं से सम्पन्न तथा इसमें रहने वाले सभी नर-नारी वेद मार्ग का अनुसरण करने वाले परम पुण्यात्मा एवं सदाचारी थे तथा त्रिपुरों की इच्छानुसार कार्य करते थे।[8]

सभी देवताओं ने मिलकर परमेश्वर से उसके बध के लिये स्तुति की, पर भगवान्

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—1 : 9
2. वही—1 : 32
3. वही,1 : 37
4. वही—1 : 44
5. वही—1 : 54
6. वही—1 : 55
7. वही—1 : 56-59
8. वही—2 : 61

शंकर ने कहा कि इस समय त्रिपुराधीष महान् पुण्य-कार्यों में लगे हैं, और ऐसा नियम है कि जो पुण्यात्मा हो, उस पर विद्वानों को किसी भी प्रकार प्रहार नहीं करना चाहिये।[1] आगे शिव जी ने कहा कि सत्पुरुषों ने ब्रह्म हत्यारे, शराबी, चोर तथा व्रत भंग करने वाले के लिये प्रायश्चित का विधान किया है; परन्तु कृतघ्न के उद्धार का कोई उपाय नहीं है।[2] हे देवताओं! तुम लोग भी तो धर्मज्ञ हो, अतः धर्मदृष्टि से विचार तुम्हीं बताओं कि जब वे दैत्य मेरे भक्त हैं, तब मैं उन्हें कैसे मार सकता हूँ।[3]

तदनन्तर भगवान् शिव के उत्तर को सुनकर उनकी आज्ञनुसार वे देवता भगवान् विष्णु के यहाँ जाकर यथास्थिति का वर्णन किया। इस पर भगवान् विष्णु ने भी कहा कि यह सत्य है कि वहाँ सनातन धर्म है और वहाँ कभी दुःख नहीं होता जैसे सूर्य के दर्शन से अन्धकार नहीं रहता।[4] जब तक वेद के धर्म हैं, और जगत् में जब तक शंकर का पूजन हैं, जब तक उनमें पवित्र कृत्य हैं, तब तक उनका नाश न होगा।[5] विष्णु जी ने 'अरिहन्' नामक मायावी का निर्माण करके उसे आदेश दिया कि तुम श्रुति स्मृति से विरुद्ध और वर्णाश्रम के धर्म से रहित सोलह सहस्त्र श्लोकों का एक शास्त्र का निर्माण करो।[6] त्रिपुरों के यहाँ जाकर उन्हें शिव भक्ति से विचलित करो। महर्षि नारद की प्रेरणा से राजा इस मायावी 'अरिहन्' के प्रभाव में आकर उपदेश ग्रहण करता है। प्रजा भी राजा का अनुकरण करती है। और सभी नर-नारी वेद मार्ग का उल्लंघन कर अधर्म के मार्ग पर प्रवृत्त होते हैं। इस अधर्म की बात को जानकर भगवान् शिव ने देवताओं से कहा अब मैं कि उन दैत्यों की अधर्म में निष्ठा को जान गया हूँ,

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—3 : 1
2. ब्रह्मघ्ने च सुरापे च स्तेने भग्नव्रते तथा।
   निश्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥—वही—3 : 5
3. वही— 3 : 6
4. वही—3 : 13
5. वही—3 : 47
6. वही 4 : 10

अत: त्रिपुर का नाश कर दूँगा—

तेषामधर्मनिष्ठानां दैत्यानां देवसत्तम्।

पुरत्रयविनाशं च करिष्येऽहं न संशयः॥ [1]

भगवान् शिव की आज्ञा से विश्वकर्मा जी ने एक देवमय रथ बनाया, जिसमें ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुयें विद्यमान थीं। तब अनेक सामग्रियों से सम्पन्न उस दिव्य रथ में भगवान् शंकर आरूढ़ हुए।[2] तब महादेव शिव जी सब सामग्री सहित उस रथ पर सवार होकर त्रिपुर का वध करने के लिए तैयार हुए।[3] शिव जी ने पहले गणेश जी की उपासना नहीं की थी इसलिए कुछ विघ्न उत्पन्न हुआ, पर आकाशवाणी सुनकर गणेश पूजन करने पर तीनों पुर एकत्र हो गये।[4] तब पूज्य शंकर ने पाशुपत अस्त्र को संयुक्त कर त्रिपुर संहार की इच्छा की।[5] लेकिन शंकर ने अपना नाम सुनकर उन महाअसुरों से सम्भाषण करके ही कोटि सूर्य के समान प्रकाशमय उस बाण को असुरों पर छोड़ा। उस शीघ्रगामी, अग्नि के शल्य वाले, महाप्रज्वलित, पापहारी, विष्णुमय वाण ने त्रिपुर में स्थित उन तीनों दैत्यों को भस्म कर दिया।[6]

जलन्धर उत्पत्ति एवं देवों से युद्ध

देवराज इन्द्र के ऊपर किये गये क्रोध को जब शिवजी ने समुद्र में डाल दिया तो उससे वहाँ एक बालक उत्पन्न हो गया और वह गंगासागर के संगम पर जोर से रुदन करने लगा।[7] उस बालक के रोने से सब लोग व्याकुल हो गये और सम्पूर्ण चराचर चलायमान हो गया।[8]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं० - 6: 35
2. वही - 9 : 29,30
3. वही— 10 : 1
4. वही—10 : 4, 14
5. वही - 10 : 20
6. वही—10 : 26-28
7. वही— 14 : 4, 5
8. वही—14 : 7, 8

सभी देवताओं और मुनियों ने ब्रह्माजी से उसके विनाश के लिए कहा, तब ब्रह्माजी ने समुद्र तट पर जाकर समुद्र से उस बालक के विषय पूँछा। समुद्र प्रणाम करके ब्रह्मा की गोद में बालक को डाल दिया और बताया कि यह बालक मुझे अन्जान में प्राप्त हुआ है, मैं नहीं कह सकता कि यह किसका है। हे विधाता! यह गंगासागर के तट पर अकस्मात् प्रकट हुआ है। हे जगद्‌गुरो! इस बालक के जातकर्मादि संस्कार कीजिए और इसके जातक का सब फल वर्णन कीजिये।[1]

इधर सागर ऐसा कह रहा था, उधर वह बालक ब्रह्मा जी के गले में दोनों हाथ डालकर उनको आकर्षित कर रहा था। ब्रह्मा जी का गला जोर से पकड़ने के कारण उनके आँसू टपकने लगा। ब्रह्मा जी ने गला छुड़ाया और सागर से बोले—जिस कारण इसने मेरे नेत्रों से जल निकाला है, उस कारण इसका विख्यात नाम जलन्धर होगा।[2] उन्होंने आगे बताया कि यह उत्पन्न होते ही तरुण हो गया है, इससे वह सब शास्त्रों का पारगमी, महापराक्रमी, महाधीरज वाला, महायोद्धा, रण में दुर्मद होगा। यह युद्ध में कार्तिकेय के समान गम्भीर और संग्राम में सबको जीतने वाला होगा। यह बालक दैत्यों का स्वामी होगा और पराक्रम से विष्णु को भी जीत लेगा। यह शंकर जी को छोड़कर सब प्राणियों से अबध्य होगा। इसकी स्त्री बड़ी पतिव्रता, सुन्दरी तथा सौभाग्यशाली होगी।[3]

इसके पश्चात् 'सागर' ने शुक्राचार्य को बुलाकर उसका राज्याभिषेक कराया और उसे दैत्यों का राजा बनाया। 'कालनेमि' कीपुत्री 'वृन्दा' से विवाह करके वह जलन्धर राज्य करने लगा।[4] एक समय समुद्र का पुत्र जलन्धर अपनी पत्नी वृन्दा के साथ सब असुरों के सम्मान को

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—14 : 15-19
2. वही—14: 24
3. वही—25 : 25,29
4. वही—14: 30, 40

प्राप्त हुआ, सभा में बैठा था। उसी समय वहाँ भृगु जी आये! प्रणामपूर्वक पूछने पर ज्ञात हुआ कि राहु का शिर विष्णु ने काटा और समुद्र का रत्न हरण किया।[1] जलन्धर ने क्रोधित होकर 'घस्मर' नामक दूत को सन्देश देकर 'इन्द्र' की सभा में भेजा। दूत ने इन्द्र की सुधर्मा सभा में जाकर इन्द्र से सन्देश को कहा—

'कस्मात्त्वया मम पिता मथितस्सागरोऽद्रिणा।

नीतानि सर्वरत्नानि पितुर्मे देवताधम॥'

अर्थात् तुमने किस कारण मेरे पिता को पर्वत डालकर मन्थन किया है, हे देवताओं में अधम! तुमने मेरे पिता के सब रत्नों को किस कारण से ग्रहण किया है। उन रत्नों को शीघ्र लौटा दो और सब देवताओं सहित मेरी शरण में आवो अन्यथा बड़ा भय और राज्य का विध्वंस होगा।[2] दूत की बात को सुनकर क्रुद्ध इन्द्र ने बताया कि समुद्र ने मेरे भय से पलायन करने वाले पर्वतों को शरण दिया और मेरे शत्रुओं की रक्षा की। इसलिए उसका रत्न हरण किया और यह भी कहा कि मुझसे द्रोह करने वाला कभी सुख से बैठ नहीं सकता।[3]

देवराज इन्द्र के उत्तर को सुनकर क्रोध से जलन्धर के ओंठ फड़कने लगे और शीघ्र ही उसने सब देवताओं को जीतने का उद्योग किया। पातालादि स्थानों से कोटि-कोटि दैत्य तथा शुम्भ, निशुम्भ आदि सेनापतियों को साथ लेकर महाप्रतापी सागर पुत्र जलन्धर शीघ्र ही इन्द्रपुरी पहुँच कर शंख बजाया तथा सब वीरों ने सिंहनाद किया। वह दैत्य सब वीरों सहित इन्द्र के नन्दन वन में स्थित हुआ। उसकी बड़ी सेना को देखकर देवता भी अमरावती पुरी से युद्ध के निमित्त चले। तब मूसल, परिध, बाण, गदा, परशु शक्तियों से देवता और दैत्यों का महायुद्ध

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—15 : 16
2. वही—15 : 27-29
3. वही—15 : 31-32

होने लगा।[1] दोनों एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। क्षणमात्र में दोनों सेना रुधिर से क्षत विक्षत हो गयी। उस युद्ध में मरते हुए दैत्यों को शुक्र जी जिलाने लगे। वह मृत संजीवनी विद्या से मन्त्र पढ़कर जल छिड़कते थे और द्रोणाचल पर्वत से दिव्य औषधि लाकर वृहस्पति जी मृत देवताओं को जिलाने लगे।[2]

देवताओं को पुनर्जीवित देखकर जलन्धर ने शुक्राचार्य से पूछा कि जब यह संजीवनी विद्या आप के पास ही है, तो मेरे द्वारा मारे गये देवता कैसे जीवित हो जाते हैं,तब शुक्राचार्य ने बताया कि आचार्य वृहस्पति द्रोणाचल से दिव्य औषधि लाकर जिलाते हैं। यदि तुम अपनी भुजाओं से उखाड़कर समुद्र में डाल सको तो तुम्हारी विजय होगी। जलन्धर ने उस पर्वत पर जाकर अपनी भुजाओं से उखाड़कर समुद्र में डाल दिया।[3] द्रोणचल के नष्ट होने तथा जलन्धर को रुद्र के अंश से उत्पन्न हुआ जानकर वृहस्पति ने इन्द्र सहित सभी देवताओं को भागने के लिए कहा।[4]

इस प्रकार देवताओं को भागता हुआ देखकर जलन्धर ने 'शंख मेरी जय' का शब्द करते हुए अमरावती में प्रवेश कर शुम्भादिक दैत्याधिपतियों को पृथक्-पृथक् स्थापित कर मेरु पर्वत की गुफा में देवताओं की खोज में गया।[5]

जलन्धर और विष्णु युद्ध

जलन्धर के भय से देवतागण इन्द्र सहित मेरु पर्वत की गुफाओं से भागकर प्रजापति को आगे करके बैकुण्ठ में विष्णु भगवान् के पास गये और अनेक प्रकार से स्तुति करके बोले—

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—15 : 38-44
2. वही—15 : 48
3. वही—15: 49-55
4. वही—15 : 63
5. वही—15 : 64-65

"कृपासिन्धो रमानाथ पाहि नश्शरणागतान्।

जलन्धरेण देवाश्च स्वर्गात्सर्वे निराकृता:॥"[1]

अर्थात् हे कृपासागर रमानाथ! हम आपकी शरण में आये हैं, हमारी रक्षा करो। जलन्धर ने सब देवताओं को निकाल दिया है। अपने स्थानों से सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि को निकाल दिया है, पाताल से धर्मराज और नागराज को निकाल दिया है। देवता मनुष्यों की भाँति मारे-मारे फिर रहे हैं। हम आप की शरण में हैं, आप दैत्यों के वध का विचार करो।[2]

देवताओं की स्तुति सुनकर भगवान विष्णु ने कहा—हे देवतागण! भय त्याग करो, मैं युद्ध में जाऊंगा और उस जलन्धर दैत्य से युद्ध करुंगा।[3] इस प्रकार के वचनों को सुनकर और देवताओं के साथ अपने प्राणपति को जाता देखकर नेत्रों में जल भरकर समुद्र से उत्पन्न हुई 'लक्ष्मी' भगवान् से बोली—हे नाथ! यदि मैं आपकी प्यारी हूँ तो, हे कृपानाथ! आप मेरे भ्राता को युद्ध में कैसे मारोगे? विष्णु जी ने कहा मैं जलन्धर दैत्य के साथ युद्ध में पराक्रम करूंगा, देवताओं ने मेरी स्तुति की है, इससे युद्ध में शीघ्र जाऊंगा। रुद्रांश से उत्पन्न होने और ब्रह्मा के वरदान तथा तुम्हारी प्रीति से मैं अपने हाथ से जलन्धर को नहीं मारूंगा। यह कहकर भगवान् विष्णु शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करने वाले विष्णु जी गरुण पर चढ़कर बड़े वेग से इन्द्रादि देवगणों के सहित युद्ध में गये।[4]

देवताओं और दैत्यों का भीषण संग्राम आरम्भ हुआ। एक दूसरे पर प्रहार होने लगा। देवों को व्याकुल देखकर विष्णु भगवान् ने शार्ङ्ग धनुष से सहस्रों दैत्यों के शिर काट डाले। विष्णु और दैत्येन्द्र के मध्य महायुद्ध होने लगा। दोनों के बाणों से आकाश में अवकाश न

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—16 : 19
2. वही—16 : 20-21
3. वही - 16 : 23
4. वही—16 : 27-29

रहा।[1] विष्णु और दैत्यराज जलन्धर के मध्य कभी धनुष, कभी खड्ग, कभी बाहु आदि से महा संग्राम हुआ। किन्तु वह महावीर जलन्धर तनिक भी विचलित नहीं हुआ। तब उस दैत्येन्द्र से प्रसन्न होकर विष्णु जी बोले—हे रणदुर्मद दैत्यश्रेष्ठ तुम धन्य हो, जो तुम महायुद्ध से तथा श्रेष्ठ आयुधों से भी भय को प्राप्त न हुए। हे दैत्य! मैं इस तुम्हारे युद्ध से प्रसन्न हूँ, मैंने चराचर त्रिलोकी में तेरे समान कोई वीर नहीं देखा। मैं तेरे विक्रम से प्रसन्न हूँ। जो तेरी इच्छा हो सो वर माँग, जो तेरे मन में हो वह अदेय वर भी मैं तुझको दूँगा।[2]

जलन्धर ने कहा, हे भाव के ज्ञाता करूणामय! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो तो यह वर दो कि आप मेरी भगिनी के सहित तथा कुटुम्ब के सहित मेरे घर में निवास कीजिए।[3] भगवान् विष्णु ने तथास्तु कहा और अपने गणों, लक्ष्मी एवं देवताओं के साथ जलन्धर के पुर गये। यह देखकर जलन्धर अति प्रसन्न हुआ।[4]

जलन्धर और शिव युद्ध

दैत्यराज जलन्धर के धर्म राज्य में कोई रोगी, दुःखी और दीन दिखाई नहीं देता था।[5] इस प्रकार उस महाअसुर के धर्मपूर्वक शासन करने पर भ्रातृभाव से देवता दुःखी होकर शिव जी शरण में गये और भगवान् शंकर को ध्यान करके स्तुतियों से प्रसन्न करने लगे।[6]

भगवान् शंकर ने देवकार्य हेतु नारद जी को बुलाकर जलन्धर के पुर में भेजा। जलन्धर ने परमशक्ति से नारद मुनि को श्रेष्ठ आसन देकर विधिपूर्वक पूजन कर आगमन आदि के विषय में प्रश्न किया। नारद जी बोले—हे सब दानव और दैत्यों के अधिपति महाबुद्धिमान

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—17 : 13
2. वही—17 : 36-39
3. वही—17 : 41
4. वही—17 : 43-44
5. वही— 17 : 50
6. वही—18 : 1

जलन्धर! तुम धन्य हो, तुम्हीं रत्नों के भोक्ता हो। ऐसा कहकर उन्होंने अपने आगमन का कारण बतलाया। हे दैत्यराज मैं अपनी इचछा से कैलाश पर्वत पर गया, जहाँ दश सहस्र योजनों में कल्पवृक्ष का वन है। वहाँ सैकड़ों कामधेनु है। उस परम शोभा सम्पन्न स्थान पर पार्वती सहित सर्वांग सुन्दर शिव को देखा।[1] वहाँ की समृद्धि देखकर मैं तुम्हारी समृद्धि देखने चला आया। यहाँ पर मैंने देखा कि द्युलोक, पृथ्वी लोक और पाताल लोक के जो दिव्य रत्न हैं, वे सब तुम्हारे घर विद्यमान् हैं।[2] परन्तु हे जलन्धर! यहाँ कोई स्त्री रत्न नहीं है, इस कारण तुमको स्त्री रत्न ग्रहण करना चाहिए—

'जायारत्नं महाश्रेष्ठं जलन्धर न ते गृहे।
तदानेतुं विशेषेण स्त्रीरत्नं व त्वमर्हसि॥
यस्य गेहे सुरत्नानि सर्वाणि हि जलन्धर।
जायारत्नं न चेतानि न शोभन्ते वृथा ध्रुवम्॥'[3]

अर्थात् जिसके यहाँ सम्पूर्ण रत्न हो और स्त्रीरत्न न हो तो उनकी शोभा नहीं होती, और सब व्यर्थ विदित होते हैं।

ऐसा सुनकर काम से व्याकुल होकर दैत्यराज जलन्धर ने नारद जी को नमस्कार कर पूछा कि इस समय श्रेष्ठ जायारत्न कहाँ है, जहाँ कहीं भी होगा मैं उसे अवश्य ले आऊँगा। नारद जी ने कहा, अति पवित्र, सब समृद्धि सम्पन्न कैलाश पर्वत पर योगी का रूप धारण किये हुए शंकर विद्यमान है, उनकी भार्या बड़ी मनोहर और सब लक्षणों से लक्षित है—

'तस्य भार्या सुरम्या हि सर्वलक्षणलक्षिता।
सर्वांग सुन्दरीनाम्ना पार्वतीति मनोहरा॥'[4]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—18 : 25, 28
2. वही—18 : 37
3. वही—18 : 39-40
4. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—18 : 45

ऐसा कहकर नारद जी चले गये।

इसके पश्चात् भगवती पार्वती का स्मरण कर जलन्धर ने काल के अधीन होने से नष्ट बुद्धि होकर सैंहिकेय नामक दूत को शिवा को माँगने के लिए शिव के पास भेजा। सैंहिकेय ने जाकर जलन्धर का सन्देश सुनाया—

'अहं रत्नाधिनाथोस्मि सा च स्त्रीरत्नसंज्ञिता।

तस्मान्ममैव सा योग्या नैव भिक्षाशिनस्तव॥' [1]

अर्थात् मैं रत्नों का अधिपति हूँ और वह स्त्री रत्न संज्ञक है। इस कारण वह मेरे योग्य है, तुम भिक्षावृत्ति करने वाले के योग्य नहीं है। राहु के ऐसा कहते ही भगवान् शूलपाणि के भ्रूमध्य से व्रज के समान भयंकर शब्द वाला एक पुरुष प्रकट हुआ। उसने राहु नामक जलन्धर के दूत को खाना चाहा, पर शरणागत वत्सल भगवान् शिव के मना करने पर छोड़ दिया।

राहु नामक दूत ने जलन्धर के पास जाकर यथास्थिति का वर्णन किया। दूत की बात सुनकर वह दैत्येन्द्र बहुत क्रोधित हुआ और सेना सज्जित करने की आज्ञा दे दिया।[2] महाप्रतापी सिन्धु पुत्र इस प्रकार आज्ञा देकर कोटि-कोटि दैत्यों के साथ युद्ध के लिए निकला। उसी समय जलन्धर का मुकुट खिसक कर पृथ्वी पर गिर गया।[3] इसी प्रकार और भी भयदायक अपशकुन हुए।

दैत्यराज जलन्धर अपनी सेना लेकर कैलाश पर्वत के समीप पहुँचा। पर्वत को घिरा हुआ जानकर शिव जी ने क्रोधित होकर नन्दी आदि गणों को युद्ध करने की आज्ञा दी।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—19 :27
2. वही—20 : 8
3. वही—20 : 12

घमासान युद्ध होने लगा। मरे हुए दैत्यों को शुक्राचार्य जिलाने लगे।[1] यह जानकर शिव जी अत्यन्त क्रोधित हुए और उनके मुख से एक कृत्या निकली।[2] वह युद्धभूमि में शुक्राचार्य को अपनी योनि में गुप्त करके आकाश में अन्तर्धान हो गयी।[3] दैत्यों की सेना छिन्न-भिन्न होने लगी। जलन्धर की ओर से शुम्भ, निशुम्भ और कालनेमि आदि सेनापतियों तथा भगवान् शंकर की ओर से नन्दी, गणेश और स्वामी कार्तिकेय के बीच घोर संग्राम होने लगा।[4]

इस घोर युद्ध में जलन्धर के परिधि से घायल होकर वीरभद्र के पृथ्वी पर गिर जाने से, शिव जी के गण शंकर को पुकारते हुए रणभूमि छोड़कर उनके निकट चले गये।[5] इसके बाद शिव जी अपने महावीर गणों के साथ लेकर वृषभ पर आरूढ़ होकर हंसते हुए संग्राम भूमि में आये। शिव जी के आने पर उनके गण पुनः उत्साहित होकर रणभूमि में आ गये। एक बार पुनः घोर संग्राम आरम्भ हो गया। जलन्धर ने ललकार कर शिव जी पर प्रहार किया। शिव और जलन्धर में परस्पर युद्ध होने लगा। युद्ध में एक बार उसने अप्सराओं एवं गन्धर्वों के नृत्य गान से शिव तथा शिवगणों को मोहित कर दिया और स्वयं काम मोहित होकर रुद्र के रूप में पार्वती के समीप गया। पार्वती जब रुद्र जानकर सखियों समेत उसके पास आयी तो वह स्खलित हो गया।[6] पार्वती उसे दानव जानकर अन्तर्धान हो गयी। वह पुनः युद्ध भूमि में चला गया।[7]

उसी समय पार्वती ने भगवान् विष्णु का स्मरण किया और उनसे कहा कि मेरी आज्ञा

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—20 : 49
2. वही—20 : 52
3. वही—20 : 55
4. वही—21 : 8
5. वही—21 : 51
6. वही—22 : 41
7. वही—22 :43

से तुम जलन्धर की पत्नी का पातिव्रत धर्म नष्ट करों, इसमें अब दोष न होगा। अन्यथा वह दैत्य मारा न जायेगा। भगवान विष्णु ने अपनी माया से जलन्धर की पत्नी वृन्दा को विमोहित कर उसके पति का रूप धारण कर बहुत दिनों तक रमण किया। एक समय उसने उन्हें विष्णु रूप में देखा, तब क्रोधित होकर शाप दे दिया।[1] जो तुमने माया से दो राक्षस दिखाये थे, वही दोनों राक्षस तुम्हारी भार्या का हरण करेंगे और वानर तुम्हारी सहायता करेंगे।[2] इस प्रकार कहकर वृन्दा अग्नि में प्रवेश कर पार्वती में लीन हो गयी।[3]

भगवान् शंकर तथा जलन्धर का युद्ध परस्पर चलता रहा। अन्त में भगवान् शंकर महा क्रोध कर प्रलयकाल की अग्नि के समान महा भयंकर हो गये।[4] क्रोधित भगवान् शिव ने चक्र सुदर्शन को उसके ऊपर प्रहार किया। उसके वेग से भूमि प्रज्वलित होने लगी और बड़े नेत्रों वाला उसका शिर बड़े वेग से उस चक्र ने हरण कर लिया।[5] उसके शरीर से तेज निकल कर शिव जी के शरीर में प्रवेश कर गया। जैसे वृन्दा का तेज गौरी के शरीर में प्रवेश कर गया।[6]

शंखचूड़ और शिव युद्ध

शंखचूड़ कश्यप जी की पत्नी 'दनु' के वंश से उत्पन्न विष्णु भक्त 'दम्भ' का पुत्र था। इसे दानवेन्द्र दम्भ ने भगवान् विष्णु से वरदान में माँगा था। भगवान् विष्णु ने इसे अपना भक्त और देवताओं मेंअजेय होने का वर दिया था।[7] यह पूर्वजन्म में श्रीकृष्ण का पार्षद सुदामा नाम का गोप था। यह अत्यन्त तेजसी एवं पराक्रमी था। उसने तपस्या करके ब्रह्मा से देवताओं से

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—23 : 39-40
2. वही—23 :44-45
3. वही—23 :46
4. वही—24 : 23
5. वही—24: 46-47
6. वही—24 :52
7. वही—27 : 28

अपराजेयता एवं भगवान् श्री कृष्ण का दिव्य कवच प्राप्त किया था।[1] इसका विवाह धर्मध्वज की परम तपस्विनी कन्या तुलसी से हुआ था। शंखचूड से विवाह के पूर्व तुलसी ने अपने पति के ज्ञान पौरुष आदि की सम्यक् परीक्षा लेते हुए कहा था कि विद्या का प्रभाव जानने के लिए मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी, स्वामी की परीक्षा करके ही स्त्रियों को स्वामी का वरण करना चाहिए।[2]

उसी समय ब्रह्मा जी वहाँ पहुँच करके शंखचूड से कहा कि विवाद त्याग कर तुलसी के साथ गान्धर्व विधि से विवाह करो; क्योंकि निश्चय ही तुम पुरुषों में रत्न हो और तुलसी स्त्रियों में रत्न है। चतुरों का चतुरों के साथ संगम गुण वाला होता है। शंखचूड, तुलसी के साथ विवह करके, अपने पिता के पास गया। उसके बाद असुरों के कुलगुरु शुक्राचार्य ने शंखचूड को आशीर्वाद देकर परस्पर सम्मति करके दानव और असुरों की अधिपत्यता में अभिषेक किया।[3] राज्याभिषेक के बाद शंखचूड इन्द्रपुरी में जाकर देवताओं को परास्त करके त्रिलोकी पर अपना अधिकार कर लिया।[4]

शंखचूड के राज्य में कोई दुखी नहीं था। केवल देवता ही उससे दुखी थे।[5] ब्रह्मा विष्णु सहित सभी देवता शिव जी के पास जाकर अपनी विपत्ति का निवेदन किया और शंखचूड को मारकर देवताओं को सुखी करने की प्रार्थना की। भगवान् शिव ने उन्हें अभयदान दिया। भगवान् शंकर ने गन्धर्वराज चित्ररथ को दूत बनाकर शंखचूड के पास भेजा, उसने जाकर शंखचूड से कहा कि तुम देवताओं का राज्य और अधिकार दे दो, नहीं तो शिव जी के साथ

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—28 : 6
2. वही—28 : 32
3. वही—29 : 7
4. वही—29 : 23
5. वही—29 :29

युद्ध करना पड़ेगा।[1] शंखचूड ने चित्ररथ से कहा कि मैं देवताओं का राज्य न दूँगा। यह पृथ्वी वीरभोग्या है, मैं देवताओं के पक्षपाती रुद्र से युद्ध करँगा।[2]

दूत चित्ररथ ने सारा वृत्तान्त जाकर शिव जी को सुनाया। क्रोधित होकर शिव जी, वीरभद्र, गणेश, कुमार स्कन्द, भद्रकाली, नन्दी आदि गणों सहित चन्द्रभाग नदी के किनारे एक वट वृक्ष के नीचे स्थित हुए।[3]दूसरी ओर शंखचूड भी दूत के जाने के बाद दैत्यों, दानवों एवं असुरों की विशाल सेना लेकर शिव जी से युद्ध करने के लिए प्रस्थान किया। पुष्पभद्रा नदी के किनारे जाकर शंखचूड ने शिव जी की सेना को देखा।[4]

दानवेन्द्र शंखचूड ने शिव जी के पास अपना दूत भेजा और कहा कि शंखचूड आ गया है, आप की क्या इच्छा है? शिव जी ने दूत से कहा कि तुम अपने स्वामी से कहो कि देवताओं से बैर त्यागकर उनसे सन्धि कर लो। उनका राज्य उन्हें दे दो। प्राणियों का विरोध बुरा होता है। तुम कश्यप की सन्तान हो।[5]

शंखचूड को दूत ने भगवान् शंकर की सभी बातें सुनाई। शंखचूड ने युद्ध को ही उचित समझा। अमात्यों सहित विमान पर सवार होकर अपनी सेना को शिव जी से युद्ध करने की आज्ञा दी।[6] इधर शिवजी ने भी अपनी सेना और देवताओं को युद्ध के लिए प्रेरणा दी।[7] दोनों पक्षों के बीच भयानक युद्ध होने लगा। दानवों की मार से देवता भागने लगे। तब कुपित होकर

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—32 : 10-14
2. वही—32 : 18-19
3. वही—33 : 49
4. वही—34 : 25
5. वही—35 : 22
6. वही—36 : 2-3
7. वही—36 : 4

भगवान् शिव युद्ध करने लगे और दैत्यों की सेना का संहार करने लगे।[1]

इधर काली भी अलग-अलग दैत्यों का नाश कर उनका रक्तपान कर रही थी। सैकड़ों अश्व, हाथियों, दानवों को काली चबाने लगीं।[2] अपनी सेना का इस प्रकार संहार देखकर स्वयं शंखचूड युद्ध करने को तैयार हुआ। उसके युद्ध से हाहाकार मच गया। शंखचूड ने स्वयं काली के साथ युद्ध किया। काली ने शंखचूड पर ब्रह्मास्त्र आदि छोड़ा किन्तु वह बच गया। काली और शंखचूड का भयंकर युद्ध हुआ, किन्तु आकाशवाणी से ज्ञात हुआ कि वह केवल शिव से बध्य है।[3]

आकाशवाणी से काली द्वारा अबध्य जानकर शिव जी वृषभ पर सवार होकर युद्धभूमि में जाकर खड़े हुए। उन्हें देखकर शंखचूड ने रथ से उतर कर प्रणाम किया।[4] फिर विमान पर चढ़कर कवच पहन कर धनुष उठाया, युद्ध करने लगा। उस समय सौ वर्ष तक शिव और दानव का युद्ध होता रहा, परस्पर भिन्न अस्त्रों से वे दोनों लड़ते रहे। वीरभद्र और नन्दी ने अनेक वीरों को मार गिराया। बचे हुए दैत्य भागने लगे।[5]

अपनी सेना को भागते हुए देखकर दानवेन्द्र को बड़ा क्रोध हुआ। वह मेघवत बाणों की वर्षा महादेव पर करने लगा। तब महाबली महेश्वर ने उसका वध करने के लिए अपना त्रिशूल उठाया। उसका तेज सहन करना, तेजस्वियों को भी कठिन था। अतः आकाशवाणी ने उसे चलाने का निषेध किया। आकाशवाणी ने कहा आप वेद मर्यादा का नाश न करें। इसके पास जब तक विष्णु का कवच तथा पतिव्रता स्त्री है तब तक इसको जरा और मृत्यु नहीं है।[6]

---

1. शि० पु०, रु० सं०, यु० खं०—37 : 6
2. वही—37 : 8-9
3. वही—38 : 35
4. वही—39 : 6
5. वही—40 : 45
6. वही—40 : 12-13

आकाशवाणी को सुनकर शिव जी ने त्रिशूल रोक लिया। फिर शिव जी की इच्छा से विष्णु जी वहाँ आये। उन्होंने बाह्मण का वेश धारण करके भिक्षा में शंखचूड का कवच माँग लिया। सत्यभाषी दानव राज ने उसी समय प्राणों के समान प्यारा कवच ब्राह्मण को दे दिया।[1] फिर विष्णु जी शंखचूड के रूप में तुलसी के प्रति गमन किया। माया विशारद हरि ने देवकार्य की सिद्धि के निमित्त उससे अपनी शक्ति से विहार किया।[2] उसी समय शिव जी ने शंखचूड को मारने के लिए प्रज्वलित शूल ग्रहण किया, क्षणमात्र में शिव जी के हाथ से छूटा हुआ वह विजय नामक शूल शंखचूड के ऊपर गिर कर उसे भस्म कर दिया।[3] इस प्रकार शंखचूड मृत्यु को प्राप्त हो, शाप से मुक्त होकर अपने पूर्व रूप को प्राप्त हुआ।[4]

---

1. वही—40 : 19
2. वही—40 :21
3. वही—40 : 28
4. वही—40 : 32

अमूर्त भावों का मानवीकरण

जिसकी मूर्ति, प्रतिभा अथवा साक्षात्स्वरूप न हो, उसे अमूर्त कहा जाता है। अमूर्त भावों का मूर्तिमान् शरीरधारी के समान वर्णन अमूर्त भावों का मानवीकरण कहलाता है।

शिव-पुराण में अनेक बातें प्रतीकों के माध्यम से कही गयी हैं। शिव शब्द स्वयं कल्याणवाची है। शिव तत्त्व के प्रतीक रूप में स्वयं भगवान् शिव हैं। शंकर शब्द का भी अर्थ है कल्याण करने वाला। विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि शिव एक भाव है उसे पुराणकार ने एक मूर्त देवता के रूप में कल्याण चाहने वालों की श्रद्धा का पात्र बनाया। साथ ही मानव की भाँति ही उसके स्वरूप की कल्पना करके दिव्य गुणों से विभूषित किया है।

भगवान् शिव नादमय हैं—

'शिवो नादमयः सत्यं नादश्शिवमयस्तथा।

उभयोरत्तरं नास्ति नादस्य च शिवस्य च॥'[1]

भगवान् शिव का एक नाम रुद्र है। यह संहार की प्रवृत्ति वाला है। इसकी व्याख्या करते हुए पुराणकार ने कहा है कि रुद्र दुःख वा दुःख के हेतु का नाश करने से वह रुद्र कहलाते हैं—

'रुद्रदुःखं दुःखहेतुर्वा तद्रावयति नः प्रभुः।

रुद्र इत्युच्यते सद्भिः शिवः परमकारणम्॥'[2]

वस्तुतः क्रोध की मूर्तिमान् अवस्था रुद्र है। यह संसार दुःखमय एवं अशान्ति युक्त है।

---

1. शि० पु०, रु० सं०, पा० खं०—48 : 28
2. शि० पु०, वा० सं०, पू० खं०—32:36

इन सांसारिक दुःखों अथवा उनके कारणों से मुक्ति दिलाने का गुरूतर दायित्व इस परम शक्ति को है। इस शक्ति के द्वारा व्यक्ति में प्रेरणा का संचार किया गया है जिसे प्रकट करके व्यक्ति महान् से महान् शत्रु का विनाश कर सकता है।

भैरव और वीरभद्र भगवान शिव के अव्यक्त क्रोध के व्यक्त रूप हैं। ये क्रोध के प्रतीक के रूप में प्रकट हुए हैं जिनका मनुष्य की भाँति वर्णन किया गया है। डाकिनी, शाकिनी, आदि अनन्त रूप में प्रकट शक्तियाँ पार्वती के मनोगत भाव क्रोध ही हैं। महाकाली दुर्गा पौरुष की प्रतीक हैं। इसी प्रकार तारक, शंखचूड आदि दैत्यों का विनाश, आसुरी शक्तियों पर दैवी शक्तियों के विजय का प्रतीक है।

शिव पुराण की रुद्र-संहिता के युद्ध-खण्ड में वर्णित अन्धकासुर का जन्म पार्वती द्वारा क्रीडा-वश शिव के नेत्रों को बन्द कर दिये जाने के फलस्वरूप होता है। यहाँ अन्धक कुछ और नहीं, अपितु अन्धकार का प्रतीक है। वही तसम, अर्थात् तामसी प्रवृत्ति जब संसार में फैल गयी तो उसके निवारणार्थ शिव ने पुनः उद्योग किया जिससे पुनः सात्त्विक प्रवृत्तियों का उतथान हुआ।

शिव पुराण में "माया" के विषय में पुराणकार ने कहा है कि, 'मा' लक्ष्मी कर्म भोग को, 'या' प्राप्त होती है अर्थात् जो कर्मानुसार लक्ष्मी को प्राप्त कराके मोहित करती है, इसी से उसे माया कहते हैं। अथवा 'मा' लक्ष्मी 'या'-ज्ञान भोग करने के निमित्त प्राणियों को प्राप्त होती है, इस कारण उसे माया कहते है।[1]

रुद्र-संहिता के सती-खण्ड में शिव के गण नायकों द्वारा मनुष्यों की ही भाँति स्वधा, स्वाहा, दक्षिणा, मन्त्र, तन्त्र आदि के ऊपर प्रहार की घटना भी अमूर्त भावों के मानवीकरण के अन्तर्गत ही है। स्वधा, स्वाहा, दक्षिणा, मन्त्र, तन्त्रादि भाव हैं। इनका देवियों एवं देवों के रूप.

---

1. शि० पु०, वि० सं० — 17 : 69

में चित्रण तथा उन पर प्रहार किया जाना मानवीकरण का उदाहरण है।[1]

इसी प्रकार शिव-पुराण में अन्य स्थलों पर भी प्रतीकों एवं संकेतों के आधार पर अनेक अमूर्त भावों का मानवीकरण किया गया है।

---

1. विडम्बिता स्वधा तत्र सास्वाहा दक्षिणा तथा।
मंत्रास्तंत्रास्तथा चान्ये तत्रस्था गणनाकैः॥ —शि० पु०, रु० सं० स० खं०—37 : 56

नवम अध्याय

परवर्ती कृतियों में शिव पुराण की उपजीव्यता

परवर्ती कृतियों में शिव-पुराण की उपजीव्यता

पौराणिक साहित्य वह महान् उत्स है जिसके अंचल में अनेक उत्ताल तरंगान्विता, स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूता पापशापनाशिनी, सुखसमृद्धिदायिनी, चिरसन्तप्त धरती के अन्तस्तल को शैत्यप्रदायिनी, निर्मलपुण्यदसलिलप्रवाहिनी सरिताओं ने अपना अस्तित्व प्राप्त करके जनमानस को तृप्त कर न केवल संस्कृत अपितु विश्व-साहित्य के विशालतम रत्नाकर को समृद्ध किया है। पौराणिक साहित्य आधुनिक भारतीय समाज का प्राण है ओर समग्र रसवत्ता का अभिन्न सहचर। पूर्वजों की अनन्त-काल-व्यापी विपुल और बहुरूप धरोहर में से चुन-चुन कर भावी पीढ़ियों के लिए उसने जो कुछ बचा कर रखा वह सब पौराणिक साहित्य में परिवेष्टित है। पौराणिक साहित्य से हमारा तात्पर्य उस गतिविधि से है जिसकी स्रोतस्विता में कई सहस्राब्दियों से कोई अन्तर नहीं आया है। कोई माने या न माने,कोई जाने या न जाने; परन्तु पौराणिक वाङ्मय के तात्कालिक उन्मेष,स्पन्दन, उद्गार और स्मृति में कोई अन्तर नहीं आया है। यह तथैव सजीव और जीवन्त है।

"भारतीय महाकाव्य-परम्परा के आर्ष ग्रन्थ, रामायण और महाभारत तथा संस्कृत के श्रेष्ठ महाकाव्य-कुमार सम्भव, रघुवंश, किरातार्जुनीय, शिशुपालबध और नैषधीयचरित पौराणिक विषयों के ही हैं। हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों में रामचरित मानस, आधुनिक युग के महाकाव्यों में कामायनी जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थ पौराणिक महाकाव्य-परम्परा की ही अमूल्य निधि हैं। इस प्रकार रामायण और महाभारत से लेकर अद्यावधि पौराणिक विषयों के महाकाव्यों की अक्षुण्ण परम्परा मिलती है।[1]

विज्ञान और बौद्धिकता की प्रधानता के इस युग में पौराणिक विषयों में महाकाव्य-

---

1. हिन्दी के आधुनिक पौराणिक महाकाव्य--डॉ० देवी प्रसाद गुप्त

परम्परा देखकर यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि पौराणिक आख्यानों, उपाख्यानों में केवल गप्पें तथा कल्पनायें ही नहीं हैं, वरन् उनमें हमारी सांस्कृतिक चेतना के समृद्ध स्वरूप की धरोहर भी है। तभी तो उन्हें महाकाव्य जैसे महत् काव्य रूप में इतिवृत्त-विधान के लिए ग्रहण किया जाता है।

भारतीय वांगमय में वेदों को शीर्ष स्थान प्राप्त है। वेदों के उपरान्त पुराण ही लोक प्रिय एवं उपादेय सामग्री से सम्पन्न ज्ञान-राशि हैं। भारतीय संस्कृति और साहित्य की,पुराण ग्रन्थ चिरन्तन निधि हैं। भारतीय मनीषा के विविधोन्मुखी चिन्तन और चेतना की जितनी सुन्दर, सुव्यवस्थित, सम्पूर्ण और सर्वग्राह्य अभिव्यक्ति पुराण-साहित्य में प्राप्य हैं, उतनी अन्यत्र दुर्लभ हैं। इस देश के जन-जीवन के सांस्कृतिक अभ्युदय का जितना भव्य विराट् और विशद चित्र अंकित करने में पुराण-लेखक सफल हुए हैं उतना भारतीय वांगमय के किसी रूप का कोई लेखक नहीं। पुराण-ग्रन्थ ज्ञानराशि केअनन्त स्रोत हैं। पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में ''अग्नि-पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोष कहें तो किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होगी।''[1]

पुराणकार ने मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को विवेच्य विषय माना है। पुराणों में ईवरीय गुणगान, राजकुल-यशोगान, प्रकृति-विधान और अलौकिक आख्यान के होते हुए भी, उनका मूल स्वर मानवतावादी है, क्योंकि सभी का लक्ष्य मानव की मंगल कामना है। राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक पुराण मुमूर्षु समाज को प्रेरणा-शक्ति, शिथिल एवं असंगत राष्ट्र को जागृति प्रदान करने वाले स्रोत हैं।

साहित्य-सृष्टाओं ने आरम्भ से ही उस अमूल्य ज्ञान-सामग्री का समुचित प्रयोग किया है। साहित्य की प्रमुख विधाओं यथा कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी काव्य, महाकाव्यादि में

---

1. आर्य संस्कृति के मूलाधार—पं०बलदेव उपाध्याय, पृ० 196

पुराणों के कथानकों, विचारों, परम्पराओं और शैलियों का प्रयोग हुआ है। काव्य के विभिन्न रूपों में महाकाव्य का प्रमुख स्थान है। महाकाव्य में युगजीवन-चेतना का विराट् चित्रऔर उच्च उद्घोष होता है। उसके शब्द-नाद में समाज के सांस्कृतिक सृजन और समुन्नयन के गीत की स्वर-लहरी होती है।

प्रस्तुत प्रसंग में परवर्ती कृतियों में शिवपुराण की उपजीव्यता पर विचार किया जायेगा।

साहित्य-स्रष्टा अपने काव्य की सामग्री का संकलन ज्ञान-राशि के अथाह सागर की जीवन्त चेतना से करता है। कथानक या कथावस्तु किसी भी कृति का अपरिहार्य अंग है या प्रमुख उपकरण है। पुराणोत्तर काल में साहित्यिक कृतियों के कथानकों की प्राप्ति के अथाह भण्डार पुराण ग्रन्थ रहे हैं। संस्कृत, हिन्दी ही नहीं, अपितु भारतीय अैर शिव-साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन करने पर यह मानने पर बाध्य होना पड़ता है कि उनका वृहद्अंश पौराणिक कथानकों पर अवलम्बित है। सभी साहित्यों के आदि प्राचीन कृतियों पर तो यह बात और भी संगत प्रतीत होती है। यदि हम अपने अध्ययन-क्रम की परिधि सीमित करके भी विचार करें अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की कृतियों का ही कथानक की दृष्टि से पर्यावलोच करें,तो भी हमें पौराणिक प्रभाव स्वीकार करना पड़ेगा। इसका एक कारण यह भी है कि पुराणों की कथायें महाकाव्य के लिए सभी गुणों से सम्पन्न हैं।संस्कृत-काव्याचार्यों द्वारा दिये गये महाकाव्य वस्तु-विषयक सभी निर्देशों का इन पर सफल निर्वह भी हो जाता है।

अब सस्कृत के जिन ग्रन्थों पर शिव पुराण की कथाओं, दर्शन आदि की उपजीव्यता ज्ञात होती है, उन पर विचार किया जायेगा।

कुमारसम्भव

देववाणी-शृंगार, कविताकामिनी के मधुर विलास, दीपशिखा महाकवि कालिदास कीअनुपमकृति कुमारसंभव में शिव-पार्वती के विवाह और उनके पुत्र स्वामी कार्तिकेय के

आविर्भाव तथा उनके द्वारा तारकासुर के वध की कथा का बड़ा ही रोचक एवं सरस वर्णन है। पार्वती हिमालय की कन्या हैं। नारद ने हिमालय से कहा कि इनका विवाह शिव से होगा। तभी से पार्वती शिव की सेवा करने लगीं। इधर देवताओं को ब्रह्मा ने बताया कि उनके शत्रु तारक को शिव और पार्वती का पुत्र ही युद्ध में मार सकता है। आगे इसमें काम द्वारा शिव जी की तपस्या के भंग करने तथा पार्वती के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के प्रयास और भस्म होने का वर्णन है। पार्वती को त्यागकर शिव के अन्यत्र गमन एवं पार्वती की घोर तपस्या और उससे शिव के प्रसन्न होने, पार्वती की तपोमयी निष्ठा देखकर उनको शिव द्वारा पत्नीत्वेन स्वीकार करने आदि का चित्रण है। अन्त में कुमार का जन्म और तारकासुर का बध वर्णित है।

कुमार सम्भव में कहीं वसन्त का स्निग्ध वर्णन है। कहीं विवाहित-सौख्यों का आनन्द प्रसार पा रहा है। कहीं प्रियतम की वियोग-जन्य ज्वाला चित्त को दग्ध और संसार को शून्य कर रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुमार सम्भव की कथावस्तु शिव पुराण से ही ली गयी है। यह भी हो सकता है कि महाकवि ने इसे अन्यत्र से भी पाला-पोसा हो, पर यह तो पूर्ण निश्चित है कि इसकी कथा का मुख्य स्रोत शिव पुराण ही है। इसमें वर्णित पार्वती का तप, काम-नाश, रति-विलाप, कुमार-जन्म आदि में शिव पुराण की कथा से पूर्ण साम्य है।

रघुवंश की कथाओं में से कुछ का बीज शिव पुराण में ही प्राप्त होता है। 'मालविकाग्निमित्रम्' में की गयी शिव की स्तुति तथा विश्व-प्रसिद्ध, नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में महाकवि कालिदास द्वारा की गयी अष्टमूर्ति शिव की स्तुति पूर्णतया शिव पुराण से प्रभावित है। 'ऋतु संहार' में वर्णित प्राकृतिक उपादानों में इस पुराण की छाया प्रतीत होती है।

संस्कृत के निम्नलिखित ग्रन्थों में भी शिव-पुराण की कथाओं एवं दर्शन आदि का

प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव ज्ञात होता है—

1. अवन्तिसुन्दरी	भारवि
2. किरातार्जुनीय	भारवि
3. शिशुपालवध	माघ
4. रामचरित	अभिनन्द
5. वृहत्कथामंजरी	क्षेमेन्द्र
6. नैषधीयचरित	श्रीहर्ष
7. शिवशक्तिसिद्धि	श्रीहर्ष
8. शिवलीलावर्णन महाकाव्य	नीलकण्ठ दीक्षित
9. विक्रमांकदेवचरित	विल्हण
10. राजतरंगिणी	कल्हण
11. भिक्षाटन	उत्प्रेक्षाबल्लभ गोकुलनाथ
12. पार्वती परिणय	वामनभट्ट बाण
13. त्रिपुरदहन	वासुदेव
14. पार्वतीरूक्मणीय	विद्यामाधव
15. मेघदूत	कालिदास
16. शिवमहिम्नः स्तोत्र	कुमारिल भट्टाचार्य
17.चण्डीशतक	बाणभट्ट

18. सौन्दर्यलहरी	शंकाराचार्य
19. कैलासशैलवर्णना	नारायण भट्ट
20. वरदराजस्तूत	अप्पय दीक्षित
21. शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव
22. कादम्बरी	बाणभट्ट
23. दशकुमारचरित	दण्डी
24. नलचम्पू	त्रिविक्रम भट्ट
25. नृसिंहचम्पू	संकर्षण
26. हरविलास	महेन्द्र विक्रम वर्मा
27. त्रिपुरदाह	वत्सराज
28. अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास
29. मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास
30. रघुवंश	कालिदास
31. ऋतुसंहार	कालिदास
32. कुमारसंभव	कालिदास
33. हरविजय	रत्नाकर

महाकवि भारवि परम शैव थे। यह बात किरातार्जुनीय के कथानक और अवन्तिसुन्दरी कथा के उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होती है।[1]

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० 23

हिन्दी के महाकाव्यकारों ने पुराणों के अखण्ड कथा भण्डार से सामग्री का संकलन किया है। पौराणिक कथावस्तु से सम्पृक्त महाकाव्यों के कतिपय नाम इस प्रकार हैं—रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, वैदेहीवनवास, रावण, पार्वती, रस्मि-रथी, अंगराज, उर्मिला, तारक-वध, सेनापति कर्ण, नल नरेश, उर्वशी आदि।

इन महाकाव्यों में पौराणिक वस्तु को कहीं तो मूल रूप में, कहीं स्रोत रूप में और कहीं तन्तु रूप में ग्रहण किया गया है। हिन्दी महाकाव्य के लेखकों ने पुराणों से कथावस्तु ग्रहण करके उनमें युगीन परिस्थितियों, समसामयिक वातावरण और तत्कालीन जीवनादर्शों के अनुरूप परिवर्तन तथा परिवर्धन किया है। राम के ही कथानक को लीजिए—रामचरित मानस, रामचन्द्रिका, साकेत, रावण, उर्मिला आदि काव्यों में एक ही कथा में तात्विक भिन्नता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो मानस के आरम्भ में ही स्पष्टतः कहा है—"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्..................।" यही स्थिति कृष्णकथा के विकास के सम्बन्ध में है। प्रियप्रवासकार के राधाकृष्ण मूलरूप में पुराण-ग्राह्य होते हुए भी समस्त पौराणिक कृष्ण कथाओं से भिन्न, कवि की जीवन्त कल्पना शक्ति के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

अकेले कर्ण के चरित्र को लेकर आधुनिक युग के तीन काव्यों रश्मि-रथी, अंगराज, सेनापति कर्ण में कथातत्त्व का भिन्न स्वरूप है। किन्तु महाभारत के मूल कथानक को किसी भी कवि ने नहीं लिया है। वास्तव में इसी में कवि-कर्म और कौशल निहित है।

यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि, हमारे कवियों की दृष्टि प्रायः प्रचलित कथानकों पर ही रही है। राम-सीता, राधा-कृष्ण और पार्वती-शिव आदि दैवी कथानकों पर अत्यधिक लिखा जा चुका है। अभी पुराणों में असंख्य अमूल्य कथा-रत्न विद्यमान हैं जिनमें कवि जीवन-संघर्ष के लिए निश्चित निर्देशों का अनुसंधानकर सकता है। इस दिशा में कविवर दिनकर के प्रयास प्रशंसनीय हैं। उनकी काव्य-कृतियों में रश्मिरथी, कुरुक्षेत्र, उर्वशी आदि निश्चय हीसाहित्य की चिरन्तन निधि बन गयी हैं। उनमें गूढ़ जीवन-सन्देश वर्तमान की

सांस्कृतिक परिस्थिति के अनुकूल है। आज आवश्यकता इस बात की है कि मनस्वी साहित्य-स्रष्टा और महाकाव्यकार पौराणिक कथाओं का अनुशीलन कर हिन्दी काव्य को नवीन उपलब्धियाँ प्राप्त करायें।

महाकाव्यों की सुव्यवस्थित परम्परा का विकास रामायण और महाभारत से होता है। भारतीय वांगमय के इन दोनों ग्रन्थों को पाश्चात्य विद्वानों ने एकमत से महाकव्य स्वीकार किया है। हिन्दी महाकाव्य की प्रायः सम्पूर्ण परम्परा का विकास रामायण और महाभारत के कथा-प्रसंगों, आख्यानों से हुआ है। इसलिए दोनों काव्यों को आर्ष कहा जाता है।

पौराणिक विषयों के महाकाव्यों की सुदीर्घ परम्परा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य में भी मिलती है। कालिदासकृत कुमारसंभव और रघुवंश, भारवि रचित किरातार्जुनीय, माघकृत शिशुपालवध, और श्रीहर्ष कृत नैषधीयचरित, संस्कृत के पाँचों सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य पौराणिक विषयों के ही हैं। इसी क्रम में प्राकृत भाषा में प्रवरसेन कृत सेतुबन्ध, वाक्पतिराज कृत गौडवहो और अपभ्रंश में स्वयं-भू-कृत पउमचरिउ के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी की पौराणिक महाकाव्य-परम्परा का आरम्भ महाकवि तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' से होता है। इसकी रचना का आधार 'नानापुराण निगभागम' है। रामचरित मानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। उसकी गणना विश्व के श्रेश्ठ महाकाव्यों में निःशंकोच की जा सकती है। वस्तुतः मानस महाकाव्यदर्शों की सर्वोत्कृष्ट परिकल्पना का मूर्तिमान् प्रतीक है।

मानस के अनन्तर रीति काल में मुक्तक रचना की प्रधानता होते हुए भी पौराणिक विषयों के अनेक प्रबन्ध काव्य लिखे गये हैं। जैसे—पद्माकर-कृत 'रामाश्वमेघ', गोविन्दसिंह कृत 'चण्डी चरित्र', और आचार्य केशवदास कृत 'रामचन्द्रिका'—ये सभी ग्रन्थ वर्णनात्मक काव्य है, जिनमें महाकाव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों का निर्वाह अवश्य किया गया है। किन्तु महाकाव्योचित गरिमा से ये शून्य हैं।

आधुनिक युग में हरिऔध जी के 'प्रिय प्रवास' से पौराणिक विषयों के महाकाव्यों की अविच्छिन्न परम्परा मिलती है जो निम्नांकित है—

1. प्रियप्रवास	अयोध्यासिंह उपाध्याय ''हरिऔध''
2. साकेत	मैथिलीशरण गुप्त
3. कामायनी	जयशंकर प्रसाद
4. नलनरेश	पुराहित प्रताप नारायण
5. श्रीरामचन्द्रोदय	रामनाथ ज्योतिषी
6. वैदेहीवनवास	हरिऔध
7. कृष्णायन	द्वारिका प्रसाद मिश्र
8. कुरुक्षेत्र	रामधारी सिंह 'दिनकर'
9. कैकेयी	केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'
10. जयभारत	मैथिलीशरण गुप्त
11. पार्वती	रामानन्द तिवारी
12. रश्मिरथी	रामधारी सिंह 'दिनकर'
13. दमयन्ती	तारादत्त हारीत
14. उर्मिला	बालकृष्ण नवीन
15. एकलव्य	रामकुमार वर्मा
16. सेनापति कर्ण	लक्ष्मीनारायण मिश्र
17.तारकबध	गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश

18. रामराज्य बलदेव प्रसाद मिश्र

19.उर्वशी रामधारी सिंह 'दिनकर'

20. प्रिय-मिलन नन्द किशोर झा

शिवपुराण की परवर्ती कृतियों की उपजीव्यता पर विचार करते समय कविकुल कुमुद-कलाधर, राघवेन्द्र पदारविन्द भ्रमर, महाकवि तुलीदास के ''रामचरित मानस'' पर शिव पुराण का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तुलसीदास जी की स्पष्ट घोषणा ही थी ''नानापुराणनिगमागमसम्मतयद्''। इस घोषणानुसार उन्होंने अन्य पुराणों की ही भाँति शिव पुराण से भी कथानकों को ग्रहण किया है। श्रीरामचरित मानस के बालकाण्ड में वर्णित सती मोह की कथा रुद्रसंहिता के सती-खण्ड से ली गयी प्रतीत होती है, क्योंकि वह सती-खण्ड हीभाषा-भेद से बालकाण्ड में वर्णित है। नारदमोह की कथा भी शिव-पुराण की रुद्र-संहिता के सृष्टि-खण्ड में वर्णित नारद मोह के प्रसंग से पूर्णतया मेल खाती है।[1]

दु:खमय जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग के एकीकरण के कुशल शिल्पी जयशंकर प्रसाद की अमर लेखनी प्रसूत अमर काव्य कामायनी पर भी शिव पुराण की छाया दिखाई पड़ती है। जयशंकर प्रसाद भगवान् शिव के अनन्य भक्त थे,जैसा कि उनके आदि छन्द से ही ज्ञात होता है—

हारे सुरेश, रमेश, धनेश, गनेश, शेष न पावत पारे।

पारे हैं कोटिक पातकी पुंज कलाधर ताहि छिनो लिखि तारे।

तारेन की गिनती सम नाति, सुजेते तरे प्रभु पापी विचारे।

पारे चले न विरंचिहु के जो दयालु हवै शंकर नेकु निहारे॥

1. प्रथम कविता लेखन कला, 1901, प्रसाद-ग्रंथावली

जयशंकर प्रसाद शैव दर्शन से पूर्ण रूपेण प्रभावित थे। इनके इस काव्य में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का व्यक्त स्वरूप प्राप्त होता है। 'कामायनी' में शिव पुराण की उपजीव्यता का स्पष्ट दर्शन श्रद्धा-मनु के पुनर्मिलन और आनन्द की खोज में भ्रमण के अवसर पर प्राप्त होता है।

'कामायनी' महाकाव्य की कथावस्तु का अन्तिम अंश प्रसाद जी की दार्शनिक तत्त्व-चिन्तक दृष्टि पर निर्मित हुआ है। यहाँ ऐतिहासिक तत्त्वों का प्राय: लोप है। इस कथा-भाग में मनु नटराज शिव को ताण्डव करते हुए देखते हैं। उन्हें इच्छा, ज्ञान और क्रिया के त्रिकोण की वस्तु-स्थिति का परिज्ञान होता है। कैलाश में ही इड़ा श्रद्धा पुत्र मानव और सारस्वत प्रदेश की प्रजा पहुँच जाती है और सब मिलकर संयुक्त परिवार के रूप में बस जाते हैं। मनु को अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है। इड़ा कहती है—

"हम एक कुटुम्ब बनाकर, यात्रा करने हैं आये।

सुनकर यह दिव्य तपोवन, जिसमें सब अब छूटजाये॥"[1]

इस मनोहर समागम को देखकर मनु कह उठते हैं—

"मनु ने कुछ कुछ मुस्काकर, कैलास ओर दिखलाया।

बोले, देखो कि यहाँ पर, कोई भी नहीं पराया॥"[2]

कैलास गिरि की जिस अनुपम शोभा एवं मानसरोवर के जिस दिव्य रूप का वर्णन पुराणों में हुआ है, उसी के अनुसार प्रसाद जी नेभी कामायनी में कैलास प्रदेश का चित्र अंकित किया है।[3] कामायनी में वर्णित दर्शन भी शिव पुराण के दर्शन के अनुकूल ही हैं।

---

1. कामायनी, आन्द सर्ग, प्रसाद-वाङ्मय, खण्ड 1
2. वही
3. हिन्दी के आधुनिक पौराणिक महाकाव्य—डॉ० देवी प्रसाद गुप्त, पृ० 71

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'कामायनी' भी शिव-पुराण का उपजीवी काव्य है।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि शिव-पुराण के विशाल कथा-सागर से विद्वान् कवियों तथा लेखकों ने जीवन ग्रहण कर अनेक प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन कर विश्व के विशाल साहित्य भण्डार के सम्बर्धन में अपना योगदान किया है।

दशम अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

शिव पुराण का उद्देश्य शिव की भक्ति का प्रचार करके लोगों में परमार्थ की भावनायें जागृत करना है। सभी पुराणों और शास्त्रों में शिव का चरित्र परम त्याग, तपस्या, परोपकार, दीन-वत्सलता के गुणों से युक्त चित्रित किया गया है। जहाँ अन्य देवताओं को वैभव युक्त अवस्था में दिखलाया है, वहाँ शिवजी को सर्वत्यागी, श्मशानवासी, महाकाल होने पर भी लोक कल्याणकारी रूप में प्रस्तुत किया है। समुद्र मन्थन की कथा में जहाँ देवराज इन्द्र ने ऐरावत, विष्णु ने लक्ष्मी तथा अन्य देवों ने उत्तम से उत्तम वस्तुओं को निजी उपयोग और उपभोग के लिये ग्रहण किया, वही करुणासागर भगवान् शिवजी ने सर्वनाशक कालकूट को स्वीकार करके सम्पूर्ण विश्व की रक्षा की। भगवान् शिव वस्त्र और उपासना के विषय में अन्य देवताओं की तुलना में बाघम्बर और रुद्राक्ष की मालाधारी तथा बिल्व पत्र एवं धतूरा जैसे सामान्य पूजा उपकरणों से ही सन्तुष्ट होने वाले हैं। इस प्रकार शिवजी का चरित्र परमोदार, परमार्थ परायण और अपरिग्रही प्रकट होता है। ऐसे आदर्श चरित्र देव को यदि सर्वोच्च स्थान देकर देव और दानव दोनों उनकी उपासना और भक्ति करें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?[1]

पुराण विद्या, वेद विद्या के समान अनादि है। दोनों ब्रह्मा से ही प्रादुर्भूत हैं। अन्तर केवल इतना है कि वैदिक वाङ्मय प्रथम उपलब्धि के रूप में ज्यों के त्यों स्थित है, परन्तु पुराणों की रक्षा शब्दों में नहीं अपितु अर्थ में की गई। हजारों वर्षों में भाषा और सामाजिक

1. शि० पु०—खं०—1, भूमिका पृष्ठ-15, अनु० श्री राम शर्मा आचार्य।

परिस्थितियों में अन्तर पड़ते जाने से पुराणों के वाह्य कलेवर और शैली में भी अन्तर पड़ता गया। उनमें नये-नये समानुकूल विषयों का समावेश होने से विशालकाय ग्रन्थ के रूप में पहुँच गये। इसका परिणाम यह हुआ कि उनमें अनेक बातों को दुहरा दी गई। उदाहरणार्थ "शिव पुराण की 'विद्येश्वर-संहिता' में ब्रह्मा-विष्णु का विवाद और उनके मध्य में ज्योतिर्लिङ्ग के प्रादुर्भाव का वर्णन किया गया है। पुन: 'वायवीय संहिता' में भी जैसे का तैसा वर्णन प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'शतरुद्र संहिता' के ज्योतिर्लिङ्गों के समान ही वर्णन अधिक विस्तार के साथ 'कोटिरुद्र संहिता' में भी दिया गया है। विभिन्न पुराणों में तो सृष्टि-उत्पत्ति, प्रलय, नरक आदि के वर्णन ज्यों के त्यों उन्हीं शब्दों में मिलते हैं।" इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि पुराणों का अध्ययन करने पर एक ही विषय और एक जैसे श्लोकों का बार-बार पढ़ने से भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

दूसरा विचारणीय विषय है—दूसरे देवता की निन्दा करना। 'विद्येश्वर संहिता' में शिव जी के गण भैरव ब्रह्मा को मारने को उद्यत होते हैं और एक सिर काट भी दिया। तब भगवान् विष्णु के दीनतापूर्वक निवेदन करने पर ब्रह्मा के प्राणों की रक्षा हुई। अनेक स्थलों पर जैसे दक्ष यज्ञ में, भगवान् विष्णु की पराभव का वर्णन है। यद्यपि ऐसे स्थलों पर पुराणकार का उद्देश्य शिवजी की सर्वोच्च महिमा और प्रभाव को दिखलाना है, पर इससे दूसरे सम्प्रदाय वालों के चित्त को चोट लगती है और फिर वे भी वैसी ही अनावश्यक बातें गढ़ कर शिव और शैव धर्म की निन्दा में प्रवृत्त हो जाते हैं।

ज्ञान-विज्ञान के अक्षय कोष शिव पुराण में "केवल धर्म, नीति, चरित्र की शिक्षा देने वाली कथायें और उपदेश नहीं है वरन् राजनीति-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, स्वर-शास्त्र, आयुर्वेद, वृक्ष विज्ञान, गृह निर्माण शास्त्र, मूर्तिकला आदि सैकड़ों विषय भरे बड़े हैं।"

निष्कर्ष यह है कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति के स्वरूप को यथार्थतः जानने के लिये पुराण का अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक आदि अनेक दृष्टियों से पुराण का विशिष्ट महत्त्व है। वेद हमसे बहुत दूर हट गये, पुराण हमारे समीप हैं, इसलिये पुराण का अध्ययन, अनुशीलन वर्तमान जगत् में नितान्त समुचित तथा उपयोगी हैं।

शिव पुराण सांख्य, वेदान्त, तन्त्र एवं योग का एक समवाय है। यह इनकी दार्शनिक पद्धति को आत्मसात् करके अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। सांख्य दर्शन के पंचविंशति तत्त्व शिव पुराण में अविकल रूप में वर्णित हैं। वेदान्त तो इस पुराण के दार्शनिक दृष्टिकोण का आधार है। शिव पुराण में कथांश को छोड़कर अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक बातें वेदों एवं उपनिषदों से लेकर कहीं अविकल रूप से और कहीं सम्प्रदाय के अनुसार सुधार कर उल्लिखित की गई हैं। ऐसा करने में कहीं-कहीं भाव की अस्पष्टता भी आ गई है, कहीं-कहीं जहाँ कि औपनिषदिक अथवा वैदिक बातें ली गई हैं, वहाँ 'इति श्रुतिः' अथवा 'श्रुतौ' आदि कह कर व्याख्या की गई है। शिव पुराण में न केवल दार्शनिक एवं धार्मिक बातें ही उपनिषदों से संगृहीत हैं अपितु उपनिषदों की कथायें भी इसमें सम्प्रदायानुसार सुधार कर वर्णित की गई हैं। 'केन उपनिषद्' की प्रसिद्ध 'यक्ष एवं विजयी देवों की कथा' समान रूप से कुछ साम्प्रदायिक परिवर्तन के साथ, शिव पुराण की शतरुद्र संहिता के षोडश अध्याय एवं उमा संहिता के एकोनपंचाशत् अध्याय में वर्णित की गई है।

शिव पुराण दार्शनिक विवेचन के लिए जहाँ पर कि वेदों एवं उपनिषदों का ऋणी है वहीं पर वह क्रियात्मक विवरण के लिए तन्त्रों (आगमों) का पूर्ण-रूपेण ऋणी है। जैसे शिव पुराण में तान्त्रिकी दीक्षा का विवेचन एकाधिक अध्यायों में किया गया है। तीनों प्रकार की

दीक्षा—शाम्भवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा एवं मान्त्री दीक्षा का विवेचन शिव पुराण में तन्त्रों (आगमों) के आधार पर ही किया गया है। शक्तिपात, गुरु, शिष्य, कुण्ड, मण्डप, वेदी आदि का वर्णन पर्याप्त विस्तार के साथ उत्तर वायवीय संहिता में किया गया है। यह वर्णन एवं विवरण अपने पूर्ण तान्त्रिक वैभव तथा विस्तार के साथ यहाँ इतनी सूक्ष्मता से है कि ग्रन्थकार उत्तर वायवीय संहिता का अधिकांश तान्त्रिक विधि-विधान का उपस्थापन करता है।

शिव पुराण ने भारतीय समाज को ऐतिहासिक साहित्य प्रदान किया है। इसमें अनेक राजाओं का तथा उनकी वंशावली का प्रसंग प्राप्त होता है। ऋषियों-मुनियों से सम्बन्धित ऐतिहासिक तत्त्व प्राप्त होते हैं। चौदह मन्वन्तरों, मनु के नौ पुत्रों का वर्णन तथा इक्ष्वाकु आदि के वंश का वर्णन किया गया है।

शिव पुराण में समस्त संसार एवं भारत वर्ष का भूगोल बड़े ही मार्मिक ढंग से वर्णित किया गया है। इस पुराण में हिमालय सहित अनेक पर्वत, गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों, ब्रह्माण्ड वर्णन, जम्मू द्वीप, सूर्यादि ग्रहों की स्थिति तथा स्कन्दादि सरोवरों का वर्णन करके प्रभूत ज्ञान प्रदान किया है।

शिव पुराण ने भारतीय समाज में ऐसे सरल, आडम्बर हीन, सर्वजन सेवित बिल्व पत्र—धतूरादि सर्व सुलभ सामग्रियों से पूज्य, देव-दनुज सभी के उपास्य आशुतोष भगवान् शिव जैसे देवता को प्रतिष्ठित किया, जिसकी आराधना के लिए भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। "ॐ नमः शिवाय" इस पञ्चाक्षर मन्त्र का कहीं भी किसी भी अवस्था में रहकर शिव की उपासना की जा सकती है। भारत की धर्म परायण जनता की आस्थाओं एवं निष्ठाओं के अनुरूप इस पुराण में मूर्ति पूजा और अवतारवाद का विशद वर्णन हुआ है किन्तु मूर्ति पूजा में किसी दिव्य सुसज्जित प्रतिमा की आवश्यकता नहीं है। बल्कि लिंग एवं बेर की उपासना ही

शिव को अभिप्रेत है। मूर्ति पूजा के विषय में पुराणकार का कहना है कि प्रतिमा पूजन ज्ञान व्यक्तियों के लिए आवश्यक नहीं है।

समाज में जैन-बौद्धों की स्थिरता एवं व्यापकता को दृष्टि में रखकर परम्पराओं के अनुयायियों ने अपनी कट्टरताओं और रूढ़वादिता को उदार तथा जन सुलभ बनाने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने ऐसे सुगम धर्म को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसमें परम्पराओं के आदर्श निहित थे और जो सर्व सामान्य के लिये ग्राह्य तथा उपयोगी था। पुराणों के इस युग धर्म ने बृहत् भारतीय समाज के अन्तर्गत विभिन्न जातियों एवं कबीलों के आचारों तथा संस्कारों को स्वायतकर नयी जीवन पद्धति को पुनः स्थापित किया। पौराणिक धर्म के प्रवर्तक मुनि-महात्माओं ने युग की आकांक्षाओं के अनुरूप वर्ण-संकीर्णता और जातीय भेद-भाव को मिटाकर नयी आचार संहिता को प्रचलित किया, जिसमें सवर्ण-असवर्ण तथा अनुलोम-प्रतिलोम विवाह पद्धति की वैधता को स्थापित किया गया। वाचस्पति गैरोला आगे लिखते हैं कि भारतीय संस्कृति के इतिहास में पौराणिक धर्म की यह नयी देन थी। ब्राह्मण समर्थित परम्पराओं के प्रवर्तन में धर्म सूत्रों तथा स्मृतियों ने वर्णाश्रम धर्मों में असमानता तथा विशेषाधिकारों का वर्ग-विभाजन करके जिस भेद बुद्धि की सृष्टि की थी, पुराणों ने उसको पराभूत कर मानव मात्र में समानता की स्थापना की।[1]

इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शिव पुराण वस्तुतः मानव धर्म का संस्थापक ग्रन्थ है। पुराण की इस नयी धर्म संहिता ने परम्परागत भेद बुद्धि के कारण शूद्रों, स्त्रियों, पतितों तथा दासों के वर्ण-विभेद को मिटाकर एक ऐसे उदात्त धर्म की स्थापना की,

---

1. भारतीय संस्कृति और कला—वाचस्पति गैरोला, पृ० 184।

जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। ''पुराणों की संस्कृति इस रूप में श्रेष्ठ है कि उसमें व्यक्ति स्वातन्त्रय पर बल दिया गया है और जातीय श्रेष्ठता एवं कुल की उच्चता की अपेक्षा योग्यता, बुद्धि तथा कार्य क्षमता के आधार पर प्रगति करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।''[1] पुराणों के इस स्तुत्य कार्य में शिव पुराण का महनीय योगदान है।

समानता और सद्भावना से सम्पोषित एवं प्रेरित करुणा सागर दीन बन्धु भगवान् शिव की पवित्र एवं लोकोत्तर कथाओं से परिपूर्ण शिव पुराण की इस सार्वभौम संस्कृति ने भावी भारत की राष्ट्रीयता का निर्माण और सर्व धर्म समन्वय के महान् आदर्श को स्थापित किया। इस प्रकार इस पुराण का धर्म, संस्कृति, दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में अनिवर्चनीय योगदान है।

---

1. वही—पृ० 185।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

संकेताक्षर सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

1. अग्नि पुराण : महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास
   सम्पादक—आचार्य बलदेव उपाध्याय
   प्रकाशक—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् 2003
2. अभिनव भारती : अभिनव गुप्त
   व्याख्याता—आचार्य विश्वेश्वर
3. अथर्ववेद : प्रकाशक—भारत-भारती ग्रन्थमाला, होशियारपुर, 1961 ई०
4. अमर कोष : अमर सिंह
   प्रकाशक—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, संवत् 1962
5. अष्टाध्यायी : पाणिनि
6. ऋग्वेद : वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1946 ई०
7. कथा सरित्सागर : सोमदेव
   प्रकाशक—रमानाथ मजुमदार लेन, कलकत्ता
8. कठोपनिषद् : प्रकाशक—वाणी विलास, संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी
9. कूर्म पुराण : मौर्र प्रकाशन
10. काव्य प्रकाश : आचार्य मम्मट
    व्याख्याता—आचार्य विश्वेश्वर
    प्रकाशक—ज्ञानमण्डल, लिमिटेड वाराणसी

11. काव्यादर्श : दण्डी

12. काव्यालंकार : रुद्रट

13. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : वामन

14. काव्य मीमांसा : राजशेखर
प्रकाशक—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1954 ई०

15. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र
प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

16. चन्द्रालोक : जयदेव

17. छान्दोग्य उपनिषद् : प्रकाशक—वाणी विलास संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी,

18. छन्दोमंजरी : व्याख्या—आचार्य राजदेव मिश्र
प्रकाशक—घनश्याम दास एण्ड सन्स, फैजाबाद

19. छन्दोऽलङ्कारसौरभम् : व्याख्याता—डॉ० राजेन्द्र मिश्र
प्रकाशक—अक्षयवट, इलाहाबाद

20. तर्कभाषा : आचार्य केशव मिश्र
व्याख्याकार—आचार्य तारिणांश झा

21. तत्त्व प्रकाश : अनन्तशयन प्रकाशन

22. तन्त्रालोक : अभिनव गुप्त
प्रकाशक—काश्मीर श्रीनगर ग्रन्थमाला

23. तैत्तिरीयोपनिषद् : व्याख्याता—आचार्य चुन्नीलाल शुक्ल
प्रकाशक—साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ

24. तैत्तिरीय संहिता : प्रकाशक—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, संवत् 1823

25. दशरूपक : श्री धनञ्जय एवं धनिक
प्रकाशक—साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, प्रथम संस्करण 1969 ई०

26. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धनाचार्य
व्याख्याता—आचार्य विश्वेश्वर
प्रकाशक—गौतम बुक डिपो दिल्ली,
प्रथम संस्करण 1952 ई०

27. नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र
प्रकाशक—परिमल पब्लिकेशन दिल्ली

28. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत
प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

29. निरुक्त : यास्काचार्य
प्रकाशक—साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ

30. पराप्रावेशिका : प्रकाशक—काश्मीर श्रीनगर ग्रन्थमाला, 1918 ई०

31. पुराणोत्पत्ति प्रसंग : मधुसूदन सरस्वती

32. प्रत्यभिज्ञा हृदय : प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, 1963 ई०

33. ब्रह्म पुराण : महर्षि व्यास
प्रकाशक—आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1895 ई०

34. ब्रह्म सूत्र : बम्बई प्रकाशन

35. भागवत पुराण : महर्षि व्यास
व्याख्याता—श्री राम शर्मा 'आचार्य'
प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली

36. महाभारत : महर्षि व्यास
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर

37. महाभाष्य : पतंजलि
प्रकाशक—साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ

38. मार्कण्डेय पुराण : मोर प्रकाशन, 1962 ई०

39. योग दर्शन : महर्षि पतंजलि
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर

40. रघुवंश : कालिदास
व्याख्याता—डॉ० सुरेन्द्र देव शास्त्री
प्रकाशक—साहित्य भण्डार, मेरठ

41. रत्नत्रय : श्रीरंग प्रकाशन, 1925 ई०

42. रस गंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ
टीका—नागेश भट्ट

43. लिङ्ग पुराण : बम्बई प्रकाशन, संवत् 1987

44. वक्रोक्ति जीवित : कुन्तक

45. वाराह पुराण : बम्बई प्रकाशन, संवत् 1987

46. वृत्तरत्नाकर : भट्टकेदार

47. श्वेताश्वेतरोपनिषद् : पुण्यपत्तन प्रकाशन, 1905 ई०

48. शिवसूत्रविमर्शिनी : प्रकाशक—काश्मीर ग्रन्थमाला, 1911 ई०

49. शैवमत : व्याख्याता—डॉ० यदुवंशी, पटना प्रकाशन, 1955 ई०

50. शैवसिद्धान्त परिभाषा : देवकोट्टे प्रकाशन, 1926 ई०

51. श्री शिव महापुराण : अनुवादक—पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र
प्रकाशक:खेमराज श्री कृष्णदास बम्बई

52. शिव पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर

53. शिव पुराण : सम्पादक—पं० श्री राम शर्मा 'आचार्य', ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली

54. श्री शिव महापुराण : अनुवादक—पं० रामलग्न पाण्डेय
प्रकाशक—सावित्री ठाकुर, प्रकाशन, वाराणसी

55. शृंगार प्रकाश : भोजराज
व्याख्याता—डॉ० वी० राघवन
प्रकाशक—श्री कृष्णपुरम् स्ट्रीट मद्रास, 1963 ई०

56. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता : प्रकाशक—भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट जुहू, मुम्बई 1990 ई०

57. सरस्वती कण्ठाभरण : भोजराज

58. साहित्य दर्पण : आचार्य विश्वनाथ
व्याख्याकार—डॉ० सत्यव्रत सिंह
प्रकाशक—चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1969 ई०

59. सांख्यकारिका : ईश्वर कृष्ण
व्याख्याकार—डॉ० राज किशोर सिंह

60. सर्वदर्शन संग्रह : बम्बई प्रकाशन, 1924 ई०

61. हरिवंश पुराण : सम्पादक—श्री राम शर्मा 'आचार्य'

हिन्दी-ग्रन्थ

1. आर्य संस्कृति के मूलधार : पं० बलदेव प्रसाद उपाध्याय
2. अरस्तू का काव्याशास्त्र : डॉ० नागेन्द्र
3. ध्वनि सम्प्रदाय का विकास : डॉ० शिवनाथ पाण्डेय
प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली, 1971 ई०
4. पुराण विमर्श : प्रकाशक—चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1965 ई०
5. ब्रह्म पुराण की भूमिका : तारिणीश झा
6. भविष्य पुराण एक अनुशीलन : डॉ० राम जी तिवारी
7. भारतीय संस्कृति और कला : वाचस्पति गैरोला,
प्रकाशक—उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
8. भारतीय दर्शन : दत्त एवं चटर्जी, पटना प्रकाशन, 1958 ई०
9. भारतीय दर्शन : डॉ० चन्द्रधर शर्मा
10. भारतीय दर्शन की रूपरेखा : प्रो० संगमलाल पाण्डेय
11. श्रीरामचरितमानस : गीता प्रेस, गोरखपुर
12. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : लेखक—वाचस्पति गैरोला
प्रकाशक—चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी
13. संस्कृत साहित्य का इतिहास : आचार्य बलदेव उपाध्याय
प्रकाशक—शारदा मन्दिर, वाराणसी 1968 ई०
14. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

English-Books

1.	A History of Indian Literature	: Winternitz
2.	A History of Indian Philosophy Volume V.	: S. N. Das Gupta, Cambridge, 1955
3.	The Development of Hindu Iconography	: J. N. Banerjee, Calcutta, 1951
4.	History and Philosophy of Lingayat Religion	: M. R. Sakhar
5.	History Ava Shiv Cults in Northern India	: B. S. Pathak
6.	History of Sanskrit Literature	: A. B. Keith

संकेताक्षर-सूची

अथर्व०	:	अथर्ववेद	पाशु०	:	पाशुपत दर्शन
आ० गृ० सू०	:	आपस्तम्ब गृहसूत्र	प्रत्यभिज्ञा०	:	प्रत्यभिज्ञाहृदय
उ० ख०	:	उत्तर खण्ड	म० पु०	:	मत्स्य पुराण
ऋ०	:	ऋग्वेद	यु० खं०	:	युद्ध खण्ड
ऐ० ब्रा०	:	ऐतरेय ब्राह्मण	रु० सं०	:	रुद्र संहिता
कै० सं०	:	कैलास संहिता	वा० पु०	:	वायु पुराण
को० रु० सं०	:	कोटिरुद्र संहिता	वि० सं०	:	विद्येश्वर संहिता
कु० खं०	:	कुमार खण्ड	विष्णु०	:	विष्णु पुराण
छा० उ०	:	छान्दोग्य उपनिषद्	श्वेता०	:	श्वेताश्वतरोपनिषद्
तन्त्रा०	:	तन्त्रालोक	शि० पु०	:	शि० पु०
तै० सं०	:	तैत्तिरीय संहिता	श० रु० सं०	:	शतरुद्र संहिता
पराप्रा०	:	पराप्रावेशिका	स० खं०	:	सती खण्ड
पू० खं०	:	पूर्व खण्ड	सृ० खं०	:	सृष्टि खण्ड
पा० खं०	:	पार्वती खण्ड	सा० द०	:	साहित्य दर्पण